ISSN-2231-3885 SAMVED

संवेद-73-75

वर्ष 06, अंक 02-04, फरवरी-अप्रैल 2014

ग्रामीण सरोकार की रचनाशीलता

(शिवमूर्ति पर एकाग्र)

अतिथि सम्पादक : पंकज शर्मा

सम्पादक

किशन कालजयी

ISSN-2231-3885 SAMVED

संवेद-73-75

वर्ष 6, अंक 2-4, फरवरी-अप्रैल, 2014

सम्पादक : **किशन कालजयी**
सहायक सम्पादक : **आशा**
सम्पादकीय सहयोग : **नीरू अग्रवाल**

प्रबन्ध सम्पादक : **कुमकुम कुमारी**

अतिथि सम्पादक : **पंकज शर्मा**

सम्पादकीय सम्पर्क
एफ-3/78-79
सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089
फोन : 011-27891526
samvedmonthly@gmail.com

आवरण : क्वालिटी प्रिंटर्स, दिल्ली-92

स्वामी, प्रकाशक व मुद्रक कुमकुम कुमारी द्वारा
बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089
से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिंटर्स, 556, जीटी रोड,
शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित।

इस अंक का मूल्य : पचहत्तर रुपये
वार्षिक सदस्यता : चार सौ रुपये
आजीवन : पाँच हजार रुपये

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

सम्पादन/संचालन : अवैतनिक/अव्यावसायिक
लेखकों के व्यक्त विचारों से सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं।
पत्रिका से सम्बन्धित समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अन्तर्गत विचाराधीन।

रचनात्मक विकास यात्रा का विलक्षण पड़ाव

शिवमूर्ति से मेरा परिचय जितना रहा है, उससे कहीं ज्यादा उनकी रचनाओं से रहा है। मैं शिवमूर्ति जी को व्यक्तिगत रूप से जानता तक नहीं था तब उनकी कई कहानियों का पाठ अपनी मित्र मण्डली में कर चुका था। उनकी रचनाएँ मुझे न जाने क्यों मन की गहरायी से जोड़ती थीं। जब संवेद ने भी शिवमूर्ति पर एक विशेषांक निकालने की योजना बनायी तब मुझे अहसास हुआ कि शिवमूर्ति की साहित्यिक स्वीकार्यता कितनी व्यापक है। मेरे लिए आज भी अन्दाजा लगा पाना सम्भव नहीं कि उनसे जुड़ने वालों की कितनी लम्बी तादाद है। अंक के संयोजन के सिलसिले में एक बार उनके घर लखनऊ जाना हुआ। मुझे उन पाठकों के पत्र चाहिए थे, जिनका उपयोग इस अंक में करना चाहता था। शिवमूर्ति जी से मैंने कहा कि कुछ पाठकों के पत्र मुझे दीजिए। वे मुझे एक कमरे में लेकर गए और कहा कि इनमें पड़े हैं पत्र, जो आपको काम लायक लगें निकाल लीजिए। कई-कई बण्डलों में पत्र भरे-ठूंसे हुए थे। पिछले तीस वर्षों में शिवमूर्ति जी पास आए सामान्य पाठकों के पत्रों की संख्या हजारों में थी।

यह जानकर ज्यादा आश्चर्य हुआ कि पत्र सिर्फ हिन्दी भाषा में ही नहीं थे बल्कि अँग्रेजी, उर्दू, मराठी, मलयालम और न जाने कितनी-कितनी बोलियों, भाषाओं और लिपियों में थे, जिसका थाह लगा पाने में मैं असमर्थ था। इसका कारण यह है कि शिवमूर्ति सिर्फ हिन्दी पट्टी में ही लोकप्रिय नहीं हैं बल्कि उनका दायरा कई अन्य भाषाओं की सीमा में प्रवेश करता है।

'संवेद' से पहले भी शिवमूर्ति जी पर कुछ विशेषांक केन्द्रित हो चुके है। 'मंच' का शिवमूर्ति विशेषांक जिसका सम्पादन वरिष्ठ कथाकार संजीव जी ने किया था और लमही का सुशील सिद्धार्थ जी ने। दोनों विशेषांकों के सम्पादक लेखन की दुनिया के ही नहीं, सम्पादन की दुनिया के भी उस्ताद हैं। सुशील सिद्धार्थ जी ने

बड़े ताम-झाम के साथ 'लमही' का संयोजन-सम्पादन किया। कुछ और पत्रिकाएँ भी हैं जिसमें 40-50 पृष्ठों में उन पर विशेष समग्रियाँ दी गयी थीं। इस तरह से देखें तो शिवमूर्ति जी पर केन्द्रित साढ़े तीन या पौने चार अंक अब तक केन्द्रित हो चुके हैं। उन सभी अंकों के कारण मेरे सामने दो बड़ी चुनौतियाँ थीं। संवेद के इस विशेषांक को उन अंकों की तुलना में बेहतर बनाया जाए या फिर उनसे कुछ आगे की बात की जाए। मेरे लिए बेहतर बनाने की गुंजाइश चुनौतीपूर्ण ही नहीं, कठिन भी थी। सो, मैंने बेहतर बनाने के उपक्रम में फँसना ठीक न समझा। मेरे लिए भिन्न करना बेहतर करने से ज्यादा सरल था। सो, मैंने सरल रास्ता अख्तियार किया। आगे बढ़ा, तब लगा कि मैंने सरल रास्ता चुनकर खुद अपने लिए कब्र खोद लिया है। नामवर जी ने एक बार अपने किसी वक्तव्य में कहा था, 'सीधी रेखा खींचना सबसे टेढ़ा काम है।' बहरहाल, टेड़ा हो या सरल, काम तो करना ही था। कुछ भिन्न सिर्फ इतना ही कर पाया कि पिछले जितने अंक थे, वे सब शिवमूर्ति जी पर केन्द्रित थे लेकिन संवेद का यह अंक शिवमूर्ति जी के व्यक्तित्व पर नहीं बल्कि उनकी रचनाशीलता पर केन्द्रित है।

शिवमूर्ति ग्रामीण जीवन पर लिखते समय किसी फैशन पैरेड का हिस्सा नहीं बनते हैं और नही किसी फार्मूले में कैद होते हैं। उन्होंने जैसा जीवन देखा, वैसा बुना। हर कहानी के बाद दूसरी कहानी उनके रचनात्मक विकास यात्रा का विलक्षण पड़ाव के रूप में दिखाई पड़ता है। रचनाशीलता और उनकी रचनात्मक विकास यात्रा की तरफ कम ही पाठकों तथा आलोचकों का ध्यान गया है। इसका बड़ा कारण यह भी रहा कि लोगों के बीच बार-बार यह प्रचारित-प्रसारित किया गया कि शिवमूर्ति उन लेखकों में हैं, जिन्होंने कम लिखा और अधिक शोहरत पायी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज तक साहित्य के इतिहास में जितने भी बड़े रचनाकार हुए हैं, उनकी महज तीन चार या ज्यादा से ज्यादा आधा दर्जन रचनाएँ ही याद आएँगी। बड़े-बड़े कथाकारों की रचनाएँ याद कीजिए— गुलेरी, प्रेमचन्द, प्रसाद, अज्ञेय, भुवनेश्वर मुक्तिबोध, शेखर जोशी, अमरकान्त, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव या चाहे और दूसरे अन्य रचनाकार। आपके स्मृति पटल पर अंकित वही चार-पाँच कहानियाँ होंगी। यही चार-पाँच कहानियाँ किसी कहानीकार को महत्वपूर्ण, बेहद महत्वपूर्ण बना देती हैं।

शिवमूर्ति जी ने कुल जमा आठ कहानियाँ लिखीं और वे सब हिन्दी कहानी के इतिहास में दर्ज हो चुकी हैं।

एक और बात उन्हें अन्य रचनाकारों से अलग करती है। कुछ रचनाकारों की रचनाएँ तो शुरुआत में बेहद चर्चित और प्रासंगिक होती हैं, पर बाद के दिनों में उनकी रचनाओं का ताप कम होता जाता है। शिवमूर्ति जी के रचनात्मक विकास का क्रम निरन्तर जारी है। उनकी बाद के दिनों में आयी दो कहानियाँ 'बनाना रिपब्लिक' और 'ख्वाजा ओ मेरे पीर' उनकी पिछली चर्चित कहानियों 'तिरिया चरित्तर' 'भरतनाट्यम', 'सिरी उपमा जोग', 'अकाल दंड', केशर कस्तूरी से आगे की रचना है।

इस अंक में ब्रजेश यादव का एक आलेख है 'शिवमूर्ति के बहाने हिन्दी समीक्षा पर एक बहस'। वास्तव में यह लेख कथा समीक्षा की पोल तो खोलता ही है, साथ में उनके रचनात्मक विकास यात्रा के पड़ावों की खोज खबर भी लेता है। वागीश शुक्ल का आलोचनात्मक आलेख आलोचना की अकाल बेला में रिमझिम-रिमझिम बारिश की फुहार-सा है। अपनी पैनी निगाहों से वागीश जी शिवमूर्ति की रचनाशीलता हर कोना झांक आये हैं। कहीं सुखद तो कहीं-कहीं सोनर की हथौड़ी वाला चोट भी। इसके अतिरिक्त अरुण होता, प्रमीला के.पी., चन्द्रकला त्रिपाठी, आदि के आलेख शिवमूर्ति की कहानियों के पाठ का नया बितान रचते हैं।

सम्पादक किशन कालजयी का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ? उन्होंने मुझे न सिर्फ इस अंक के संयोजन का कार्यभार सौंपा बल्कि तमाम बन्धनों से भी मुक्त रखा और सही अर्थों में काम करने की आज़ादी दी। आज़ादी देने का नतीजा यह हुआ कि एक तरह से किशन जी को 'संवेद के संविधान' में संशोधन करना पड़ गया। मुझे हर हाल में अंक को 90 से 100 पृष्ठों के बीच समेट देना था, लेकिन वह पहले 140 पृष्ठों तक गया, फिर 180, फिर 250 और अन्त आते-आते 266 पृष्ठों तक पहुँच गया। यदि लेखकों समीक्षकों ने इस हद तक सहयोग न दिया होता तो इस विशेषांक का इस रूप आ पाना सम्भव नहीं होता। जैसा भी बन पड़ा अंक आपके हाथ में है।

—पंकज शर्मा

अनुक्रम

सम्पादकीय

पंकज शर्मा : रचनात्मक विकास यात्रा का विलक्षण पड़ाव 4

मूल्यांकन कहानी

अरुण होता : नारी, दलित और सत्ता 9

वागीश शुक्ल : क्यों शाहिद ए गुल बाग़ से बाज़ार में आवे? 19

श्रीराम त्रिपाठी : स्त्रीत्व विमर्श की दास्ताँ 30

दीपक शर्मा : कथा-साहित्य के आन्तरिक आयाम 40

चन्द्रकला त्रिपाठी : दाम्पत्य के 'अद्‌भुत' और 'जीवटपूर्ण' की लय 45

ओम प्रकाश मिश्र : घीसू-माधो की तीसरी पीढ़ी की दास्तान 52

प्रांजल धर : संवेदनात्मक सघनता का सूक्ष्म आख्यान 72

क्षमा शंकर पाण्डेय : आपबीती और जगबीती 76

निशा नाग : अमानवीय राजनीति का विरोध बनाम 'कसाईबाड़ा' 82

विभा नायक : भावशून्यता और स्वार्थ का प्रपंच 87

अनुराग मिश्र : ग्रामीण जीवन का साहित्य 92

रानी कुमारी : प्रतिरोधी संस्कृति रचती दलित स्त्रियाँ 97

संस्मरण

अब्दुल बिस्मिल्लाह : पहले मैं शिवमूर्ति के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ 104

जयनन्दन : वो जो आपसे झुक कर मिलता होगा 108

डी.एम. मिश्र : तरह-तरह के शिवमूर्ति 115

भोलानाथ सिंह : रूतबे देख एक दहशत सी छा गई 119

मूल्यांकन उपन्यास

प्रमीला केपी : उपन्यास का समकाल रचते हैं शिवमूर्ति... 122

प्रफुल्ल कोलख्यान : हमारे समय का जरूरी परिचय 134

राम उदय कुमार : रोजगार की बलाओं के बीच आखिरी छलाँग 139

रामजी तिवारी : जुल्म को सहने वाली मानसिकता का तर्पण 148

रजनी दिसोदिया : नब्बे के बाद का भारत 154

टेकचन्द : प्रेमचन्द और रेणु की परम्परा का विस्तार 162

सरिता शर्मा : बहुस्तरीय साम्प्रदायिक हिंसा का तांडव 174

लता : ग्लोबल युग में किसान 178

जनार्दन : दो जातियों के बीच शह और मात 183

कपिलदेव निषाद : धार्मिक उन्माद और त्रिशूल 187

ब्रजेश कुमार : विचारधारात्मक संघर्ष की गाथा 190

पाठकीय प्रतिक्रिया 193

कहानी वाया फिल्म

आदित्य विक्रम सिंह : दर्शकों के जेहन में हमेशा मौजूद रहेगा 207

दिलीप शाक्य : स्त्री-अस्मिता के उभार पर पितृसत्ता का बर्बर प्रहार 211

साक्षात्कार

कथालोचक कथाकार का दुश्मन या कम्पटीटर नहीं 216
(**शिवमूर्ति** से **ब्रजेश यादव** की बातचीत)

डायरी के पन्ने

शिवमूर्ति : आशा और संघर्ष का प्रतीक : रोबिन आईलैंड 222

पुस्तक अंश

शिवमूर्ति : योगी भी भोगी भी 226

परिचर्चा

असग़र वजाहत : शिवमूर्ति को पढ़ना हमारे समाज को समझना है 231

इब्बार रब्बी : 'श' से शिवमूर्ति 'श' से शेक्सपीयर 231

दिनेश शुक्ल : जीवन का सत्य पिरोया है 233

अष्टभुजा शुक्ल : यथार्थ का लगाव लालित्य दिखाई पड़ता है 234

ओमा शर्मा : शिवमूर्ति की कहानियाँ पढ़कर आप निखर जाते हैं 235

राजकुमार गौतम : शिवमूर्ति से किसी का कोई मुकाबला नहीं 236

प्रेम कुमार मणि : आँचलिकता के तत्त्व की खूबसूरती 236

प्रेमपाल शर्मा : सच्चे मायने में जनता के कथाकार 238

भारत यायावर : ग्रामीण जीवन के सफल कथाकार 239

रजनी गुप्त : संवेदना और अनुभव की सघन दुनिया है 239

देवेन्द्र चौबे : उत्पीड़ित समाज का चित्रण 240

अल्पना मिश्र : बदलते भारत की तस्वीर 241

वैभव सिंह : अवध की ग्रामीण संस्कृति का गहरा अंकन 242

राहुल सिंह : इस समय के विरल किस्सागो 244

अच्युतानन्द मिश्र : निम्नवर्ग का नया सौन्दर्यशास्त्र रचते हैं 244

विशेष लेख

ब्रजेश यादव : शिवमूर्ति के बहाने कहानी समीक्षा पर एक बहस 246

अरुण होता

नारी, दलित और सत्ता

''मेरे मन में कहानी सर्वप्रथम सूत्र रूप में कौंधती है... कोई घटना, संवाद और दृश्य को देखकर... खासकर उसकी परिणति या मूलभूत वक्तव्य परिदृश्य के रूप में पहले उभरता है... फिर शुरू होती है उन परिदृश्यों को तारतम्य देने की प्रक्रिया... फिर बनावट की प्रक्रिया... कथा में विश्वसनीयता और स्वाभाविकता लाने का कार्य... प्रायः अन्तिम ड्राफ्ट में पहले ड्राफ्ट का पाँचवाँ भाग ही शेष रह जाता है... उसका बहुत कम अंश तलछट में रह जाता है।... मगर एक बात स्पष्ट कर देना चाहूँगा... चरित्र ही मेरी कहानी का आद्यन्त है, मेरी कहानियाँ मुख्यतः चरित्र प्रधान हैं। मेरी कहानियाँ में जो कुछ भी किया गया है सब कुछ उन चरित्रों को बताने के लिए... मेरी कहानियाँ उन चरित्रों के बारे में बतियाती हैं...।''

–शिवमूर्ति : मंच, जनवरी-मार्च 2011, पृ. 154

''काहे आपकी मती भरिष्ट भई है सिकरेटरी बाबू। ...हम गरीबन का भी दुनिया मा इज्जत-आबरू के साथ परा रहे देव। हाथ जोड़ित हैं। चले जाब।...उद्धार जाकर अपनी माई-बहिन का कर दाढी जार। उन्हीं को पढ़ा अपना यह 'परेमसागर'।''

–केशर कस्तूरी, अकालदण्ड, पृ. 38

''मन में सवाल उठने लगें-क्या मिला उसको उन्हें आगे बढ़ाकर? वे बेरोजगार रहते, गाँव में खेती-बारी करते। वह कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खेत में मेहनत करती। रात में दोनों सुख की नींद सोते। तीनों लोकों का सुख उसकी मुट्ठी में रहता। छोटे से संसार में आत्मतुष्ट हो जीवन काट देती। उन्हें आगे बढ़ाकर वह पीछे छूट गई। माथे का सिन्दूर

और हाथ की चूड़ियाँ निरन्तर दुख दे रही हैं उसे।''

–केशर-कस्तूरी, सिरी उपमा जोग, पृ. 67

आज का दौर भूमण्डलीकरण का है। पिछले तीन दशकों से भारतीय समाज को भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की आँधी ने बुरी तरह से प्रभावित किया है। भारतीय समाज बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद का शिकार बनता जा रहा है। बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था के चपेट में आकर अपनी जड़ों को उखाड़ने में भी पीछे नहीं रहा है। मानव-समाज में निरन्तर घुलते जहर की परवाह किए बिना आज का व्यक्ति पूँजी की दासता स्वीकार कर रहा हैं। बहुत पहले मार्क्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में कहा था कि अपने उत्पादों के बाजार की तलाश बुर्जुआ को पूरे भूमण्डल में दौड़ाती है। इसे अपना बसेरा सर्वत्र बनाना है, इसे सर्वत्र बसना है, इसे अपना सम्पर्क सर्वत्र फैलाना है। पूँजीवादी शक्तियों के इस मायाजाल को भूमण्डलीकरण के नाम से जाना गया। इसे मुहिम के तहत चलाया गया। अस्सी के दशक में शुरू हुई यह मुहिम नब्बे के दशक तक स्थापित हो चुकी थी। भूमण्डलीकरण, बाजार, निजीकरण, मुक्त बाजार, मुक्त पूँजी आदि के लुभावने नारे सर्वत्र गूँजने लगे। बड़े-बड़े दावे किये गये कि पूरे भूमण्डल में खान-पान, बोली-बानी, पहनावा-ओढ़ावा आदि में बड़ी भारी समानता होगी। पूरी वसुधा में एकता कायम होगी, सारे भेद मिट जायेंगे और खुशहाली तथा समृद्धि छाई रहेगी। परन्तु, सारे दावे झूठे साबित हुए। छद्म नारा बना लूटो, नहीं तो लूट लिये जाओगे। फलस्वरूप, लूट-पाट, अराजकता, शोषण-दमन, अत्याचार आदि को फलने-फूलने के ढ़ेर सारे अवसर मिले। भारतीय सन्दर्भ में देखें तो एक ओर 'मॉल-कल्चर' विकसित हुआ तो दूसरी ओर जीवन की आधारभूत सामग्री से वंचित आमजन अभिशप्त जिन्दगी बिताने के लिए विवश हो गया। जीवन की स्थितियाँ तेजी से बदलने लगी। द्रुत गति से परिवर्तित होने वाले समय और समाज की नब्ज को पहचानने का प्रयास समकालीन साहित्य करता है। यह प्रयास समकालीन कहानी संसार में भी दिखाई पड़ता है। शहरीकरण, औद्योगीकरण, महानगरीय जीवन स्थितियों के दुष्प्रभावों को समकालीन हिन्दी कहानी में बड़ी मात्रा में चित्रित किया गया और आज भी किया जा रहा है। लेकिन, शहरी चमक-दमक से काफी दूर, उपेक्षित, अवहेलित, दमित, पीड़ित, निर्यातित जीवन बिताने वाले ग्रामीण समाज को जीवन्तता प्रदान करने वाले एक-आध कहानीकार ही नज़र आते हैं। इस दिशा में शिवमूर्ति का स्थान अद्वितीय है।

अक्सर आलोचकों की यह शिकायत रहती है कि हिन्दी कथा-साहित्य में गाँव अनुपस्थिति रहता है। जो गाँव रहता भी है वह स्मृति के आधार पर रचा-बसा गाँव जहाँ न कोई जीवन है और न स्पन्दन। प्रेमचन्द और रेणु की विरासत में कथा-संसार में स्पन्दनहीन गाँव का होना बड़ी चिन्ता का विषय है। समकालीन कहानी के कुछ ही रचनाकारों ने भारतीय ग्राम समाज के चित्र अंकित किये हैं। इनमें से शिवमूर्ति, महेश कटारे, कैलाश बनवासी, पुन्नी सिंह, सत्यनारायण पटेल जैसे कुछ ही कहानीकारों के नाम लिये जा सकते हैं। दरअसल, समृतियों से वर्णित गाँव में जीवन्तता नहीं होती है। गाँव की स्थितियों से रचने-बसने के बाद, उनसे गहरी संपृक्ति के बाद गाँव का चित्रण हो तो वह विश्वसनीय

तथा जीवन्त प्रतीत होता है। कहना न होगा कि शिवमूर्ति भारतीय समाज की ग्रामीण संरचना में जीने, रचने-बसने, अंगों से निभाने, अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न होने के बाद ग्रामीण विसंगतियों, तनावों, अन्तर्द्वन्द्वों अन्तविरोधों, संघर्षों आदि को अंकित करने वाले कहानीकार हैं। इस दृष्टि से शिवमूर्ति अपने समकालीन कथाकारों से विशिष्ट हैं। यद्यपि पाठक शिवमूर्ति की कहानियों में प्रेमचन्द और रेणु के लेखन की ढेर सारी समानताएँ पाते हैं, खास करके ग्राम-जीवन के सन्दर्भों और परिप्रेक्ष्यों में तथापि शिवमूर्ति की कहानियों की लीक शिवमूर्ति की है। आर्थिक, सामाजिक असमानता और उसका विरोध प्रेमचन्द करते हैं तो शिवमूर्ति की कहानियों के पात्र भी करते हैं। अन्तर्विरोधी, विसंगतियों का यथार्थ चित्रण रेणु की तरह शिवमूर्ति की कहानियों में भी हुआ है, लेकिन शिवमूर्ति ने इसे अपने ढंग से किया है। उन्होंने अपने लेखन के लिए जितना महत्त्व अनुभूति की प्रामाणिकता को दिया है उतना विचार को नहीं दिया। वैयक्तिक स्तर पर तरुणावस्था से आर्थिक संकट, आजीविका जुटाने के लिए सिलाई सीखी, बीड़ी बनाई, कैलेंडर बेचा, बकरियाँ पाली, ट्यूशन पढ़ाया और भी बहुत कुछ करना पड़ा अर्थात् व्यापक जीवनानुभव हासिल है शिवमूर्ति को। उनकी संघर्षशीलता ने उन्हें कभी पराजित होने नहीं दिया है। संघर्षरत रचनाकार की कथा-दुनिया में उनके अनवरत संघर्ष के चित्र हमें प्रेरित करते हैं लड़ने के लिए, जूझने के लिए, अन्याय का विरोध और प्रतिरोध करने के लिए भी।

शिवमूर्ति का रचना-काल दीर्घ है। 1968-1969 ई. में प्रकाशित उनकी पहली कहानी 'पानफूल' से लेकर आजतक व्याप्त है। लगभग पैंतालीस वर्षों के रचना-समय में शिवमूर्ति की रचनाओं की सूची अति संक्षिप्त है। 1991 में 'केशर-कस्तूरी' शीर्षक कहानी-संग्रह के अलावा 'तद्भव' के अंक-24, (अक्टूबर-2011) में 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर' तथा 2013 में 'बनाना रिपब्लिक' कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। कुल दस कहानियाँ हैं। 'त्रिशूल', 'तर्पण' और 'आखिरी छलाँग' शीर्षक से तीन उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं। शिवमूर्ति की चर्चा करते समय संख्या कोई महत्त्व नहीं रखती है। परिमाण की अहमियत नहीं रह जाती है। उनकी एक-एक कहानी को जो ख्याति प्राप्त हुई है, विश्वसनीयता हासिल हुई है वह अन्यत्र दुष्प्राप्य है। 'कसाईबाड़ा' शीर्षक अकेली कहानी का उदाहरण पेश किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इस दौर में कोई कथाकार नहीं है जिसकी तुलना शिवमूर्ति से की जा सकती है। 'कसाईबाड़ा' के हजार मंचन हो चुके हैं। 'भारत नाट्यम्', 'कसाईबाड़ा', 'तिरिया चरित्तर' पर फिल्में बन चुकी हैं। संक्षेप में, शिवमूर्ति के रचना-संसार की लोकप्रियता, विश्वसनीयता और ग्रहणशीलता की तुलना उनके समकालीन हिन्दी रचनाकारों से नहीं की जा सकती है। इस रचनाकार को कथालोचन में अपेक्षित महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ।

शिवमूर्ति की कहानियों में उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन के बहाने सम्पूर्ण भारतीय ग्राम-जीवन की मुकम्मल तस्वीर पेश करती हैं। इनमें पिछले पैंतालीस-पचास वर्षों के भारतीय गाँवों की बदरंग तस्वीर तस्वीर आँकी गई है। भारतीय गाँवों के नये समाजशास्त्र को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक विघटन है तो सवर्णों का दलितों पर अत्याचार और दमन है। आजाद भारत के गाँव वाले खास करके दलित-पीड़ित वर्ग के लोग अपनी

आज़ादी के लिए तरस रहे हैं। विकास की योजनाओं के बहाने उन्हें गरीब से दरिद्र बनाकर छोड़ दिया गया। पीढ़ियों से दमित और शोषित वर्ग को और भी दमन तथा शोषण के चक्रव्यूह में समाप्त हो जाना पड़ता है। सामाजिक, आर्थिक स्तर पर शोषित होना पड़ा। यौन-शोषण का शिकार बनी निचले तबके की स्त्रियाँ। शिवमूर्ति ने गाँव के 'शूल, धूल और फूल' को उकेर कर उसे अपनी कहानियों में यथार्थ रूप से अंकित किया है।

शिवमूर्ति की कहानियों में अभिशप्त मानव-जीवन का दस्तावेज है तो उसे अभिशप्त बनाने वाली क्रूर, निर्मम, शोषक शक्तियों की चालाकियाँ और साजिशें भी। कुपोषण, बीमारी से ग्रसित जन-जीवन का आतंकवाद है तो अंधविश्वास और रूढ़ियों से पीड़ित आमजन का भी चित्रण हुआ है। दलित समाज और नारी-जीवन की त्रासदियों को शिवमूर्ति ने जिस सामर्थ्य और संवेदन के साथ चित्रित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। न्याय की गुहार लगाकर यह समाज व्यथित है, क्लान्त और शान्त भी। ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय की आकाँक्षा को शिवमूर्ति की कहानियाँ समर्पित हैं। न्याय न मिला तो शिवमूर्ति के पात्र भाग्यवादी बनकर बैठे नहीं रहते हैं। न्याय के लिए लड़ते हैं, जूझते हैं। जरूरी नहीं कि उन्हें इस संघर्ष से विजय मिले। जरूरी यह है कि वे संघर्षशील हैं। अपनी संघर्षशीलता जारी रही तो जीत होगी। आज नहीं तो कल। दमनकारी शक्तियों को जबाव देना महत्त्वपूर्ण होता है। ये शक्तियाँ नारी और दलित को न जीने देती हैं और न मरने। इनकी पहुँच लम्बी होती है। सत्ता इनके साथ होती है। अन्याय के आधार पर इनका वर्चस्व जारी रहता है। लेकिन, शिवमूर्ति के लड़ाकू पात्र चाहे जो हों 'बेचारे' नहीं हैं। न्याय और अधिकारों से वंचित होने पर भी सत्ता को चुनौती देते हैं। शक्ति सम्पन्न वर्ग को ललकारना भी वे नहीं भुलते। 'कसाईबाड़ा' की शनिचरी, 'तिरिया चरित्तर' की विमली, 'अकालदण्ड' की सुरजी, 'केशर-कस्तूरी' की केशर आदि तमाम स्त्री-पात्र अन्याय, दमन, शोषण का मुखर विरोध करती हैं। शनिचरी अपनी बेटी को वापस लाने के लिए गाँव के मुखिया के घर के सामने आमरण अनशन करती है। मुखिया ने उसे वैश्यावृत्ति के लिए बेच दिया था। मुखिया ने शनीचरी को जहर खिलाकर मार डाला तो 'लीडर' ने शनिचरी की जमीन धोखे से अपने नाम कर ली। सत्तालोलुप और धन के लोभी मुखिया और लीडर फिर भी आत्मीय न थे। लेकिन, 'तिरिया चरित्तर' की विमली की हालत अधिक गम्भीर है। उसका ससुर छल से उसका बलात्कार करता है। पंच के 'न्याय' के नाम पर गरम करछुल से दागकर उसे कलंकिनी बना देता है। अपनों की, आत्मीयों की शिकार बनती नारी की यातना की व्यथा-कथा प्रस्तुत करने में शिवमूर्ति की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। केशर की स्थिति भी कुछ हद तक विमली जैसी ही है। क्रूर, हिंसक और अमानवीय समाज-व्यवास्था में शिवमूर्ति की नारी कराहती-घुटती है पर ऐसी शोचनीय स्थिति में भी अपना प्रतिरोध व्यक्त करना नहीं भूलती-''मुझे पंच का फैसला मंजूर नहीं। पंच अन्धा है। पंच बहरा है। पंच में भगवान का 'सत' नहीं है। मैं ऐसे फैसले पर थूकती हूँ—आ-क-थू...। देखूँ कौन माई का लाल दगनी दागता है।'' (केशर-कस्तूरी, तिरिया चरित्तर, पृ.143) इसी तरह मनतोरिया की माई से रहा नहीं जाता है तो पंच की न्यायव्यवस्था का पर्दाफाश

करती है—''ई अन्धेर है। दगनी दागना है तो विसराम और बोधन चौधरी के चूतर पर दागना चाहिए। कोई काहे नहीं पूछता कि बोधन की बेवा भौजाई दस साल पहले काहे कुएँ में कूदकर मर गई थी। गाँव की औरतें मुँह खोलने को तैयार हो जाएँ तो विसराम की घटियारी के वह एक छोड़ दस 'परमान' दे सकती हैं। वही आदमी बेबस बेकसूर लड़की को दागेगा? और वही बोधन बड़का पग्गड बाँधकर दगनी की सजा सुनायेंगे? यही नियाव है? ई प्रचायत नियाव करने बैठी है कि अँधेर करने? (वही, पृ. 142) स्वातत्र्योत्तर भारत की न्याय व्यवस्था, प्रशासन हो या आज के न्यायालयों में यही सब होता आ रहा है। 'खाप पंचायत' के माध्यम से पंचों की मूर्खता को भी मानो मनतोरिया की माई बिल्कुल निडर होकर उजागर कर रही है। विसराम तथा पंच के आसन पर बैठे लोग सत्ता के प्रतीक हैं। सत्ता को चुनौती देना और उसकी काली करतूतों पर ऊँगली रखना आज की माँग है। इस कहानी में ही नहीं शिवमूर्ति की अन्य कहानियों में भी पुरुष को सत्ता के रूप में दिखाया गया है। अतः इन कहानियों को नारी-विमर्श या पुरुषवादी वर्चस्व की तुलना में सत्ता विमर्श की दृष्टि से पढ़ा जाना अधिक प्रासंगिक है। 'अकाल दण्ड' की सुरजी के साथ सिकरेटरी भला कौन-सा न्याय करता है। आज सारे नैतिक और आदर्श कहे जाने वाले मूल्यों का क्षरण हो रहा है। फलस्वरूप, तमाम विकृतियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इनका सामना नारी को ही करना पड़ता है। इनसे जूझना पड़ता है। उसके श्रम, संघर्ष और त्याग का कोई मूल्य नहीं देता मर्दवादी समाजतन्त्र। वर्चस्व की सत्ता से उसे बार-बार दग्ध होना पड़ता है। उसकी संवेदना को उसकी दुर्बलता समझकर पुरुष के भीतर बैठा पशु उसे नोचता जाता है। संवेदनहीनता के अभाव में, उसे विकट और भयानक स्थितियों से गुजरना पड़ता है। 'कसाईबाड़ा' की शनिचरी, 'अकालदण्ड' की सुरजी, 'सिरी उपमा जोग' की लालू की माई, 'तिरिया चरित्तर' की विमली, 'केशर कस्तूरी' की केशर आदि इसके उदाहरण हैं। ये सभी बाल-विवाहिताएँ हैं। इससे समस्याएँ अधिक घनीभूत होती हैं।

गाँव की मानसिकता को उघाड़ने में, सत्ता की पोल-खोल करने में शिवमूर्ति की नारी ही आगे आती है। सत्ता-तन्त्र की कारगुजारियों को उघाड़ने की उम्मीद बाल-विधवा बिरजा जैसी नारियों से ही है। विसराम का सारा भेद उसे मालूम है। विसराम ने अपने को निर्दोष साबित करने के लिए शिवाले पर होने तथा मछली के चिखना से अनजान होने का बहाना पंच के सामने करता है। इसका भेद बिरजा खोलना चाहती है। शिवमूर्ति ने लिखा है—''बाल विधवा बिरजा बैठी सोच रही थी अगर वह कह दे कि मछली का चिखना तो उसी से बनवाया था विसराम ने। शिवाले से लौटते समय लेते हुए आया था—तो? अभी सारी पंचायत उलट जाएगी...लेकिन तब उससे भी पूछा जा सकता है। कितने साल से वह विसराम का चिखना बनाती रही है? आगे से चिखना बनाना बन्द हो जाएगा सो अलग।'' (वही, पृ. 140)

'अकालदण्ड' की सुरजी ने केवल संघर्ष करती है बल्कि उसे विद्रोह करना भी आता है। वह बिल्कुल ठण्डे दिमाग से अपने अन्दर के क्रोध, आक्रोश को शान्त करती है जिसका वर्णन शिवमूर्ति के शब्दों में यूँ है—''अन्दर का दृश्य बड़ा भयानक है। सिकरेटरी बाबू

पलंग पर नंग-धडंग पड़े छटपटा रहे हैं। सुरजी ने हासिए से उसकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भागकर अन्धेरे में गुम हो गई है।'' (पृ. 59) नब्बे के आसपास लिखी इस कहानी में लेखक ने 'पोएटिक जस्टिस' का जो चित्रण किया है वह अत्यन्त मनोरम तो है ही, प्रतीकात्मक भी। वर्चस्व की सत्ता को पूर्णतया समाप्त करने की पहल नारी करती है। उस पहल को सफल भी नारी ही बनाती है। यह नारी निम्नवर्ग की है। उसमें गज़ब का आत्मविश्वास और दृढ़संकल्प है।

'कसाईबाड़ा' की शनिचरी नारी को 'प्रॉडक्ट' की तरह बेचने वालों के राज़ को उज़ागर करती है। 'आदर्श विवाह' के नाम पर युवतियों को खरीदने-बेचने वाले लोगों तथा सत्ताधारियों की खबर लेती है। प्रधानजी से कहती है-''मोर बिटिया वापस कर दे बेईमनवा, मोर फूल ऐसी बिटिया गाय-बकरी की नाई बेचि के तिजोरी भरै वाले! तोरे अंग-अंग से कोढ़ फूटि के बदर-बदर चूई रे कोढ़िया...'' (वही, पृ. 8) यह शनिचरी गाँधीजी के आमरण अनशन का रास्ता अपनाती है। अपने न्याय और अधिकार के लिए प्राण न्योछावर कर देती है।

सत्तासीनों की विकारग्रस्तता और स्वार्थपरता का खुलासा सुगनी भी करती है। वह शनिचरी से कहती है—''काकी, अपना प्रधान कसाई है। इसने पैसा लेकर हम सबको बेच दिया है। शादी की बात धोखा थी। हम सबको पेशा करना पड़ता है, रूपमती को भी। अमीरों के घर सोने भेजा जाता है। (वही. पृ.9) कहना न होगा कि सदियों से चला आ रहा 'प्रॉस्टीट्यूशन ट्रेड' (वैश्या व्यापार) से एक वर्ग खूब फल-फूल रहा है। नारी के स्वाभिमान, उसकी अस्मिता, उसके सम्मान के साथ खेलते हुए सत्तासीन वर्ग बहुविध शोषण करता आ रहा है। 'बनाना रिपब्लिक' शीर्षक कहानी को छोड़कर अन्य सभी कहानियों में शिवमूर्ति ने नारी-शोषण के तमाम सन्दर्भों को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। एक बात और भी है, शिवमूर्ति ने अपनी कहानी की दुनिया में नारी को नारी के रूप में, मनुष्य के रूप में चित्रित किया है। उनकी नारी हाड़-माँस की बनी हुई है। दोष-गुण सहित। इसलिए शिवमूर्ति की नारी पाठकों को विशेष रूप से 'अपील' करती है। प्रेरित करती है। जीवंत लगती है।

उपभोक्तावादी सभ्यता में परिवार, गाँव, समाज आदि पूरी तरह से टूट रहे हैं। बँट रहे हैं। विखण्डन की स्थितियों का चित्रण कथा-साहित्य में भरपूर है। शिवमूर्ति की कहानियों में यह चित्रण कुछ विशेष अर्थ रखता है। उनके यहाँ यह टूटन मूल्य के टूटने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संयुक्त परिवार को परिवार का एक प्रकार मात्र नहीं माना गया है। संयुक्त परिवार एक मूल्य है, अवधारणा है। उसके विघटन से उत्पन्न दुष्परिणामों की ओर कथाकार इशारा करता है तो उसकी सीमाओं को भी सूचित करता है। 'भारत नाट्यम', 'सिरी उपमा जोग', 'केशर कस्तूरी' जैसी कहानियों में उन्होंने पारिवारिक विघटन से उत्पन्न दयनीय दशा का चित्रण किया है। पारस्परिक प्रेम, सौहार्द तथा सूझ-बूझ के अभाव से ऐक्य बाधिक होता है। मानवीय गरिमा को चोट पहुँचती है। पारिवारिक सम्बन्धों में गाँठ बढ़ती जाती है। 'भरतनाट्यम' का ज्ञान भयानक मानसिक यन्त्रणा का शिकार बनता

है तो उसकी पत्नी पर भी मानसिक निर्यातन जारी रहता है। उसकी किसी इच्छा की पूर्ति नहीं होती है। सबसे दुःखद स्थिति ज्ञान की बेटियों की है। उन्हें जूठे ग्लास के फेन से तृप्त होना पड़ता है। यह इसलिए कि वे लड़कियाँ हैं। रुग्ण मानसिकता की शिकार होकर जीवन बिताना पड़ता है। परिवारिक विघटन के साथ जर्जर आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। टूटन और हताशा की स्थितियों में भी कहानीकार जिजीविषा का मन्त्र प्रदान करता है। आर्थिक विसंगतियों से पीड़ित युवा-वर्ग के सारे महत्त्वपूर्ण स्वप्न बिखरते जाते हैं। फलस्वरूप, पीढ़ी-संघर्ष भी उत्पन्न होता है। बुजुर्ग और नयी पीढ़ी में कोई तालमेल तक नहीं हो पाता है। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को समझ तक नहीं पाती। फलस्वरूप, समाज में अराजकता फैलने में काफी समय नहीं लगता है।

शिक्षित बेरोजगार के प्रति लोगों तथा अपने आत्मीयों का जैसा बरताव रहता है, वह चिन्तनीय है। 'भरतनाट्यम' के ज्ञान के आधार पर कहानीकार ने शिक्षित बेरोजगार की मनस्थितियों का चित्रण किया है। परिवार तथा समाज में उसकी उपेक्षा होती है। उसके पिता तक उसमें हजारों कमियाँ निकालते रहते हैं। उनकी कटूक्ति होती है—''साला, चलता कैसे है, शोहदों की तरह! चलता है तो चलता है, साथ में सारी देह क्यों ऐंठे डालता है। दरिद्रता को लच्छन हैं ये, घोर दरिद्रता के। माँगी भीख भी मिल जाए इस हरामखोर को तो उसकी पेशाब से मूँछ मुँड़ा दूँगा...और देखता कैसे है? शनिचरहा। इसकी पुतली पर शनीचर वास करता है। सोने पर नज़र डालेगा तो मिट्टी कर देगा ससुर, जम्हाई ही लेता रहेगा या चारपाई भी छोड़ेगा? देख लेना, यह चारपाई भी दो महीने से ज्यादा नहीं चलेगी।'' (वही, पृ. 68) माँ, भाभी तथा नातेदारों की उपेक्षा भरी दृष्टि सदा ही ज्ञान पर लगी रहती है।

इस कहानी के माध्यम से शिवमूर्ति ने अपने समय के सच को उज्जीवित किया है। शिक्षा का व्यापारीकरण, शिक्षकों का शोषण, नौकरी के क्षेत्र में धोखाधड़ी, बाहरी दबाव आदि का भी खुलासा किया है। भ्रष्टाचार की सर्वव्यापकता से परिचित किया है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में पत्नी पुत्र की प्राप्ति हेतु अपने पति के भाई से सम्बन्ध रखती है। तीन पुत्रियों का पिता ज्ञान पूरी तरह से टूटा हुआ है। उसे भारत सरकार की ठीक-ठाक नौकरी मिलती है पर अपने स्वाभाविक आक्रोश और क्रोध को छिपा न पाकर अपने बॉस की नाक पर कसकर घूँसा जमा देता है। सरकारी कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार, चाटुकारिता और अकारण भय-प्रदर्शन जारी है। संक्षेप में, स्वातन्त्र्योत्तर भारत का बेहतरीन वृत्तचित्र है 'भरतनाट्यम'। जीवन जगत की प्रतिकूल परिस्थितियों और विसंगतियों का मनोरम चित्र है 'भरतनाट्यम'। इस कहानी की बस एक कमी है कि इसके कथा-नायक को 'बहुत अच्छा' बनाने का प्रयास किया गया है। खास करके पत्नी के भाग जाने पर पति ज्ञान की यह सोच द्रष्टव्य है—''चली गई, चलो, जहाँ भी रहे, सुखी रहे...लेकिन भागना ही था तो एक दिन पहले भाग जाती। मैं टूटने से बच जाता...घूस देने से...पथभ्रष्ट होने से...पता मालूम होता तो ये ब्रेजियर, ब्लाउज वगैरह पार्सल कर देता... लिखता कि बेटा होने पर खबर करे। मैं खिलौने लेकर आऊँगा।'' (वही, पृ. 92) ऐसा लगता है कि ज्ञान

को यहाँ 'महान' बनाया जा रहा है। कहाँ गया उसके 'अन्दर सोया गँवार' अथवा क्रोध, पत्नी-प्रेम? बस, यही एक-आध सवाल के अलावा यह कहानी बड़े रेंज की है। इसमें दलित चेतना और समाज का द्वन्द्व है तो शासन तत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण भी है। जाति-पाँति और सम्प्रदायवाद की विसंगतियाँ व्यक्त हुई हैं तो आज के जमाने में आदर्श, नैतिकता आदि को सम्बल बनाकर चलने वाले बेरोजगार नवयुवक का अन्तःसंघर्ष भी व्यक्त हुआ है। बहुआयामी जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है।

'भरतनाट्यम' कहानी का पाठ 'सिरी उपमा जोग' के साथ हो तो अधिक प्रभावशाली पाठ हो सकता है। यह इसलिए कि 'सिरी उपमा जोग' की लालू की माई का सारा सपना लालू के बप्पा से सम्बन्धित हैं। उसकी महत्त्वाकांक्षा उसे घृणा के केन्द्र में लाती है तो 'भरतनाट्यम' में पुरुष ज्ञान की महत्वाकांक्षा अपनी पत्नी से सम्बन्धित है। दोनों कहानियों में संवेदना का जो स्वर फूटता है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु क्रूर यथार्थ के बारे में सोचकर हृदतन्त्रियाँ झनझना उठती हैं। ऐसा यथार्थ सचमुच जितना करूणादायक है उतना ही डरावना।

2011 में प्रकाशित 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' शीर्षक कहानी में शिवमूर्ति ने मामा और मामी के दाम्पत्य जीवन के अनुपम चित्र अंकित किये हैं। मामी अपने पिता-माता की अकेली सन्तान थी। मामा के लिए घर जवाई बनकर रहना सम्भव न था। लेकिन गौना हो चुका था। मामी के अदम्य साहस, प्रेम और सूझ-बूझ के चलते अलग-अलग रहकर भी दाम्पत्य जीवन बना रहा। लेखक के शब्दों में—''अपने दाम्पत्य को भी धैर्य और मुस्कान से सँभाल लिया मामी ने। माँ-बाप की सेवा भी जरूरी थी और पति का सान्निध्य तथा संतति वृद्धि भी मामी ने किसी जिम्मेदारी से भागना चाहती थी न किसी जरूरत से वंचित रहना चाहती थी। इसके लिए उन्होंने अलग राह खोजी। शाम को गाय बैलों को चारा पानी देकर, माँ-बाप को खिला-पिलाकर पहर रात बीते लाठी लेकर निकलती मामी। साँप, बिच्छू और सियार भेड़ियों को धता बताती आधी रात के पहले पहले जा पहुँचतीं मामा के माचे पर। पहर डेढ़ पहर का अभिसार और चौथे पहर मायके के लिए वापसी अन्धेरी रात हो या चाँदनी, जाड़े की ठिठुरन हो या बरसात के गरजते बरसते बादल। मामी के लिए पति का सेज हमेशा डेढ़ दो घण्टे की दूरी पर रही।'' (तद्भव, अंक-24, पृ. 59) स्पष्ट करना जरूरी है कि अभिसारिका मामी का चित्रण कहानीकार का उद्देश्य नहीं है। न ही यह कहानी का चरमोत्कर्ष है। दरअसल, यह तो कहानी की शुरूआत है। हिन्दी कथा-जगत में वृद्ध-जीवन से सम्बन्धित सार्थक कहानियाँ बहुत कम हैं। उस कमी को 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर''! पूरी करती है। वृद्ध-जीवन की समस्याओं, आत्मीय जन की स्वार्थपरता और घोर संवेदनाहीनता को बड़ी बारीकी तथा कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस कहानी में भी शिवमूर्ति भारतीय गाँव की असली तस्वीर को आकर्षक ढंग से पेश करते हैं। अन्तर्वस्तु और शिल्प के धरातल पर कहानी पूरी तरह से खरी उतरती है। कथा-सूत्र को कहीं भी शिथिल नहीं होने देते। रेणु और काशीनाथ सिंह की तरह शिवमूर्ति भी अपनी कहानियों में नये-नये प्रयोग करते हैं। कभी भाषिक स्तर पर तो कभी कथा क्रम में। शब्द-चयन तथा कथा-संयोजन, अवधी तथा लोकभाषा के समुचित

प्रयोग, फगुआ तथा अन्य लोक गीतों का समावेश उनकी रचनाधर्मिता को धारदार बनाते हैं। संप्रेषणीयता, चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता आदि से मुक्त शिवमूर्ति की भाषा सहज ही पाठक को लुभाती जाती है। यूँ कहे कि पाठक को बाँधे रखती है। कहानी पूरी पढ़ लेने के बाद भी कहानी समाप्त नहीं होती। पाठक सोचने-विचारने, उद्वेलित होने के लिए मजबूर हो जाता है। समाप्ति से प्रारम्भ होता है। यही शिवमूर्ति के कथा-लेखन की सफलता है और सार्थकता भी।

'नया ज्ञानोदय' के फरवरी, 2013 वाले अंक में शिवमूर्ति की एक उम्दा कहानी प्रकाशित हुई है—'बनाना रिपब्लिक'। बाबा साहब अम्बेडकर के प्रयास से हों अथवा हमारी संसद की 'सदिच्छा' से, बहुत सारी सीटें अब अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए आरक्षित कर दी गई हैं। उद्देश्य यह कि समाज के सभी तबकों को समुचित मात्रा में प्रतिनिधित्व करने का मौका मिले। दलितों तथा हरिजनों के हाथों में भी नेतृत्व आये। यह सच है कि भारतीय जनतन्त्र में दलितों का प्रतिनिधित्व बढ़ने लगा है। लेकिन इस सच की सचाई को यानी सच में छिपे यथार्थ की परतों को शिवमूर्ति जिस बारीकी से उघाड़ते हैं उसकी जितनी प्रशंसा की जाए कम होगी। पंचायती व्यवस्था में पंचायत के चुनावों में अपनाये जाने वाले तमाम हथकण्डों, चालाकियों, छल-कपट आदि को अनुभूति संवेदना और विचार में तालमेल के आधार पर 'बनाना रिपब्लिक' के कथा-सूत्रों को सँजोया गया है।

परधानी का चुनाव जीतना सत्ता-सुख के सपने को पूरा करना है। ईमानदारी, सचाई, नैतिकता को स्वाहा करते हुए पाँच वर्षों में लाखों कमाना है। जनसेवा का ढोंग करते हुए अपने घर भरना है। जाति, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर लोगों की बाँटकर कुर्सी हथियाना है। जनतन्त्र के नाम पर इस नाटक का खेल दशकों से मंचित होता आ रहा है। शिवमूर्ति ने समग्र भारत में चुनाव के दौरान अपनाये जाने वाली तरकीबों का यथार्थ चित्रण किया है। जो क्षेत्र सामान्य वर्ग के लिए था, उसे दलितों के लिए आरक्षित कर दिया जाता है। ठाकुर साहब जग्गू यानी जगत नारायण को अपना मोहरा बनाकर चुनावी दंगल में उतारना चाहते हैं। शुरू-शुरू में जग्गू झिझकता है। लेकिन ठाकुर उसे जो पाटी पढ़ाता है वह अचूक होती है—''सालाना पन्द्रह-बीस लाख तक खर्च करने का चांस रहता है। मनरेगा की मद से तो चाहे जितना निकालो। बस कागज का पेटा पूरा करते रहो। नीचे से ऊपर तक सबका मुँह बन्द करने के बाद भी रुपये में चार आना कहीं गया नहीं। पाँच साल में पचीस लाख की बचत।'' (नया ज्ञानोदय, अंक-120, फरवरी 2013, पृ. 71)

पंचायती चुनाव अन्य चुनावों से अधिक पेचीदा होता है। कई तरह के समीकरणों से यह चुनाव लड़कर जीता जाता है। इसमें ढेर सारी गाँठें भी होती है। एक गाँठ सुलझी नहीं कि दूसरी उलझ जाती है। मुन्शी जी जैसे लोग बाहर से हितैषी तो अन्दर से शकुनि बने रहते हैं। मतदाताओं को लुभाने के लिए चुनाव के पहले, हफ्तों तक उम्मीदवारों की ओर से भण्डारा चलता है। भोजन-पानी तो मुफ्त में मिलता ही है, देशी-विदेशी शराब का भी इंतजाम रहता है। पदारथ मुंदर हो या ठाकुर का उम्मीदवार जग्गू लाखों रुपये खर्च करते हैं चुनाव में विजय हासिल करने के लिए। शिवमूर्ति ने चुनाव के पहले, चुनाव

के दौरान तथा मतों की गिनती के दौरान की 'माइन्यूट्स' को सिर्फ वर्णित नहीं किया है बल्कि कहीं तलख टिप्पणी की है तो कहीं व्यंग्य-विनोद किया है।

सत्ता का नशा बड़ा विचित्र होता है। यह यूँ नहीं छूटता। मुहर बनाकर जिस जग्गू को रखना चाहते थे ठाकुर साहब, उसी जग्गू में चेतना साकार होती है। वह ठाकुर के षडयन्त्र, कि जग्गू के पिता की जमीन को गिरबी रखें, अपने नाम कर लें, को निष्फल बनाता है। विजय का प्रमाणपत्र जाते ही जुलूस दलित बस्ती की ओर जाता है, ठाकुर के यहाँ नहीं। पाशा बदल जाता है। ठाकुर अपने लाभ-लोभ के चलते खुद दलित बस्ती में पाते हैं। उनके हाथ से पानी पीते हैं। दलित चेतना की विजय होती है। प्रधानी का चुनाव ही नहीं जीतता है जग्गू बल्कि सत्ता के प्रभाव में आकर वह भी अपनी अस्मिता को भुला देना चाहता है। चुनाव के पहले ही उसने सोच लिखा था—''उसे तो अपना नाम भी पसन्द नहीं। जगत नारायण तो फिर भी ठीक था, लेकिन लोगों ने उसे भी काट कर बाड़ा कर डाला...जग्गू। प्रधानी मिल जाय, हीरो होंडा मिल जाय और नाम बदल जाय, या एक कायदे का 'सरनेम' मिल जाय... जिससे थोड़ा रूआब झरे। 'टाइगर' कैसा रहेगा।'' (वही, पृ. 74) जग्गू को कायदे का 'सरनेम' मिल जाए, इसमें कोई बुराई नहीं। अपना नाम बदलकर 'टाइगर' बनकर 'ठाकुर-बाभन' की तरह अपने और दूसरे लोगों का शोषण करे, दमन करे, उन पर अत्याचार करे तो यह कैसी दलित चेतना? कहानीकार ने बिना कुछ कहे इस ओर संकेत किया है। सत्ता का स्वाद अभी चखा भी नहीं लेकिन उसके नशे से मदहोश होने लगा है।

'सिरी उपमा जोग' के अलावा शिवमूर्ति की सभी कहानियाँ 'लम्बी कहानी' के अन्तर्गत आती है। लम्बी कहानी में कथा संकेतों को बाँधकार रखना, शिल्प को शिथिल होने न देना सर्वाधिक समर्थ कहानीकार के लिए ही सम्भव है। कहना न होगा कि शिवमूर्ति को इस दिशा में भारी सफलता मिली है। उनकी एक-एक कहानी में उपन्यास के तत्त्व भरे पड़े हैं। जिस प्रकार निराला की लम्बी कविता को 'महाकाव्यात्मक कविता' कही जाती है ठीक उसी प्रकार शिवमूर्ति की कहानियों में 'उपन्यासात्मक कथा' समवेशित है।

शिवमूर्ति ग्रामीण परिवेश के चितेरे तो हैं ही वे भारतीय जन-जीवन के भी गहन चितेरे हैं। उनकी कहानियाँ, भले ही चन्द संख्या में हैं लेकिन उनकी प्रसिद्धि, लोकप्रियता और विश्वसनीयता की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली हैं। अब समय आ गया है कि उनकी कहानियों के व्यापक सन्दर्भों और परिप्रेक्ष्यों को उद्घाटित किया जाए। नारी-विमर्श, दलित-विमर्श, सत्ता विमर्श और भी कई विमर्शों की दृष्टि में शिवमूर्ति की कहानियाँ अप्रतिम हैं। विरल हैं। उम्मीद की जा सकती है कि शिवमूर्ति की गुणात्मक कहानियों पर सविस्तार चर्चा होगी।

प्रखर आलोचक। आलोचना की तीन पुस्तकें प्रकाशित।
फिलहाल पश्चिम बंगाल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष।
सम्पर्क : 2 एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता–700042
मोबाइल : 09434884339

वागीश शुक्ल

क्यों शाहिद ए गुल बाग़ से बाज़ार में आवे?*

1

शिवमूर्ति ने जब लिखना प्रारम्भ किया तब वे परिवार पर लिखते थे। *भारतनाट्यम, सिरी उपमा जोग, केशर कस्तूरी,* जैसी कहानियाँ उन्होंने तब लिखी हैं। यह ताकत उनकी कलम से अभी गयी नहीं है क्योंकि *ख्वाजा ओ मेरे पीर* और *आख़िरी छलाँग* जैसी कहानियाँ उन्होंने इधर के ही दिनों में लिखी (या इधर के ही दिनों में छपवायी?) हैं। जिस बात के लिए ये कहानियाँ हमेशा जानी जायेंगी वह है चीजों के जस-का-तस बयान में एक खाँटीपन का स्वाद जो सिर्फ़ उनके होने का स्वाद है, जैसे कभी पीने के पानी में सिर्फ़ पीने के पानी का स्वाद और साँस लेने की हवा में सिर्फ साँस लेने की हवा का स्वाद होता था। हिन्दी कथा-साहित्य मैं बयान का यह खाँटीपन गुलेरी जी के बाद 'रेणु', श्रीलाल शुक्ल, और मनोहर श्याम जोशी जैसे इनेगिने लोगों के यहाँ दीखा था और इसका जितना भी स्वागत किया जाय कम ही है। तब कहानी के अन्त को ले कर शिवमूर्ति को यह चिन्ता नहीं सताती थी कि 'लोग क्या कहेंगे'।

किन्तु फिर शिवमूर्ति ने 'गाँव पर लिखना' शुरू किया और अकालदण्ड तथा कसाईबाड़ा जैसी कहानियाँ लिखीं जिन्होंने हिन्दी के उन तमाम आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया जो 'गाँव पर लेखन' की चिप्पी लगाये घुटन भरे तहखानों में कहानी को खींच ले जाने की क्षमता रखते हैं। उनके मार्गदर्शन के अधीन शिवमूर्ति का लेखन बदलता गया है और वे *त्रिशूल* जैसी कहानी के लेखक बन गये जिसमें तालियों के लिए क्लू उसी तर्ज़ पर दिये हुए हैं जिस तर्ज़ पर टेलीविजन की कामेडियों में हँसने के लिए क्लू दिये होते हैं।

एक अप्रत्याशित संयोग है कि स्वयं शिवमूर्ति ने *भरतनाट्यम* को *त्रिशूल* तान कर

ठिठकाने वाली इस रचना-प्रक्रिया का रहस्य समझा दिया है। एक इंटरव्यू में (जिसे मैंने सम्भवतः *मंच* के शिवमूर्ति पर केन्द्रित अंक में पढ़ा।) उन्होंने एक सवाल उठाया हैः 'रेणु' के लेखन में मोहकता है, किन्तु विष की पहचान कहाँ है? उन्होंने अपनी बात समझाने के लिए उदाहरण दिया है : बच्चा साँप का फन लहराना देख कर मुग्ध हो जाता है किन्तु उसे साँप के जहर की पहचान नहीं है। निष्कर्ष यह की शिवमूर्ति के लेखन में विष की

* शिवमूर्ति के कथा साहित्य पर एक टिप्पणी।

वह पहचान मिल सके, इसके लिए उनका लेखक प्रयत्नशील है। दुर्भाग्यवश हिन्दी लेखन के सन्दर्भ में इस तरह की बातों का कुल मतलब इतना होता है कि सँपेरों का एक सक्रिय गिरोह है जो आपके घर में धसकने-घूमने की आजादी इस दावे पर चाहता है कि वह जहाँ बीन बजायेगा, वहीं से एक विषधर साँप निकाल देगा जिसका फन कुचलते दीखना ही आपका अपने मकान में मकीन होने का एकमात्र अधिकारपत्र है। दाख़िल और ख़ारिज की इस कार-रवाई के ज़रीए साहित्यिक भू-लेखों में हेराफेरी को ही हिन्दी में आलोचना-कर्म के नाम से जाना जाता है।

जहाँ तक मैं रचना-प्रक्रिया के इस विकास को समझ पाया शिवमूर्ति ने अपने लेखन को उन्हीं कारणों से कमजोर किया है जिन कारणों से हमारे अनेक प्रतिष्ठित लेखकों ने अर्थात् 'हमारे समय की माँग' को 'हमारे समय के आलोचकों की माँग' समझना और इस माँग की आपूर्ति के लिए वे सभी समझौते करना जो कए लेखक को नहीं करने चाहिए। अर्थशास्त्र की एक प्रसिद्ध पुस्तक (जहाँ तक स्मरण है, पाल सैमुएल्सन द्वारा लिखित पाठ्यपुस्तक) में एक अध्याय के प्रारम्भ में एक परिहासात्मक उद्धरण है, ''आप एक तोते को भी अर्थशास्त्री बना सकते हैं; उसे सिर्फ 'माँग और आपूर्ति, माँग और आपूर्ति' रटना होता है''।[1] हिन्दी साहित्य चिन्तन में लेखक और आलोचक बनने का भी यही तरीका बना हुआ है। सीधे-सीधे कहूँ तो शिवमूर्ति का लेखन वामपन्थी तालियों की प्रायोजित गड़गड़ाहटों के बीच, उसी रास्ते पर चल निकला है जिस पर उदाहरण के लिए, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसा प्रतिभाशाली कवि अपनी सारी क्षमता को धूल में मिलाने को तत्पर हो गया।

2

शिवमूर्ति ने कम लिखा है और यह बात ऐसे कही जाती है जैसे यह अपने -आप में कोई बड़ा गुण है। यदि इसका इशारा यह है कि उन्होंने अपने को दुहराया नहीं है तो यह बात गलत है। उदाहरण के लिए, *केशर कस्तूरी* की केशर के पुनर्विवाह की बात इस आधार पर उठती है कि उसका पति कम कमाता है और इस आधार पर (वाचक की पत्नी द्वारा) अस्वीकार कर दी जाती है कि पति का कम कमाना पति को त्यागने

का अपर्याप्त आधार है। ठीक ऐसा ही *तिरिया चरित्तर* की बिमली के साथ है; वहाँ भी पति के कम कमाने को लेकर बिमली के पुनर्विवाह की बात उठती है और बिमली इसी तर्क पर स्वयं मना करती है कि पति का कम कमाना पति को त्यागने का अपर्याप्त आधार है। इसी तरह गाँव की लड़कियाँ को धोखा देकर बाहर यौन-दासी बनाने का काम *कसाईबाड़ा* में परधान जी करते हैं तो *अकालदण्ड* में 'सरजूपारी चाची'; अगर कुछ अन्तर है तो यही कि *अकालदण्ड* में 'सरजूपारी चाची' क्यों आयी हैं यह नहीं मालूम पड़ सकता (क्योंकि उनके धन्धे का गाँव में पड़े अकाल से तो कोई सम्बन्ध नहीं है, वह पहले से ही चल रहा है) जब कि *कसाईबाड़ा* में परधान जी की यह हरकत ही कहानी की नींव बनती है।

शिवमूर्ति ने कहीं कहा है कि आज के गाँव का यथार्थ लिखने में जितना उन्होंने लिखा है उससे बहुत अधिक लिखने को उनके पास है। यह बात सच होने चाहिए किन्तु अभी तक तो बहुत कम सामने आया है और मैं फिर स्पष्ट कहूँ कि मेरा आशय यह नहीं है कि कहानियों की संख्या कम है। उनके कई ब्यौरे विश्वसनीय हैं किन्तु इस मामले में वे अकेले नहीं हैं और चन्दन पाण्डेय या नीलाक्षी सिंह जैसे अपेक्षाकृत नये कहानीकारों से जब तुलना करते हैं जिनके ब्यौरे भी विश्वसनीय हैं और जिनका दायरा भी बदलता रहता है तो वे सचमुच 'पिछली पीढ़ी के कहानीकार' लगने लगते हैं।[2]

'पिछली पीढ़ी के कहानीकार' होने का मेरे इस वाक्य में क्या अर्थ है यह थोड़ा और स्पष्ट करना शायद जरूरी है। आप *अकालदण्ड* नामक कहानी उठाइये तो लगता है कि 'रेणु' जी की कोई कहानी पढ़ रहे हैं, वैसे ही ब्यौरे, वैसी ही मोहक विस्तृति के साथ। याद आने लगता है *परती : परिकथा* का 'सेटिलमेन्ट', और आँकड़ों में इतनी भिन्नता फिर भी है कि यह उसकी नकल न हो कर अपने को एक दूसरी रचना साबित कर सके। किन्तु जाहिर है कि लेखक के सन्तोष के लिए यह अपर्याप्त था और उसे रचना को पूरा परिपक्क बनाने के लिए उसमें कुछ क्रान्ति की छौंक-बघार डालना आवश्यक प्रतीत हुआ। यह ऐसे किया गया कि जिस युवती सुरजी पर अकाल में राहत बाँटने वाले 'सिकरेटरी' की बुरी नजर है वह यद्यपि सिकरेटरी द्वारा पहले की गयी प्रत्यक्ष पेशकश को सिकरेटरी का दाँत तोड़ और देह नोच कर ठुकरा चुकी है, रंगी बाबू के माध्यम से सिकरेटरी द्वारा की गयी दुबारा की अप्रत्यक्ष पेशकश होते ही सिकरेटरी की शय्या पर पहुँच जाती है तथा सिकरेटरी को 'आश्वस्त और मस्त' कर के उसका यौनांग काट लेती है। क्यों, जब कि उसके पास सिकरेटरी नहीं आया वह खुद आयी है और अगर सिकरेटरी की और से कोई खतरा है तो पहले से अधिक नहीं है? जाहिर है कि बुरी नजर की शिकार सभी स्त्रियाँ की ओर से क्रान्तिकारी प्रतिरोध करते हुए। यह प्रतिरोध करते हुए वह लेखक के साथ-साथ यह भी भूल जाती है कि जिस बूढ़ी साँस की देखभाल करने के नाते वह अकाल-युक्त सुसराल छोड़ कर अकाल-मुक्त नैहर नहीं गयी, उसकी देखभाल करने वाला अब कोई नहीं रहेगा। 'व्यक्ति' से 'सामाजिक प्राणी' बनायी गयी सुरजी, मंच से उछाल कर दर्शकदीर्घा में फेंक दी गयी सुरजी एक (अब पुरानी पड़ चली किन्तु कहानी-लेखन के समय शायद उतनी पुरानी नहीं) सुर्खी के तले जगमगाने को व्याकुल दीखती है जिसकी रोशनी में कुछ

समय बाद काशीनाथ सिंह के रेहन पर रग्घू की एक स्त्री-पात्र भी अपने पूरे टोले के साथ जगमगाने को व्याकुल दिखी। कौन कहता है कि काठ की हाँड़ी दो बार नहीं चढ़ती? सौ बार चढ़ सकती है बशर्ते कि आप के चूल्हे में आग की जगह अख़बार हो।

एक और उदाहरण लीजिए। *तर्पण* कहानी के अन्त में जब चन्दर की नाक पियारे का पुत्र मुन्ना काट लेता है और थानेदार के सामने पियारे इसे अपना काम बताता है तो हम निम्नांकित संवाद पाते है :

(थानेदार)—क्यों रे क्यों?

(पियारे)—क्या करते सरकार? जब आप कहानी जबान से मुकर गये

(थानेदार)—मैं? मैं क्या मुकर गया रे?

(पियारे)—आप ने कहा था सरकार कि गाँव में आऊँगा। पंडित के बेटे के मुँह में कालिख पोतवाऊँ। लेकिन...

पियारे की बात का सन्दर्भ यह संवाद है जो तब हुआ था जब वह थाने में बलात्कार की रिपोर्ट लिखाने गया था:

(थानेदार पियारे से)—वारदात परसों की है और तू आप रिपोर्ट लिखाने आया है—अड़तालीस घण्टे बाद। कल आ कर जबानी बता जाता तो मैंने अब तक उस बाभन के लौंड़े को इसी नीम के पेड़ में उल्टा लटका कर बाँस न कर दिया होता? मूँड़ मुँड़ा कर गधे पर बैठा कर गाँव में न घुमवा देता? तू मुकदमा लड़ कर उससे पार पा जायेगा? कै साल लड़ेगा मुकदमा? कितनी रकम इकट्ठा की है बोल?

साँस लेने के लिए पल भर रुका थानेदार फिर पूछा, ''सोच कर बता। मुकदमेबाजी करनी है या उस बाभन के मुँह में लौंडिया के हाथ से कालिख पोतवानी है?''

(पियारे)—हुजूर घर मैं सलाह कर लें। भाई जी से भी सलाह कर लें।

(थानेदार)—भाई जी बहनोई जी से मराना है तो जा कर मरा। फिर मत कहना कि थाने पर सुनवाई नहीं हुई। मेरे हल्के में कोई साला बदफेली कर के कैसे रह सकता है। मार-मार कर भूसा नहीं भर देंगे? जा। जो भी तय करना, एक-दो दिन में आ कर बता जाना।

स्पष्ट है कि थानेदार नहीं चाहता कि रिपोर्ट लिखी जाय किन्तु यह भी स्पष्ट है कि ''पंडित के बेटे के मुँह में कालिख पोतवाऊँगा'' का वादा तब के लिए था जब पियारे मुकदमेबाजी का चुनाव न करता। जब पियारे ने मुकदमेबाजी करने का चुनाव कर लिया तब वह यह नहीं कह सकता कि थानेदार अपना वादा भूल गया है। यहाँ दो ही सम्भावनाएँ हैं। या तो कहानी के अन्त को छौंकते-बघारते लेखक पीछे पलट कर उन दानों को फटकना-बीनना भूल गया जिनमें मसाला पड़ना था, या यह लेखक की 'स्ट्रेटजी' है जैसे भाई जी की 'स्ट्रेटजी' थी कि बलात्कार भले ही नहीं हुआ, रिपोर्ट बलात्कार की ही लिखानी है। लेकिन तब यह पूछना भी बनता है कि भाई जी तो एक लड़ाई लड़ रहे थे और उन पर 'युद्ध में सब कुछ न्यायसंगत है' का तर्क लागू होता है, लेखक को पाठक से कौन सी लड़ाई जीतनी है?

तब क्या माना जाय? 'पियारे ने सिस्टम पर तीव्र प्रहार किया' जैसा कुछ? कहानी का काम सिस्टम से लड़ना है?

3

त्रिशूल सपाट उपदेशों के सहारे बढ़ाया जाता हुआ सपाट कथाक्रम की डोरी थामे घिसटता हाईवे की तरह उतार-चढ़ाव से रहित ठोंका-पीटा ठेके पर तैयार किया गया सपाट उपन्यास है। इसके जैकेट पर बताया गया है कि इस उपन्यास का विरोध हुआ किन्तु इस उपन्यास का समाजशास्त्र इतना नीरन्ध्र है कि विरोध की कोई खिड़की उसमें खुल ही नहीं सकती।

हाँ, उपन्यास की चाक-चौबन्द घेराबन्दी में एक जगह भूल से दीवाल में कच्ची ईट का इस्तेमाल जरूर हो गया है। उपन्यास में एक मुसलमान लड़का महमूद नायक के यहाँ घरेलू नौकर है। राजा राम मोहन राय से शुरू कर के 'चौके में मुसलमान' कई महापुरुषों को सेक्युलर साबित कर चुका है और लगता है समस्या का ऐसा सरल समाधान शिवमूर्ति जी को बेहद जमा है क्योंकि ख्वाजा ओ मेरे पीर में फिर इसी का आसरा लिया गया है। बहरहाल, महमूद के मुसलमान होने का पता मिसराइन जी को लगता है तो वे इस आधार पर नायक-पत्नी से नाराज हो कर चल देती हैं कि उनके अनजाने उनके बरतन मुसलमान नौकर से छुआ कर नायक-पत्नी ने उनका चौका भ्रष्ट कर दिया। उस समय वहाँ उपस्थित लाल साहब की पत्नी उन्हें यह समझाती हैं कि आजकल छुआछूत का यह स्वरूप स्वीकार्य नहीं है। उसके बाद जब शास्त्री जी अपहरण के आरोप में महमूद की झूठी शिकायत थाने में कर आते हैं और नायक उसे छुड़ाने थाने जाने के लिए किसी पड़ोसी को साथ लेना चाहता है तब लाल साहब की पत्नी तो लाल साहब के सहयोग से मना कर देती हैं और फिर महमूद से दारू मँगा कर पीनेवाले मिसरा जी भी हिचकिचाते हैं किन्तु नायक द्वारा यह आक्षेप लगाये जाने पर कि यह हिचकिचाहट यह बताती है कि मिसरा जी का चौका भ्रष्ट करने के अपराध में वे चाहते हैं कि महमूद थाने में झूठ अपराध में बन्द रहे, ''ऐसा अकलंक न लगाइये भाई साहब।'' मिसराइन कहती हैं, ''छूतछात हमारे चौके के चीज है। हम ऐस कभी सोच भी नहीं सकते कि मुसलमान होने के नाते कोई बेगुनाह सताया जाय। मुसलमान अपने घर राजी रहें हम अपने घर। ये कैसे नहीं जाएँगे?''

'सरजूपारी' मिसराइन के इस विसंवादी स्वर के बावुजूद, उपन्यास में सब पात्र अपनी भूमिका आशानुकूल ही निभाते हैं; अपने को छत्री बताने वाले बी सी शास्त्री जी बी सी लोकनेता पाले भाई की हत्या को 'शम्बूकवध' ही मानते दिखते हैं चूँकि वे 'रामवादी पार्टी' के हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की आफिशियल लाइन का पूर्ण अनुगमन हो जाता है किन्तु इसमें इतने प्रवचनात्मक विवरण हैं और घटनाक्रम इतना कृत्रिम है कि इसे प्रायोजित प्रचार-साहित्य ही मानना पड़ता। *त्रिशूल* और *तर्पण* को एक साथ पढ़िए तो यह भी साफ

हो जाता है कि अब आलोचना की ई वी एम में हिन्दी की लालबुझक्कड़ी को कुछ और बटन बढ़ाने पड़ेंगे।

4

आधुनिक, चाहें तो समकालीन कहिए, हिन्दी साहित्य की शुरुआत अगर कोई डेढ़ सो बरस पहले से मान लें तो उसमें यथार्थ-वर्णन की धूम है और ''धूम-वन, धूम टू, धूम-थ्री'' की तर्ज पर अपने आकार और प्रकार में फैलती-बढ़ती जा रही है। मुझे जो चीज़ इस समकालीन हिन्दी साहित्य के यथार्थ-वर्णन में खटकती है वह यह है कि जिस यथार्थ से परिचय और जिसके वर्णन की बात की जाती है उससे पहचान का दूर दूर तक कोई प्रमाण इस लेखन में नहीं मिलता। इसका कारण समझ में नहीं आता क्योंकि जियादातर लोगों का बचपन, और कुछ यौवन भी, गाँव में बीता है।

मुझे लगता है कि इसका कारण 'शिक्षा' है। अर्थात् समस्या यह है कि गाँव क्या है इसके बारे में विशेषज्ञों के मत उपलब्ध है और वे परम्परया उपलब्ध मतों के ऊपर हावी हैं। तब होता यह है कि (अपना देखा हुआ या गाँव के बाशिन्दों द्वारा देखा गया) गाँव जो 'हैं' और (विशेषज्ञों द्वारा देखा गया गाँव यानी) गाँव जैसा 'चाहिए', में एक टकराहट शुरू होती है और ज़ाहिर है कि 'है' के ऊपर 'चाहिए' हावी होने लगता है। फिर आँकड़ें भी बदलते हैं और उनके निहितार्थ भी।

उदाहरण के लिए:

चीन पर जापान के आक्रमण के पक्ष में रवीन्द्र नाथ ठाकुर को पत्र लिखते समय जापानी साहित्यकार योने नागुची ने शिव और काली को हिंसा की न्याय-संगति का तर्क मान कर उनका नाम लिया था। शायद कुछ ऐसी ही मान्यता उन क्रान्तिकारियों की भी रही होगी जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान माँ काली के गले में पड़ी मुण्डमाला का कुछ तत्सामयिक अर्थ बैठाने की चेष्टा की थी और यह माना था कि यह मुण्डमाला 'दुष्टों' के सिरों को काट कर तैयार की गयी हैं। कुछ बाद में चल कर (शायद 1961 के इर्दगिर्द) नागार्जुन ने जब *काली माई* कविता लिखी तो उन्हें यह समझ में आया कि काली माई गरीबों के सिरों की मुण्डमाला गले में धारण करती है और धनी पैसे दे कर बकरे की बलि चढ़ा कर बच जाते हैं। इस कविता में काली का शवारूढ रूप इस प्रकार देखा गया है :

कितना खून पिया है जाती नहीं खुमारी
सुर्ख और लम्बी है मइया जीभ तुम्हारी
मुण्डमाल के लिए गरीबों पर निगाह है
धनपतियों के लिए दया की खुली राह है
धनपिशाच का लहू नहीं अच्छा लगता है

वह औरों की बलि दे कर तुमको ठगता है
जाने कब से टपक रही है लार तुम्हारी
लाल थूक से दरक गयी धरती बेचारी
पैरों के नीचे शंकर करुणावतार है
नंगी हो माँ तुम पर पागलपन सवार है
भृकुटि तुम्हारी तनी रहे अब कौन डरेगा
धनपिशाच हो नरपशुओं का पेट भरेगा
माता तुमको प्रिय होगी हिंसा की भाषा
ऐसा है विश्वास और ऐसी ही आशा
मेरे इन शब्दों से नाहक रंज न होना
कुछ भी हो लेकिन मन का सन्तुलन न खोना॥

महाकाली या महाकाल को 'उन्मत्त' बताना पहले से चला आ रहा है किन्तु 'सन्तुलन' बनाये रखने की शर्त जैसी मानवों पर लागू होती है वैसी उन पर भी लागू करने की बात पहले नहीं सोची जाती थी जैसे कि 'हिंसा' का अर्थ काली के सन्दर्भ में वही नहीं माना जाता था जो नागार्जुन के सन्दर्भ में या योने नागुची के सन्दर्भ में है। अपने घटिया सोच की वकालत के लिए दैवी प्रतीकों तक जाने की आवश्यकता क्यों पड़ती है यह समझना कोई कठिन नहीं है। हम योने नागुची और नागार्जुन को खारिज कर सकते हैं क्योंकि दोनों ही यह नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं।

किन्तु मेरे मन में जो सवाल उठता है वह यह है कि किस प्रकार संस्कृत पाठशाला में छात्र रह चुका एक मैथिल ब्राह्मण महाकाली के बारे में उतना भी ज्ञान नहीं रखता है जितना इस देश का सामान्य नागरिक रखता है और किस प्रकार वह योने नागुची की तरह बात कर सकता है जिन्हें 'तीन सिरों वाले शिव' अपनी भारत-यात्रा के दौरान दिखे थे जिनसे प्रेरित हो कर उन्होंने जापान द्वारा चीन पर आक्रमण की हिंसा के समर्थन में कविता लिख दी थी? मिथिला में काली की क्या जगह है इसे समझने के लिए तो वैसे भी आप मैथिली के कवि नागार्जुन की तरफ नहीं, मैथिली के कवि लाल दास की तरफ मुड़ना चाहेंगे जिन्होंने अपनी *रामायण* में 'पुष्कर-काण्ड' का समावेश करते हुए सीता द्वारा महाकाली रूप धारण कर के सहस्त्रमुख रावण के वध की कथा अद्‌भुत-रामायण से लेकर समाविष्ट की है किन्तु यहाँ प्रश्न उस विच्छिन्नता का है जो नागार्जुन ने केवल प्रगतिशीलों की जमात में शामिल होने के लिए ओढ़ी है। यह बाजार में ऐसा कुछ ले कर उतरने का लालच है जो बिक सके, और अगर ओढ़ी हुई जवानी या ओढ़े हुए घाव बेंचने का कुछ समर्थक तर्क भी है—वह जीवनयापन से जुड़ा है—तो ओढ़ी हुई विच्छिन्नता बेंचने का क्या समर्थक तर्क हो सकता है यह समझना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

उत्तर एक ही सम्भव है : 'शिक्षा का प्रभाव'। काली माई के बारे में जो गाँव में समझ है उसका तिरस्कार कर के कुछ नया ढूँढ़ना और यह न सोचना कि नया क्यों ढूँढ़ना।

फिर लेखक और गाँव के बीच की दूरी बढ़ती जाती है तो आश्चर्य क्या है? उसके पास कुछ भोजपुरी-अवधी के शब्द बचते हैं जिन्हें वह ताम्रपत्र की तरह झुलाता हुआ अपना ग्राम-परिचय प्रमाणित करता रहता है जैसे कोई किसी ऐसे परिचयपत्र के आधार पर कहीं प्रवेश पाना चाहता हो जिसकी वैधता ही अवधि बीत चुकी है।

मैं अपना आशय स्पष्ट करने की चेष्टा एक अन्य उदाहरण की सहायता से करता हूँ। पारम्परिक भारतीय समाज में (कम-अज-कम उत्तर-भारतीय समाज में) विवाह के अवसर पर कन्यापक्ष की स्त्रियाँ बरातियों के भोजन के समय ऐसे गीत गाती रही हैं जिनमें वरपक्ष की स्त्रियों को लक्ष्य करके गालियाँ देती हैं; ये गीत बाद में भी इस प्रकार के सम्बन्धियों के आगमन पर भोजन के समय गाये जाते हैं। इसी प्रकार जीजा-साली, देवर-भाभी, और ननदोई-सलहज के बीच वर्तमान महानगरीय यौन शालीनता से टकराता हुआ वाद-विवाद-संवाद भी प्रचलित और स्वीकृत व्यवहार रहा है। यह हजारों वर्षों से चला आ रहा है; गाथा-सप्तशती में देवर-भाभी को ले कर कई पद्य हैं, राजशेखर के एक नाटक में सलहज आधी घरवाली की कहावत का उल्लेख मौजूद है और साली आधी घरवाली ओर आधी भाभी आधी जोय जैसी कहावतों से सभी परिचित हैं। शादी के ये गीत और ये कहावतें समाज-सुधारकों और फलतः हिन्दी लेखक समाज के लिए चिन्ता का विषय कोई सौ वर्ष से बने हुए हैं और भुवनेश्वर जैसे रीति-कुरीति से परे लिखने वाले साहित्यकार को भी यह वास्तविकता कुरुचिपूर्ण ही लगी थी जैसा कि उनकी टिप्पणी भाभी काम्प्लेक्स और कार्ल मार्क्स से विदित होता है।

भारतीय शिष्टाचार और आधुनिक भारतीय को महसूस होनेवाली इस सामूहिक शर्म की अनुभूति के बीच का संघर्ष क्यों है इस पर मैं यहाँ विस्तार से तो कुछ न कह पाऊँगा किन्तु जब भी इस पर बात हो; यह ध्यान में रखना जरूरी होगा कि भाभी-साली-सलहज को बताता हुआ अंग्रेजी शब्द 'कानून में बहन' (=sister-in-law) वस्तुतः ईसाई वैवाहिक नैतिकता का निर्वहन है। यह नैतिकता मूलतः यहूदी वैवाहिक नैतिकता है जिस पर बाइबिल के पात्र सलोमी की कथा टिकी हुई है (जिसका आधार लेकर आस्कर वाइल्ड का नाटक सलोमी लिखा गया है); शेक्सपीयर का हैमलेट भी इसी समझ पर आधारित है। इस समझ के अनुसार साली या भाभी बहन की जगह पर होती है। आधुनिक भारतीय को महसूस होनेवाली इस सामूहिक शर्म का कारण 'कुरीति' की वह पहचान है जो पश्चिमी शिक्षा ने हमें बतायी थी और जिसके तहत ही हम 'बहुदेववाद' आदि के लिए क्षमा माँगते चले आ रहे हैं।

शिवमूर्ति के लेखन में भी ऐसी ही और उतनी ही दूरी है जितनी नागार्जुन के लेखन में। अन्ततः अपने घर में बाहरी होने के सिलसिले में इन दोनों की मंजिल एक ही है और रास्ते भी समानान्तर हैं : फ़र्क़ यह हो सकता है कि प्रस्थानबिन्दु कोई छिपा रहा है (नागार्जुन), और कोई उसे ले कर असमंजस में है (शिवमूर्ति) । मैं शिवमूर्ति के अकालदण्ड से उद्धत करता हूँ :

''नैका भुजइन की भरसार में चार पाँच लड़कियाँ औरतें जुटी हैं। सुरजी को देख

कर एक आवाज देती है, ''का हो भउजी, बहुत 'लैट' मार रही हो। हमरे साथ ब्लाक चलौ सुई लगावे सिखाइ देई।'' सुरजी मुड़ कर मुस्करा देती है।

गाँव की जिन लड़कियाँ-औरतों ने ब्लाक के अफसरों डाक्टरों, कर्मचारियों, या शहर के सेठों के घर चौका-बासन, झाड़ू-पौंछा करने का काम पकड़ लिया है उनकी चाल-ढाल बोली-बानी में गजब की ढिठाई और 'बेपर्दगी' देख रही है सुरजी। हफ्ते-दस दिन पर गाँव लौटती हैं तो लगता है 'बम्बई' कमा कर लौटी हैं। उस दिन पानी के टैंकर का ड्राइवर कह रहा था—

जनम के रँडुए भी फेमिली वाले बन गये इस सूखे में।
ई का हो रहा है—सुरजी सोचती है।
बाढ़ में नहीं, सूखे में 'बह' रहा है गाँव।

यह तो स्पष्ट ही है कि इसे शिवमूर्ति ने भी ननद-भौजाई के बीच प्रचलित परिहास-आचरण का एक उदाहरण ही माना है अन्यथा ''सुरजी मुड़ कर मुस्करा देती है'' की जगह यहाँ न होती, ''सुरजी गुस्से में मुड़ कर बिफरती हैं'' जैसा कुछ होता। तब, यहाँ पर मेरी कई आपत्तियाँ हैं। सर्वप्रथम, यह ''चाल-ढाल बोली-बानी में गजब की ढिठाई और 'बेपर्दगी' '', जिसका एकमात्र सन्दर्भ यह है कि सुरजी गाँव की बहू है और यह उचारने वाली लड़की गाँव की बेटी जिसके चलते सुरजी उसकी भाभी होती है, सुरजी को क्यों अजीब लगनी चाहिए और उसे क्यों इस पारम्परिक और सर्वथा प्रत्याशित ठिठोली के आधार पर ऐसा लगना चाहिए कि गाँव 'बह' रहा है?

उम्मीद है कि जिसे मैंने 'प्रस्थान-बिन्दु का असमंजस' कहा है वह कुछ स्पष्ट हुआ होगा।

किन्तु इससे भिन्न, मेरी एक आपत्ति और है जिसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूँः ''हमरे साथ ब्लाक चलौ सुई लगावे सिखाइ देई'' भाभी की तरफ से ननद को सम्बोधित किया गया परिहास तो हो सकता है किन्तु ननद की तरफ से भाभी को सम्बोधित किया गया परिहास नहीं हो सकता। और इसलिए लगता यह है कि ये बातें लेखक के कान में कभी पड़ी तो हैं किन्तु उनके सुर-ताल और वक्ता-श्रोता से उसका परिचय पुराना पड़ चुका है, इतना पुराना कि उनका इस्तेमाल एक परायी जगह खड़े हो कर किया जा सकता है।

यह आश्चर्यजनक हैं क्योंकि ख़्वाजा ओ मेरे पीर में अपने कपड़े पर रंग डाल देने वाली सलहज को 'छिनार' कहने वाले जिन मामा जी का जिक्र है उनमें यह गजब की ढिठाई ओर 'बेपर्दगी' शिवमूर्ति को नहीं दिखी है; वे यह नहीं लिखते कि मामाजी 'वह गये', उन्हें ऐसा कहने का कोई हक़ नहीं था और वे हदों को पार करने वाले अशिष्ट व्यक्ति थे।

मुझे सन्देह यह है कि जाने-अनजाने दोनों स्थितियों के बीच का व्यावसायिक अन्तर शिवमूर्ति के रचना-क्षितिज पर अपनी परछाई फेंक रहा है; ''सुरजी मुड़ कर मुस्करा देती है'' को धकेल कर परे करता हुआ ''ई का हो रहा है—सुरजी सोचती है। बाढ़ में नहीं, सूखे में 'बह' रहा है गाँव।'' एक लोकलुभाऊ पच्चड़ है जिसका साफ़ फ़ायदा है—यह

शहर, बाजारवाद, आदि सुज्ञात खलनायकों की पिटाई करते हुए हीरो का पोस्टर है जिसकी कोई जरूरत ऊपर दिये गये ख़्वाजा ओ मेरे पीर वाले प्रसंग में नहीं है।

और जब फ़ायदा नहीं है तो इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि त्रिशूल की सरजूपारी मिसराइन ठेठ गैर-सरजूपारी हिन्दी में बोलती हैः ''गिलसिया तू रखि लेव रोजा खोलै बदे''। शायद उन्होंने नैहर की भाषा भूल कर ससुराल की भाषा अपना ली हो? फिर वे मछली का सरजूपारी स्वाद क्यों नहीं भूल पायी।

सम्वाद के समय दूसरी और आस्वाद के समय दूसरी होती हुई जिह्वा जाने-अनजाने अनेक भारतीय लेखकों को स्मृति और विस्मृति की दो नावों पर सवार करा कर धार में डालती रही है। यह नौकायन किसी के भी कौशल पर भारी पड़ता है और शिवमूर्ति अपवाद नहीं हैं।

5

मैं समझता हूँ कि मैं शिवमूर्ति के लेखन की सामर्थ्य और सीमा दोनों के बारे में अपनी पहुँच जाहिर कर चुका हूँ। वे हिन्दी के औसत लेखक से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनके पास कुछ चित्र और दृश्य हैं जो स्टूडियो में तैयार नहीं किये गये हैं, घटित वास्तविकताओं की छाया-प्रतियाँ हैं। किनतु वे अपने 'स्लाइड प्रेजेन्टेशन' में, अपनी प्रस्तुतियों औरव्याख्याओं में, औसत हिन्दी लेखक की स्वर-संगति में विलीन होने को अपनी उपलब्धि मानते हैं। उनको पढ़ते समय वह सारा सोंधापन नथुनों में समाता है जिसका अपनापन हमें अपनी ओर दुर्निवार बल से खींचता है किन्तु 'बाजार' की समाई कहाँ तक हो चली है यह देख कर दुख भी होता है और अपने खेत-खलिहान की चिन्ता भी बढ़ जाती है। हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण नामों के साथ-साथ वे भी दुकान ऊँची करते-करते पकवान पर बैठती धूल की ओर से लापरवाही हो चले हैं।

हो सकता है 'लापरवाह' सही शब्द न हो क्योंकि उनके लिखने में एक कचोट तो अभी भी मौजूद है। शायद मैं अपनी बात अधिक साफ तौर पर कह सकूँ अगर मैं उनकी एक शुरुआती कहानी सिरी उपमा जोग की याद करूँ जिसमें नायक अपने उस परिवार से मन में तो असम्पृक्त नहीं हो पाया जिसकी पूँजी और प्यार ने उसे वह अफ़सरी दिलायी जिसकी बदौलत वह एक शहराती बीवी का शौहर बन सका मगर जिसमें इतनी हिम्मत भी नहीं आ सकी है कि वह अपने गाँव में छोड़ दिये गये असहाय बीवी-बच्चों की ओर झाँक कर उन्हें अपना मान सके।

भुवनेश्वर के नाटक आजादी की नींद में एक वाक्य है : ''जैसे अधमुए आदमी के मुँह में भी गंगाजल टपकाया जाता है, तुम्हें भी ईमानदारी की बात सुनानी पड़ेगी''। जिसे 'लेखक के ईमानदारी' कहा जाता है वह इसी संकल्प का नाम है किन्तु जिस लेखक को लगता हो कि मर रहे आदमी के मुँह में गंगाजल टपकाना ढोंग है उसे फिर यह संकल्प

लेना भी ढोंग ही लगता है और वह ईमानदारी की बात सुनाने के नाम पर उस पार्टी का मैनिफेस्टो बाँचने लगता है जो उसे मंच पर जगह दे दे क्योंकि पार्टी का मैनिफेस्टो अधमुए के मुँह में गंगाजल नहीं, मुए के मुँह में (भुवनेश्वर के उसी नाटक से शब्द लेते हुए) ईमानदारी की मोमियाई टपकाने का दावा करता है। मुझे भय है कि शिवमूर्ति भी इस समय घर छोड़ कर मंच पर खड़े हैं।

टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ

माना जाता है कि यह उद्धरण टामस कार्लाइन का कथन है। सैमुएल्सन की पुस्तक 1948 में प्रकाशित हुई थी। खेद है कि बीच में किसी संस्करण में कभी बदल कर इसे इस प्रकार कर दिया गया है, ''आप सिर्फ ''माँग और आपूर्ति'' रटना सिखा कर एक तोते को अर्थशास्त्री नहीं बन सकते।'' मैं यह बात 2010 में आये 'विशेष भारतीय' उन्नीसवें संस्करण (2010) के आधार पर कह रहा हूँ; पता नहीं यह अर्थशास्त्र को भारतीय योगदान है या अमेरिकन संशोधन। जो भी है, एक असहिष्णु नकचढ़ेपन का प्रमाण है।

''वैसे यहाँ यह जोड़ना जरूरी है कि मेरे एक मित्र ने मेरी राय से नाइत्तिफ़ाक़ी ज़ाहिर करते हुए यह कहा कि शिवमूर्ति के ब्यौरे सहज हैं जबकि नीलाक्षी सिंह के ब्यौरे किसी पढ़ी-लिखी महिला के दिये गये ब्यौरों जैसे हैं। मैं इससे सहमत हूँ मगर मुझे पढ़ा-लिखा होना कभी अवगुण नहीं लगा अतः मैं इसे आपत्तिजनक नहीं मान पाया हूँ। मेरे एक अन्य मित्र ने मेरी राय से इत्तिफाक करते हुए कहा कि नीलाक्षी सिंह 'घट रही घटनाओं की कहानीकार हैं जबकि शिवमूर्ति घट चुकी घटनाओं के'।

मैं इसे दूसरी तरह से कहना पसन्द करूँगा। लेखक कुछ देख कर ही लिखता है किन्तु यदि वह अखबार तक ही देखता है तो उसका लिखना प्रयोजनहीन है क्योंकि वह वही देख रहा है जो पत्रकार ने लिख रखा है या यों कहें कि उसकी आँखें अखबार से ढँकी हैं। लेखक तो वह तभी बनता है जब वह अखबार आँखों के आगे से हटा कर खुद देखना प्रारम्भ करता है। इसमें 'कल्पना' और 'यथार्थ' जैसे पारिभाषिक अप्रासंगिक हैं और राजनीतिक पक्ष क्या है यह भी। उदाहरण के लिए शिवमूर्ति का त्रिशूल, दूधनाथ सिंह का आख़िरी कलाम और नीलाक्षी सिंह का परिन्दे का इन्तजार सा कुछ..., तीनों ही बाबरी मस्जिद ढहाने के सन्दर्भ की कहानियाँ हैं और तीनों में लेखक का राजनीतिक पक्ष समान है किन्तु त्रिशूल के लेखक की आँखें अखबार से ढँकी हुई हैं, आख़िरी कलाम के लेखक की एक आँख अखबार पर है जहाँ से टीपते हुए जहाँ पर छपाने का इरादा दूसरी आँख से झलक रहा है और परिन्दे का इन्तजार सा कुछ...के लेखक ने आँखों के आगे से अखबार हटा कर लिखना शुरू किया है। मैं कुछ हद तक यह मानने को तैयार हूँ कि त्रिशूल और आख़िरी कलाम का निश्चित लेखकीय भदेस इसलिए है कि दोनों के लेखक घटना के समय वयस्क थे और अपनी मौजूदगी दर्ज कराने का उतावलापन उनकी निजी आवश्यकता थी जबकि परिन्दे का इन्तजार सा कुछ...के लेखक की अवस्था की घटना के समय कुल चौदह वर्ष थी और हिन्दी संसार उनके लेखकीय हस्तक्षेप की व्यग्र

प्रतीक्षा नहीं कर रहा था, किन्तु ऐसे आँकड़े लेखकीय मानस को समझने में साधक न हो कर बाधक ही होते हैं। उदाहरण के लिए यह तो कहा ही जा सकता है कि परिन्दे का इन्तजार सा कुछ...की मौजूदगी अयोध्या 1992 के रजिस्टर में दर्ज होने के लिए नहीं गुजरात 2002 के रजिस्टर में दर्ज होने के लिए है फिर भले ही इसमें घटना अयोध्या 1992 वाली है। हम हिन्दी आलोचना-जगत् की यह परिस्थिति क्यों भूल जायँ जिसमें अज्ञेय की स्वीकृति इस आधार पर बना ली गयी कि उन्होंने विभाजन पर लिखा था और इस प्रकार वे यशपाल और भीष्म साहनी से पहले ही प्रगतिशील हो चुके थे।

मेरा पाठकीय अनुरोध सर्वदा यह रहा है कि हम हिन्दी आलोचना-जगत् की यह परिस्थिति भूल जायँ जिसमें अज्ञेय की स्वीकृति इस आधार पर बना ली गयी कि उन्होंने विभाजन पर लिखा था और मैं अपनी तथा इन दो मित्रों द्वारा की गयी टिप्पणियों को दर्ज न करता मगर से वाक्य यथार्थतः कहे गये हैं अतः इन उद्धरणों को 'तुलनात्मक आलोचना' कहने की जगह 'भोगा हुआ यथार्थ' कहा जाना चाहिए।

और सभी भोगे हुए यथार्थों की तरह ही, इन तीन टिप्पणियों में अवतरित भोग हुए यथार्थ को भी साहित्य और साहित्य चर्चा से बाहर ही मानना चाहिए।

ख्यात कवि, आलोचक तथा चिंतक। कई पुस्तकें प्रकाशित। निराला की कविता 'राम की शक्ति पूजा' पर विशद व्याख्या एवं भाष्य। यह पुस्तक 'छंद छंद पर कुमकुम' शीर्षक से प्रकाशित। आई.आई.टी. दिल्ली से प्रोफेसर के पद से सेवानिवृत्त।

सम्पर्क : दक्खिन दरवाजा

निकट भारतीय स्टेट बैंक, बस्ती-272002, उत्तर प्रदेश

मोबाइल–08765934624

श्रीराम त्रिपाठी

स्त्रीत्व विमर्श की दास्ताँ

'तद्भव' के चौबीसवें अंक में प्रकाशित शिवमूर्ति की कहानी 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' पढ़ने के बाद लगा कि यह कहानी आज के उपभोक्तावादी दौर के बिखराव और उथलेपन का सशक्त प्रतिकार है। हिन्दी साहित्य में मुझे धनिया और होरी से श्रेष्ठ प्रेमी कोई दूसरा नहीं दिखता। इस कहानी के मामा-मामी का प्रेम वस्तुतः होरी-धनिया के प्रेम की ख़ुराक से ही विकसित होता लगता है। यह दौर सम्भ्रम फैलाता है, इसलिए सम्भ्रान्तवादी है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर यह धुर व्यक्तिवादी है, जिसने हर किसी को अकेला और लम्पट बना दिया है। उपभोक्तावाद में हर चीज़ बिकाऊ और क्षणिक होती है, दीर्घायु नहीं। व्यक्तिवाद संकोचता है, जबकि व्यक्ति स्वातन्त्र्य गहनता और विस्तरता। उत्तरदायित्व का भावबोध गहन प्रेम को उपजता है। प्रेम तो जीवन की आँच में तपने पर ही पुष्ट होता है। इस प्रकार यह दो कर्मठों के तपते प्रेम की कहानी है। तो आइए कहानी में चलें, क्योंकि इसमें जो पात्र हैं, वे सड़क पर रपटते नहीं, माटी में लिपटते हुए चलते हैं। ये माटी से बने लोग माटी को बनाते भी है, इसलिए कूर्म लोग हैं। धरती इन्हीं की पीठ पर टिकी है।

''माधोपुर से शिवगढ़ तक सड़क पास हो गयी।'' ख़ुशी की बात है। ''मैं कई बार गया हूँ इस रास्ते पर। मामा के गाँव माधोपुर से मामी के गाँव शिवगढ़ तक।'' तब तो और ख़ुशी की बात है। जब मन करे, मामा-मामी के गाँव रपटो। मगर मामा-मामी का घर-गाँव तो एक होता है। ये कैसे मामा-मामी हैं, जिनके घर अलग-अलग गाँव-जिले में हैं। ''मामा के घर से निकलते ही मामी के जिले की शुरुआत हो जाती है। मामा का घर एक जिले में और सामने के खेतों में से आधे दूसरे जिले में।'' 'मेरे साजन हैं उस पार, मैं इस पार' के बीच दरिया है, जो मामा-मामी के मिलने में बाधक है। फिर

मामा-मामी मिलते कैसे हैं, या मिल ही नहीं पाते? भाँजा मानो इनके बीच का सेतु हो। नहीं, सेतु नहीं, सड़क। पक्की सड़क। अब मामा-मामी के मिलने में कोई बाधा नहीं। समाज से बड़ा दरिया भला कौन हो सकता है! पहले समाज हमें वहता (बहता) है, फिर हम समाज को वहते हैं। ऐसा ही होता आया है। यहाँ मामा-मामी का व्यक्तिगत प्रेम पुष्ट होकर सामाजिक प्रेम को वहने लगता है। तो मामा-मामी लगे होने पर भी अलग-अलग गाँव में ही नहीं, ज़िले में क्यों रहते हैं? ''बड़के मामा सत्रह साल के ही थे जब नानी विधवा हो गयीं। नाना इलाके के नामी लठैत थे। किसी जमीन की बेदखली के लिए जमींदार की ओर से लाठी चलाने गये थे। लाठियों की तड़तड़ाहट के दौरान अपना पक्ष कमजोर जान कर बाकी साथी भाग खड़े हुए। नाना घिर गये। कई लाठियाँ पड़ीं। डोली खटोली पर लाद कर लाये गये। अंग्रेज का राज था। अस्पताल वगैरह जाने का रिवाज नहीं था। पाँच दिन तक ओसारे में कराहने और हल्दी माठा पीने के बाद मर गये। मरते समय बड़के मामा का हाथ पकड़ कर कहा-सबको तुम्हारे भरोसे छोड़ कर जा रहा हूँ। पार घाट लगाना।'' ''मामा ने अपने सीने पर नाना का दाहिना हाथ रख कर उन्हें आश्वस्त किया था और उनके बहते आँसुओं को अँगोछे के कोने से धीरे धीरे पोछा था। तब सबसे छोटे मामा नानी के गर्भ में थे।'' यहाँ नाना की मौत का सपाट ज़िक्र है। मानो उनकी मौत के जिम्मेदार वे खुद थे। जैसे काम करते थे, वैसे का अंजाम ऐसा ही होना था। अपने कर्मों का बोझ मामा पर डालकर हमेशा-हमेशा के लिए सुखी हो गये। मामा को सत्रह साल की उम्र में ही चार भाइयों का बाप बनना पड़ा। ''मामा ने नाना की जिम्मेदारी सम्भाली। नाना की तरह मामा की लाठी भी सरनाम हुई।'' पिता के गुण से सम्पन्न होरक मामा ने खुद में एक अतिरिक्त गुण जोड़ा, ''बड़के मामा की प्रसिद्धि आसपास के गाँवों में 'पदी' अर्थात् पद या न्याय करने वाले के रूप में फैली। जिस पंचायत में वे पंच होकर जाते उसमें भरसक अन्याय न होने देते। अपने निर्णय को लागू कराने में वे लाठी का सहारा लेने से भी नहीं हिचकते थे। ऐसे न्यायी आदमी को भारी अन्याय झेलना पड़ा। जिस जमींदार की ओर से लाठी चलाने के दौरान नाना की मृत्यु हुई थी, वही जमींदारी उन्मूलन के बाद मामा द्वारा जाते बोये जा रहे खेतों से उन्हें बेदखल करने लगा।'' इससे मामा के कठिन संघर्ष की एक झलक मिलती है।

''मामा नौ साल के ही थे जब नाना ने उनका विवाह कर दिया था। लेकिन गौना आने को हुआ तो एक पेंच फँस गया। मामी अपने माँ बाप की अकेली सन्तान थी। शादी के समय उनके पिता ने शर्त लगायी थी कि दूल्हे को ससुराल में आकर रहना पड़ेगा। नाना ने इस शर्त को मान लिया था क्योंकि उस समय तक मामा चार भाई हो चुके थे। खेत कम थे। नाना यह सोच कर खुश हुए थे कि एक बेटे का गुजारा ससुराल में हो जायेगा और मामी के माँ बाप के लिए बुढ़ौती में सहारा भी हो जायेगा। लेकिन नाना के असमय चले जाने के चलते यह समीकरण प्रभावित हो गया।'' ''मामा का तर्क था—मैंने मृत्यु सेज पर लेटे पिता को वचन दिया है, माँ और छोटे भाइयों के भरण पोषण का। इनको असहाय छोड़ कर ससुराल जाकर बसना अब कैसे हो सकता है?'' ''मामी का

तर्क था—इसी शर्त पर विवाह हुआ है कि जमाई ससुराल आकर बसेंगे। यदि वे अपनी माँ और भाइयों को छोड़ कर नहीं आ सकते तो मैं अपने माँ बाप को बेसहारा छोड़ कर कैसे चली आऊँ?'' इस तरह मामा-मामी अलग-अलग गाँव-ज़िले में रहते हुए भी अपने प्रेम-बेलि को सींचते रहे। वह प्रेम-बेलि फूली ही नहीं, फली भी; परन्तु वे उसका उपभोग नहीं कर सके। उन्होंने अपने कर्म को केवल भोगा, उसके फल का कभी उपभोग नहीं किया; जो उपभोक्तावाद का भोगवादी प्रतिकार होने के कारण हमें टीसता है। अनायास, यानी, आसानी से मिलनेवाला प्रेम ही उपभोक्तावादी प्रेम है, जिसमें न कोई जिम्मेदारी होती है, न कोई लगाव होता है। प्रेम की ख़ुराक़ आसानी नहीं, कठिनाई है। कठिनाई खाकर ही प्रेम पुष्ट होता है, इसीलिए वह हर किसी के वश का नहीं होता। कबीर ने भी 'खाला का घर नाहिं' के द्वारा इसी को स्पष्ट किया है। न मामा ने अपने भाइयों और माँ को बेसहारा छोड़ा, न मामी ने अपने माँ बाप को। इस तरह दोनों अपनी-अपनी जिम्मेदारियाँ निभाते हुए अपने प्रेम को कठिनाई से सींचते रहे। उपभोक्तावाद गुणवादी नहीं, रूपवादी होता है। तभी तो उसने शारीरिक प्रेम को आत्यन्तिक रूप से सुलभ कराकर भीतरी (गहन) प्रेम को अत्यन्त कठिन बना दिया है। वह शरीर के भीतर उतरने में असमर्थ है। वह तो चिकने-चमकीले शरीर पर ऐसे सरकता है, जैसे सड़क पर मोटर कार सरकती है। समय की कमी है उसके पास। अत्यन्त तीव्रता से वह अपने उस गन्तव्य को पहुँच जाना चाहता है, जिसका उसे पता ही नहीं। केवल गति। तीव्र गति। स्थिति के लिए कोई अवकाश नहीं। वह तो पुराना है। नया तो केवल गति है, वह भी तीव्र गति। जो जितनी तीव्र गति करेगा, वह उतनी ही तीव्रता से नया होगा। वह नहीं जानता कि स्थित भी गतिशील हो सकता है और गतिशील भी स्थित। शरीर के भीतर जीव है। मन है। उसके भीतर अन्धेरा और उमस है, जिसमें उतरना उसे त्रासद और स्थित होना लगता है। वह समझता है कि भीतर उतरे तो पिछड़ जायेंगे। वह उपरे-ऊपर प्रेम करता है, इसीलिए ऊपर को भागता और उपभोगता है। भोग तो उसके अनुसार निकृष्ट है। वह नहीं जानता कि जिस फल के लिए वह ऊपर भाग रहा है उसका उत्पादक भोक्ता है, उपभोक्ता नहीं। भोगना मूलगामी है, जिसमें भीतर उतरना पड़ता है। वह भीतर के अन्धेरे को प्रकाशित करके प्रकाश की रचना करता है, जबकि उपभोक्ता प्रकाश में भ्रमण को ही प्रकाश की रचना मानने के कारण भ्रम में रहता है। इसलिए वह कभी स्वावलम्बी नहीं बन पाता, हमेशा परावलम्बी ही रहता है।

इस कहानी का विन्यास वर्तमान से अतीत होता हुआ पुनः वर्तमान में आता है। ''परिवार बढ़ने के साथ साथ खाने पीने की दिक्कतें भी बढ़ी। कई दिशाओं से आयी बहुओं में खींचतान और कौआरोर बढ़ा। दो मामा के परदेश चले जाने के बार भी दिक्कतें कम नहीं हुई तो मामा खुद भी दो तीन बार परदेश कमाने गये।...शाम को साथ बैठ कर उन दिनों की चर्चा छेड़ने पर मामा कलकत्ता के साथ अमरनेर की चर्चा करते थे। अमरनेर में आमिना नाम की एक स्त्री थी जो रेल इंजन के नीचे गिरा हुआ अधजला कोयला बीन कर बेचती थी। अकेली थी। उसने तीन महीने तक मामा के लिए रोटी

सेंकी थी। मामा के कनस्तर से आटा निकाल कर रोटियाँ सेंक कर रख जाती थी। मामा ने उसका गाया एक गीत सुनाया-केथुआ से छाया मक्का मदीना, केथुआ से छाया अजमेर। ख्वाजा ओ मेरे पीर-सुनाते सुनाते उनकी आवाज़ भर्रा गयी। आँखें सजल हो गयीं।'' ''एक बार गया था मैंने! लेकिन कपड़ा उतारने पर देखा, कितना फोड़ा फुँसी। नीचे देह एकदम सड़ गयी थी। मैं भाग खड़ा हुआ। रुपया पहले ही दे चुका था।'' शिवमूर्ति ने मामा के कमज़ोर क्षणों को ही नहीं, मामी की परवशता और पीड़ा को भी उजागर किया, ''बिना मर्द का परिवार बेसहारा होता है। मुझे सहारे की जरूरत थी। पति का सहारा नहीं मिला तो बेटे के सहारे की आस में अन्धेरी उजेली रात में दो कोस बीहड़ पार करके उनके पास पहुँचती रही। अपनी पसंद के किसी भी आदमी से बेटा पाने की राह दुनिया ने रूँध न रखी होती तो मैं उतनी दूर दौड़ कर क्यों जाती?'' आज का स्त्री विमर्श इसे पुरुषवादी सोच क़रार देगा, परन्तु एक स्त्री की माँ बनने की कामना क्या सहज नहीं है? धारण करने की क्षमता स्त्री के पास है। अगर वह धारण करने में इनकार कर देगी, तो क्या वह उसका अपने स्त्रीत्व को नकारना नहीं होगा? पुरुष और स्त्री का संघर्ष और संयोजन ही मनुष्य और मनुष्यता का आधार है। स्त्री की शक्ति पृथ्वी की तरह उसकी धारण-शक्ति में निहित होती है। जिसकी धारण-शक्ति जितनी अधिक होगी, वह उतना ही ज़ियादा आकर्षक होगा। स्त्री का आकर्षण लघु और पृथ्वी का आकर्षण गुरु होता है। अपने गुरुत्वाकर्षण से वह सबको आकर्षित करने में सफल होती है। स्त्री का लक्ष्य गुरुत्वाकर्षण है। वह अपने लघ्वाकर्षण को निरन्तर गुरु में रूपान्तरित करती है। इस तरह वह ख़ुद को निरन्तर पृथ्वी के गुण से सम्पन्न बनाती है। जिस तरह जीव की कल्पना रूप के बिना मुमकिन नहीं, उसी तरह स्त्री के बिना मनुष्य और मनुष्यता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्त्री के पौरुष का प्रतीक है उसकी सन्तान। स्त्री गुण है और पुरुष रूप। गुण और रूप के समन्वय का ही नाम सन्तान है। स्त्री का जनना ही उसका रूपना है। दाय में प्राप्त परिस्थितियों से मामी का संघर्ष उनके व्यक्तित्व को धुँधला नहीं, चमकीला बना देता है। मामी अपने आत्मबल के द्वारा सामाजिक बन्धनों को स्वीकारते हुए भी अस्वीकारती है। अगर ऐसा नहीं होता तो उसका प्रेम दन्त कथा नहीं बनता। इसी तरह के वास्तविक चरित्र वर्तमान में दन्त कथा बनते हैं। दन्त कथा का आधार श्रुति है। मतलब कि वह भिन्न-भिन्न कथाकारों के माध्यम से गहनती हुई विस्तरती है। काल के अन्तराल और कथाकार की वाक्-छटा के कारण उसमें श्रुति प्रधानता और कल्पना के तत्त्व जुड़ जाते है, जिससे श्रोता अनुरन्जित होता है। चैतू में यह गुण है। चन्द झाँकी देखिए, ''बेटी ने माँ बाप को रात का भोजन करा दिया। जानवरों को चारा दे दिया। बर्तन धुल लिए लेकिन माँ के पीने के लिए पानी रखना भूल गयी। और जब बताने गयी कि दरवाजे की कुन्डी लगा लो, मैं जा रही हूँ तो बिगड़ गयी बुढ़िया-कितनी आग लगी है तेरी देह में? मेरा पानी क्या तेरा भतार आके रखेगा? तू ही रोज रोज दौड़ कर जायेगी? वह क्यों नहीं आता? उसकी गरज नहीं है? इसी दीदे से तू उसे कब्जे में करेगी?'' ''बेटी पानी पानी हो गयी।'' कितना क्रूर यथार्थ है यह। माँ के ये कथन भद्दी गाली नहीं हैं,

तो क्या हैं? सच्चा प्रेम ऐसे ही क्रूर यथार्थ को पचाकर (सहकर) विकसित होता है। अकसर हम बाहरी वातावरण ही क्रूरता से घबराकर पलायन कर जाते हैं। ''लोग क्या कहेंगे!'' के रूबरू होकर संवाद करने के बजाय उसके अन्तर्गत होकर अपने अस्तित्व को सिकोड़ने लगते हैं। साहित्य मरणधर्मी नहीं, जीवनधर्मी होता है। परन्तु मामी को तो उनका भीतर (माँ) ही पीड़ता है। चोटिल होने के बावजूद वह क्रियात्मक प्रतिकार करती है, शब्दात्मक नहीं। मतलब कि मामा से मिलने जरूर जाती है। परन्तु माँ के कथन 'तू ही रोज रोज दौड़ कर जायेगी? वह क्यों नहीं आता?'' से आहत मामी इसकी सत्यता का परीक्षण भी करती है। इसीलिए इस बार मिलने मामी नहीं आयेंगी, बल्कि मामा जायेंगे। मामा ने जोगिन तरई के एक बाँस ऊपर चढ़ने पर आने को कहा है। परन्तु–

'जोगिन तरई एक बाँस ऊपर चढ़ी, फिर डेढ़ बाँस। वे नहीं आये। माख से उनकी आँखों में आँसू आ गये-मैं नहीं जाऊँगी।

जोगिन तरई दो बाँस ऊपर चढ़ गयी।

उस दिन कुदाल लग गयी थी पैर में। मालिस करते समय देह हल्की हल्की गर्म लग रही थी। कहीं बुखार तो नहीं आ गया?

लेटे नहीं रहा गया। उठीं। आगा पीछा करते मन को समझा कर निकल पड़ी। बाँस का पुल पार करने के बार भादों की चाँदनी में देखा-सामने से आती धुँधली छाया।

तो इतने दिनों बाद सामने आने की हिम्मत किया मरदहवा के भूत ने। आने दो। अरे, यह तो वे हैं।

-अब आने की जून हुई आपकी? आधी राम के बाद?

-आँख झपक गयी।

-झूठ मत बोलो। जब घर में ही पान सुपारी खाने को मिल जाता है तो...

-मामा ने हँसते हुए उन्हें लपक कर बाँहों में भर लिया-चलो।

-उधर नहीं, इधर।

-दो तिहाई रास्ता तो चल चुकी। वह सामने रहा माचा।

-उससे क्या? आज तुम्हारी बारी थी। मामी ने झटके से खुद को मुक्त किया और मुड़ चलीं।'' दिनभर अपनी जिम्मेदारियों से जूझते कर्मठ लोग नींद में से थोड़ा समय एक-दूसरे के लिए बचा ही लेते हैं। ज़रा विचार कीजिए, माँ से आहत पति का इन्तज़ार करती मामी की मानसिक स्थिति का, जिसमें वह खुद ही मामा के पास जाने लगीं और उधर मामा की आँख खुली तो उनकी क्या दशा हुई होगी? आँखें मलते तुरन्त उठ भागे होंगे न। तभी तो एक तिहाई रास्ते पर मामी से मुलाकात हो गयी। ये छोटे-छाटे संवाद भावार्थ में कितने मार्मिक और गहन हैं। मामी अपने सवाल का जवाब कि ''आँख झपक गयी।'' को क्या सचमुच का झूठ मानती है? नहीं, अगर झूठ मानती तो लड़-झगड़ कर वापस नहीं लौट जाती! मामी जानती है कि दिनभर की झंझटों से थककर मामा की आँख लग गयी होगी। दोनों में अविश्वास की रत्तीभर भी जगह नहीं है। मध्यवर्गीय प्रेम में ऐसा क्यों नहीं होता, बात-बात में अविश्वास को जगह क्यों मिल जाती है? शारीरिक-मानसिक कर्म

के संयोग का ही नाम निर्माण है। मानसिक कर्म के अभाव में बौद्धिक कर्म शुष्क हो जाता है। इससे एक ओर जहाँ बुद्धि का तनाव बढ़ता है, तो दूसरी ओर मन खुद को उपेक्षित महसूस करता है। उपेक्षा की चोट बड़ी घातक होती है। इससे चोटिल मन में अविश्वास और असन्तोष पनपने लगता है। कर्मठ लोग दिनभर किसी न किसी निर्माण में लगे रहते हैं। बिना गहनता के निर्माण करना मुमकिन नहीं। देशी में एक कहावत है, ''जल्दबाजी का काम भूत का।'' आज का समय जल्दबाज है और भूत की तरह वर्तता है। भूत का वर्तन वर्तमान में कभी सार्थक हो सकता है? चिन्तकों का काम है, इसे वही जानें। हम तो पाठक-भावक ठहरे, इतना ही जानते हैं कि सर्जकों का मन सन्तोषी होती है। सन्तोषी को पचाने के बाद उनमें असन्तोष जनमता है, जो पहले से बेहतर के निर्माण का कारण बनता है। उपभोक्तावादी प्रेम में असन्तोष ही असन्तोष होता है, उसमें सन्तोष को पचाने का न माद्दा होता है, न अवकाश। वहाँ तो असन्तोष का विस्तृत आकाश है। कहने के लिए कोई भले कह ले कि प्रेम सम्-बन्ध है, मगर है वह विसम् ही। पुरुष एकगुणी तो स्त्री द्विगुणी होती है। इन्हीं का गुणन त्रिगुण कहलाता है। प्रेम त्रिगुणात्मक होता है मामा के कथन ''दो तिहाई रास्ता तो चल चुकी में जैसे इसी का स्वीकार हो। मामी का संघर्ष मामा से दो गुणा होने पर भी वह उनसे कोई शिकायत नहीं करती। दोनों अपने-अपने संघर्षों से जूझते हुए अपने एकनिष्ठ प्रेम को त्रिगुणात्मक करके पल्लवित करते हैं। सामाजिक जिम्मेदारियों का गहरा दरिया इनके प्रेम को रोक नहीं पाता। नदी की बाढ़ जैसे मामी की द्विगुणी बाढ़ में समा जाती है। एक गुणी मामा में वह क्षमता कहाँ, जो नदी की बाढ़ को अपने में समो लें। पुरुषार्थ तो स्त्री का होता है। पुरुष का कैसा पुरुषार्थ! स्त्री के पुरुषार्थ का ही नाम प्रेम है। गहन प्रेम का लगाव कभी सामान्य नहीं, हमेशा विशेष होता है। यह विशेषत्व ही उसे एकनिष्ठ बनाये रखता है। ''बहुत कठिन है डगर पनघट की''। इस डगर पर केवल शक्तिशाली और कर्मठ लोग ही चल सकने के कारण कह सकते हैं कि ''क्या भर लाऊँ मैं जमुना से मटकी?'' अकर्मण्य पानी के लिए तरसेंगे, मगर पनघट तक जाने की जद्दोजहद नहीं करेंगे। उस कठिन डगर पर तो कर्मण्य ही चल सकते हैं। जरा भी समय गँवाये बिना कितनी तत्परता से कह दिया कि ''क्या भर लाऊँ मैं जमुना से मटकी।'' उपभोक्तावादियों के लिए तो पनघट की डगर हमेशा कठिन ही रहेगी। कभी भी आसान नहीं हो पायेगी। मामी ने जिस कठिन ज़मीन पर चलकर राह बनाई, वह दूसरों के लिए आसान होने के बावजूद कठिन लगती है, इसीलिए तो अब सड़क बन गयी है। ऐसे सुविधाभोगी, क्या कभी प्रेम की राह चल सकेंगे? वे तो अपनी तरस बुझाने के लिए हमेशा पराश्रित ही रहेंगे। बाज़ार कभी सन्तुष्ट नहीं करता, क्योंकि उसका असन्तोष बनावटी होता है। वास्तविक और गहन सन्तुष्टि-असन्तुष्टि तो स्वाश्रय से आती है, जो अत्यन्त कठिन है। आज के बाज़ारू प्रेम पर क़रारा व्यंग्य है यह कहानी ।

हमारे यहाँ कृष्ण-कथा को श्रेष्ठ प्रेम-कथा का दरज़ा हासिल है, जो यथार्थ में तो मुग्धावस्था का बचपना है। जिसमें न जीवन की जटिलता है, न आपसी विरोध। निर्द्वंद्व प्रेम कैसा और काहे का? बाहरी आकर्षण को ही हमने प्रेम का आदर्श बना दिया, जो

बाद में रईसों के मनोरंजन का साधन बन गया। प्रेम का आदर्श तो शिवता है। प्रेमी और प्रेमिका, व्यक्ति और समाज; सभी का कल्याण करता है। मामा के गाँव का नाम है। माधोपुर और मामी के गाँव का नाम है शिवगढ़। यह आकस्मिक नहीं है। मामा माधोपुर का प्रतिनिधित्व करते हैं और मामी शिवगढ़ का। माटी के माधो का मुहावरा तो सुना ही होगा। गुणहीन। अपने मन से कुछ करने में असमर्थ। शिवगढ़ में रहनेवाली मामी का चरित्र खुलता है, तो उसके भीतर शिवगढ़ नज़र आता है। मतलब कि वे शिव का गढ़ हैं। शिव उनके भीतर वासता है। माटी के माधो मामा को भी वे शिवगढ़ में रूपान्तरित कर देती हैं। इस तरह कृष्ण-कथा के प्रेम-कथा का श्रेष्ठत्व टूटता है और शिव के प्रेम-कथा का श्रेष्ठत्व स्थापित होता है। शिव की प्रेम-कथा के मूल में कर्मठता है। कर्मठता ही सिरजती है। सिरजन के अन्तर्गत केवल निर्माण ही नहीं आता, संभोग से लेकर जनन, पालन-पोषण तक आता है। निर्मिति के अपने हाथ-पैरों पर खड़े होने तक की सारी क्रियाएँ सिरजन के अन्तर्गत आती हैं। सृंजन को एकार्थी बनाकर हमने अपनी अकर्मण्यता को छिपाया है।

सड़क बन जाने पर भाँजा मामा को जीप में बिठाकर मामी के गाँव ले जाता है। अत्यन्त भावमय दृश्य है यह। नब्बे वर्षीय मामा-मामी ने जिन जिम्मेदारियों को वहा, अब उन्हें मामा-मामी को वहना चाहिए, परन्तु वे इसके लिए राजी नहीं। अभी भी वे अपनी जिम्मेदारियों को वह रहे हैं, जिम्मेदारियाँ उन्हें नहीं वह रहीं हैं। न जाने कितने बरस बाद मिल रहे हैं, परन्तु उनका प्रेम कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ा है। भाँजे के पूछने पर कि ''कितने दिन हुए भेंट किये?'' ''पोंपले मुँह से बेबस मुस्कराहट बिखेरते हुए बोले-यह भी अब कहाँ याद है।'' मुलाक़ात याद नहीं है। मुलाक़ात अलगाव का सूचक है। जहाँ हमेशा लगाव ही हो, वहाँ मुलाक़ात के याद रहने का सवाल ही कहाँ उठता है। भाँजे के कथन कि ''चलिये आज मामी के घर चलते हैं। मैं आज आप ही दोनों लोगों से मिलने के लिए निकला हूँ।'' के जवाब में मामा के कथन में मिलने की उत्सुकता लाख दबाने पर भी छलक ही जाती है, ''अब कौन सा मुँह लेकर उनसे मिलने चलूँ? जब उनको जरूरत थी तब तो गया ही नहीं। अब तो मर कर ही मिलेंगे।'' प्रेम में तो अपनी खोट दिखती है, दूसरे की नहीं। कुसूरवार स्व होता है, न कि पर। वह तो हमेशा प्र (श्रेष्ठ) ही रहता है। ''अब तो मर कर ही मिलेंगे।'' में मिलने की गहनता छिपी है। सारी जिम्मेदारियों से मुक्त होकर, क्योंकि वे ख़ुद ही उनसे दूर होती जा रही हैं। मिलने पर मामा-मामी के संवाद सुनिये–

''मैंने पैर छूकर अपना नाम गाँव बताया तो देर तक असीसती रहीं फिर मामा को देखने की कोशिश करते हुए पूछा-केस अहा?

-भले अही!

-मुँड़वा कै पिरबवा बन्द भा कि नाही?

पता चला चार पाँच महीने से मामा का सिर दर्द कर रहा है। मामी को कैसे पता लगा होगा?

-अब ऊ मरेन पै बन्द होये।

थोड़ी देर बाद मामा ने पूछा-तू भले अहा?

-जियरा जियत बा।

-चला, दूनो जने एक रोटी खाइल्या।''

मामी ने अपने लिए केवल दो रोटी पकाई है, ''एक रोटी तवे पर थी, दूसरी मामी की हथेली पर। थाली खाली थी।'' उसी रोटी को वह दोनों जने को खिलाने को कह रही है। भारतीय स्त्री हमेशा भोगने के उपरान्त ही उपभोगती है। दूसरे के द्वारा पकाये गये खाने का उपभोगना होता है, भोगना नहीं। यह अलगाव का लगाव है, या लगाव का अलगाव। नहीं, दोनों का गुणन है।

रचना-कर्म साधना ही नहीं, त्रिआयामी साधना है, जिसे कम ही लोग साध पाते हैं। शिवमुर्ति ने इसे साधा है, जिससे कहानी का अन्त अत्यन्त मार्मिक और प्रभावशाली बन गया है। भैने के साथ मामा भी चलने को होते हैं। मामा ससुराल आये हैं। ऐसे में हँसी-मज़ाक न हो, तो ससुराल काहे की! देखिये–

''-अरे, आप इतनी जल्दी कैसे चले जायेंगे ननदोई? रमेसर की दुलहिन ने आवाज में मिठास भर कर ठनगन किया-बिना नेग चार लिए दिये चले जायेंगे?

-चलो, नेग में तुम्हीं को लेकर चलते हैं। मामा ने भी अपनी आवाज़ में मिठास भरा और चारपाई के नीचे हाथ बढ़ा कर अपनी लाठी खोजने लगे।

चुप रहिये। हमीं फालतू हैं लबार आदमी के साथ जाने के लिए? जिसको दिया गया था उसको तो सम्भाल ही नहीं पाये, फिर घूँघट वाली स्त्री के कान में कुछ कहा। घूँघट वाली उठ कर अन्धेरे में कहीं चली गयी।

मामा ने एक क्षण मामी की ओर देखा फिर बोले-चलत अहीं!

मामी झुकी कमर को लाठी के सहारे टेके खड़ी थी। उनके होंठ थरथराये लेकिन आवाज नकली।'' इसे मामा ने ज़रूर सुन लिया होगा। इससे उनमें क्या थरथराया होगा? शायद 'रुक जाओ।' शायद ''अपना ख्याल रखना।'' शायद...शायद...शायद

''मामा के बैठने के लिए जीप का गेट खोल ही रहा था कि रमेसर की दुलहिन ने युवती के हाथ से लेकर एक लोटा रंग मामा के सिर और कुर्ते पर डाल दिया फिर हँसते हुए बोली-फागुन में ससुराल आये हैं तो बिना होली खेले कैसे चले जायेंगे?'' ''मामा के मटमैले कुर्ते पर रंगीन धारियाँ बन गयीं। सफेद बाल गुलाबी हो गये। मामा के मुख पर खुशी की छाया तैरी और उन्होंने पद में सलहज लगने वाली रमेसर की दुलहिन को एक मीठी गाली देकर कृतार्थ किया।'' मामा की बिदाई रंग से भिगोकर होती है। यह रंग मामी के प्रेम का है, जिसे व्यक्त करने के माध्यम बनी है रमेसर की दुलहिन। इस तरह मामा का लौटना भी रंगीन हो गया और लौटते हुए मामा भी। जीप का नाले की चढ़ान पर रुकना भी सांकेतिक है। ''रेडिएटर लीक कर रहा था। पानी चू गया।'' मानो पानी को देखकर जीप भी तरस (प्यास) गयी। मामा का अन्तःकरण उस रंग से भीग गया है, तभी तो दूर से आती मद्धिम आवाज़ को कान लगाकर सुनते और पूछते हैं, ''होली आ गयी क्या भैने? यह तो 'फगुआ' की धुन है।'' भैने द्वारा 'हाँ' कहे जाने और

''आप भी तो बहुत अच्छा फगुआ गाते थे मामा।'' की याद दिलाते हुए फगुआ गाने की आग्रह को मामा टालते नहीं। मतलब कि उनके भीतर फगुआ चल रहा है। उचित माहौल और भैने, दोनों उत्प्रेक का काम करते हैं, जिससे मामा के मन की अभिव्यक्ति सुगम हो जाती है। मामा के सुनाने के पहले मैंने कहा कि ''याद कर लीजिए। आज के बाद फिर पता नहीं कब मौका मिले आपसे सुनने का?'' मामा कुछ और सुनते हैं। मामी से उनका यह अन्तिम मिलन है। डेढ़ताल-जिसे 'उलारा' भी कहते हैं—के बिना फगुआ पूरा नहीं होता। मामा के प्रिय फगुआ ''गोरी तोरी नजरिया मा भाला...'' की अभिव्यक्ति न जाने कितनी बार हो चुकी है, मगर इस बार इसकी पूर्ति इस 'उलरे' से होती हैः

सब दिन बसंत जग थिर न रहै
आवत पुनि जात चला... रे...
पपिहरा प्या... रे...
धन धरती बन बाग हबेली।
चंचल नयन नारि अलबेली॥
भवसागर के जल धुलि जइहैं।
तोरे मनवा के रंग दिलवा... रे...
पपिहरा प्या... रे...

मामा का जिस्म नाले पर है, मगर मन तो अभी ससुराल में ही है। तभी तो ''गाने के बाद मामा थोड़ी देर चाँद को देखते रहे फिर बोले-छिनरी ने पूरी भिगो दिया।'' मामा भीग गये हैं मामी के रंग में। वे फगुआ को जितना और जैसा गुणकर गुणवान बने थे, उसे पूरा अभिव्यक्त करके मानो निर्गुण हो गये। परम्परा के अनुसार तो मामी को मामा के घर आना चाहिए था, परन्तु यहाँ तो मामी के घर मामा को जाना था। मानो नाना नामक अतीत ने मामा-मामी के जीवन को दो विरुद्धों, परम्परा-भन्जन और परम्परा-रक्षण, के संयोजन का भार सौंप दिया हो। नतीजा ये निकला कि न मामा के घर मामी आयीं, न मामी के घर मामा गये। दोनों अपने-अपने मायके में ही रहे। ससुराल जाना तो दोनों का नहीं हुआ था। मामा पहली बार ससुराल आये हैं और उसकी तरल रंगीनी या रंगीन तरलता से सराबोर हो गये हैं, परन्तु मामी का ससुराल जाना तो एक बार भी नहीं हुआ। यही टीस इस पूरी कहानी के अधूरेपन को भरने के लिए पाठक को प्रेरती है।

यह कहानी पितृ सत्ता के मातृ सत्ता को गुणती है। मतलब कि मातृसत्ता को नये रूप में स्थापित करती है। इस तरह प्राचीन मातृसत्तात्मक व्यवस्था से जुड़ती है। हम सभी जानते हैं कि मामा की महत्ता आज भी रूढ़ि के रूप में शादी-ब्याह के मौक़े पर दिख जाती है। इस तरह यह कहानी व्यक्तियों की न होकर उनके सम्बन्धों की कहानी है। नैरेटर को वर्तमान पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जगह मातृसत्तात्मक व्यवस्था अधिक आकर्षित करती है, इसीलिए वह वर्तमान से उसे गुणने लगता है। यह गुणन लड़के और कारुणिक होने के बावजूद जीवन-रस से समृद्ध है। कितनी कठिनाई से हम वर्तमान व्यवस्था तक पहुँचे हैं। इस कठिनाई को भुला देने के कारण ही हम जीवन-रस से हीन होते जा रहे

हैं। इस कहानी का स्वरूप आत्मकथात्मक इसलिए है कि लेखक इससे ख़ुद को अलगा ही नहीं सकता। आज का दौर इससे जितना अलग हो रहा है, लेखक का आत्म उतना ही लग रहा है। स्त्री विमर्श का शोर जितना ही बढ़ रहा है, पुरुष सत्ता उतनी ही मजबूत होती जा रही है। स्त्री विमर्श में ज़ोर स्त्रीत्व पर न होकर स्त्री पर है। आज स्त्री-पुरुष शब्द मात्र निर्गुण (गुणहीन) रूप में परिचायक हो गये हैं सगुण रूप के नहीं। इस तरह स्त्रीत्व से हीन स्त्री और पुरुषत्व से हीन पुरुष के वाहक हो गये हैं, जिससे अधिकाँश स्त्री विमर्श मातृ सत्ता के बदले पितृ सत्ता को मजबूत कर रहे हैं। सभी जानते हैं कि महत्त्व सगुण रूप का होता है, निर्गुण रूप का नहीं, बावजूद इसके निर्गुण रूप का ही ज़ोर बढ़ता जा रहा है। अब समझदारों का भला कौन समझाये कि निर्गुण रूप खोखला होता है। यह कहानी बाहर से तो मामा की लगती है, परन्तु भीतर घुसने पर पता चलता है कि यह तो मामी की कहानी है। मामा के भीतर संचरती मामी की कहानी। स्त्रीरूपी मामी के पुरुष, अर्थात् मामा को स्त्री में रूपान्तरित करती। मामा स्त्रीत्व से सम्पन्न स्त्री हैं। वे पराश्रित नहीं रही। न पति पर, न पुत्र पर। वे अपने पौरुष पर आश्रित रही हैं और उसी के बल से आज भी पकाती-खाती हैं। भैने का सोचना कि ''जैसे सत्तर साल की उम्र में मामा को मोतियाबिन्द पका था मामी का भी पका होगा। मामा का ऑपरेशन के लिए मामी का सन्देशा भी आयेगा। लेकिन नहीं आया।'' भारत में स्त्री को शक्ति कहा गया है। प्रेमचन्द की तरह शिवमूर्ति भी स्त्री को शक्ति मानते लगते हैं। पुरुष के शक्तिशाली होने का मतलब उसका स्त्रीत्व से सम्पन्न होना है। मामी अन्त में भी स्वाश्रित ही रहीं, जबकि मामा तो पराश्रित हैं। इस तरह यह कहानी स्त्रीत्व की पौरुषता को रचती है।

इधर साहित्य में बौद्धिकता का आग्रह इतना बढ़ गया है कि कहानियाँ शुष्क, अमूर्त और चिन्तनग्रस्त होने लगी हैं। कहना न होगा कि इसके बरक्स यह कहानी अपने स्थूल मूर्तन में अत्यन्त सरस, सजीव और पाठक के लिए जगह छोड़ती है। सजीव रूप अभिधाम्क होता है। सजीवता की लक्षती-व्यंजती है। वह केवल दिखती-बोलती ही नहीं, बल्कि देखती-सुनती भी है। इस तरह यह कहानी अपनी लक्षणा-व्यंजना को अभिधात्मक रूप में प्रकट करती है। चरित्र का मूलार्थ है गतिविधि करना। जिस तहर हम चरते-चारते हैं, उसी का दिखता रूप, चरित्र है। इस तरह गतिविधियाँ ही चरित्रों की व्यंजना करती है। सोच-विचार दिमाग़ी गतिविधि है, जिसे बाहरी गतिविधि में रूपान्तरित करना ही अभिधना है। आज की कहानियों में अकसर 'उसने ये सोचा', 'उसने वो सोची' की भरमार होती है। सोच का सक्रिय रूप, मतलब कि स्थूल रूप रचना से ग़ायब होता है। ये तो बौद्धिक प्रक्रिया है। भाई, कुछ स्थूलिये थी, जिसे केवल सुना ही नहीं, देखा भी जा सके। बुद्धि स्थूल के भीतर रहती है, जो क्रियारत स्थूल में प्रकट होकर ही दिखती है। स्थूल और सूक्ष्म की गुणात्मक संयोजना ही चरित्रों को जीवन्त बनाती है। भाई, पाठक को भी सोचने-विचारने का अवकाश देने के साथ-साथ उसको भी अपनी बात में शामिल कीजिए। आप तो श्रोता ही मुग्धता से बेखबर आत्ममुग्ध हुए सुनाते जाते हैं। थोड़ा श्रोता की मुग्धता का भी ख्याल कीजिए। उसे भी बोलने का मौका दीजिए, नहीं तो कब खिसक लेगा,

आपको पता भी न चलेगा। केवल सुनाना ही नहीं, इससे वह स्थूल के भीतरी गतिविधि को समझने की कोशिश करेगा। द्वन्द्व करती रचना ही पाठक को द्वन्द्वित करती है। इस कहानी में यह सब कुछ है। इसीलिए यह समकालीन कहानी को दिशा देने में समर्थ है। अगर ऐसा होता है, तो हमारी कहानी फिर से बौद्धिकता की चिकनी सड़क पर रपटने की बजाय यथार्थ की दुर्गम पहाड़ियों पर अपने पाँव चलने लगेगी।

मूलतः कहानीकार। 'भूख' कहानी संग्रह तथा 'धूमिल और परवर्ती जनवादी कविता'
'प्रेमचंद : एक तलाश' आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित।
सम्पर्क : ए-67, तेजेंद्र प्रकाश-1, खोडियार नगर, अहमदाबाद-382350
मोबाइल : 9427072772

दीपक शर्मा

कथा-साहित्य के आन्तरिक आयाम

शिवमूर्ति का साहित्य कई साहित्यिक धाराओं से अन्तः सम्बन्ध है। पारम्परिक आंचलिक कथा-साहित्य, दलित-लेखन, अमरीकी 'डर्टी रियलिज्म' और अफ्रीकी-अमरीकी 'ब्लैक' साहित्य से।

'डर्टी रियलिज्म' मटियाला यथार्थवाद, वास्तव में यथार्थवाद ही का एक उपवर्ग है तथा साहित्यिक 'मिनीममलिज्म' (न्यूनतमवाद) का एक प्रभेद है। ये पारिभाषिक शब्द दिए 'ग्रान्टा' के सम्पादक बिल ब्रफोर्ड ने सन् 1983 के अपने ग्रीष्म अंक में। उस पीढ़ी के कुछ लेखकों को चिह्नित करते हुए बिल ब्रफार्ड ने उन के लेखन को 'बैलि-साइड' पेट की भूख का लेखन बताते हुए उसकी कुछ विशेषताएँ भी निर्दिष्ट की थीं—'कौमेडी' की छोर छूते हुए व्यंग्य, हिंस्र कोप अथवा गहरे अवसाद से विरूपित पात्रों के बिगाड़ के खुलासे, अनंलकृत किन्तु करूणा पर बल देती हुई कथा-भाषा, स्थितियों के सामान्य विवरण और उनके प्रति एक प्रछन्न आत्मीयता की अर्न्तधारा।

शिवमूर्ति के 'अकालदण्ड' 'कसाईबाड़ा' तथा 'भरतनाट्यम' मुझे इन्हीं विशेषताओं से भरपूर लगते हैं। वे कहते भी हैं, 'खाए-अघाए पेट का तनाव भूखे पेट के तनाव से अलग होता है।''

'भरतनाट्यम' के उस बेरोजगार युवक का वह भयावह कथन किसे याद नहीं? 'उन्हें (यानी पिता को) मेरे उठने, बैठने, देखने, चलने यहाँ तक कि आँखों की पलकें उठाने गिराने के ढंग तक में खराबी नजर आने लगी है। साला चलता कैसे है, शोहदों की तरह चलता है, तो चलता है। साथ में सारी देह क्यों ऐंठ डालता है। दरिद्रता के लक्षण हैं ये, घोर दरिद्रता के और देखता कैसे है? शनिचरह। इसकी पुतली पर शनीचर वास करता है। सोने पर नजर डालेगा तो मिट्टी कर देगा।''

बल्कि इस युवक का वृत्तान्त हमें चार्ल्ज ब्रकोवस्की (1920-94) के उपन्यास फैक्टोटम (1975), (हरफनमौला) के 'नायक, हैनरी चिनेस्की के पास ले जाता है। जो ब्रकोवस्की की भाँति अपने आरम्भिक जीवन में लौस एन्जैलिस की मटियाली गलियों में एक के बाद दूसरी नौकरी अपनाता और छोड़ता चला जाता है– इस आशा में कि अन्ततोगत्वा उसे एक ऐसी नौकरी जरूर मिल जाएगी जो उसके और उसके प्रथम प्रेम-लेखन-के बीच बाधा नहीं बनेगी। ब्रकोसकी को सन् 1986 में टाइम पत्रिका ने अमरीकन 'लो-लाइफ' (दरिद्र जीवन-चर्चा) का 'लौरिएट' (प्रतिष्ठित लेखक) माना था और उस के 'पल्प-फिक्शन हीरो' (सनसनीखेज मगर निचले दर्जे के नायक) अमरीकी पाठक-वर्ग में बहुत पसन्द किए गए थे।

इस सन्दर्भ में मैं रेमन्ड कार्वर (1938-88) का नाम भी लेना चाहती हूँ जिन्हें 'मिनिमलिज्म' का उस्ताद माना जाता है। अपने पहले ही कथा संग्रह 'विल यू वी क्वौएट, प्लीज' (1976) (क्या आप चुप हो जाएँगे, कृपया?) से अपनी अलग पहचान बनाने वाले कार्वर आज भी सर्वसम्मति से अमरीकन चेखव माने जाते हैं। जिस कथा-संग्रह-व्येअर आए एक कॉलिन्ग फ्रॉम (जहाँ से मैं पुकार रहा हूँ) (1988) को सन् 2006 में न्यू यौर्क टाइम्ज ने पिछले पच्चीस वर्षों के सर्वोत्तम कथा-साहित्य में सम्मिलित किया था, उसकी भूमिका में कार्वर ने स्पष्ट किया था कि कहानी लिखते समय उनका झुकाव 'इन्टेनसिटी एन्ड ब्रेविटी' (प्रबलता एवं लघुता) की ओर रहता है जिसके अन्तर्गत कम से कम शब्दों में ज्यादा से ज्यादा प्रभाव पैदा किया जा सके। वह कहते थे 'मैं अपनी रचना मज्जा तक तराशता हूँ, केवल हड्डी तक नहीं' अपने 'लू कौलर', निचले दर्जे के मजदूर पात्रों को चित्रित करते हुए वह उन्हें ऐसे वाक्य दे डालते थे जो उनके पाठकगण पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं : 'डोन्ट कम्पलेन। डोन्ट एक्सप्लेन। (फरियाद मत करना। सफाई मत देना।) या फिर 'वी नियू आर डेज आर नम्बरड, वी हैड़ फाउल्ड अप आर लाइवज़ , एन्ड वी वर गेटिंग रेड़ी फॉर अ शेक अप' (हम जानते थे हमारे पास गिने-चुने दिन थे। हम अपने जीवन उलझा चुके थे और अब अपने को एक झटके के लिए तैयार कर रहे थे।)

अपने कथा-साहित्य में शिवमूर्ति ऐसी ही कुछ 'फाउल्ड-अप लाइक्ज' लाया करते हैं जो उलझे हुए अपने जीवन में प्रतिशोध चाहते हैं या परिर्वतन।

यहाँ शिवमूर्ति शायद कोलकाता के 'भूखी पीढ़ी आन्दोलन' के उन लेखकों के निकट भी जा पहुँचते हैं जिन्होंने 1961-65 के दौरान समकालीन भारतीय लेखकों को एक जोरदार झटका दिया था। शिवमूर्ति के अनेक पात्र उनके लेखन में दर्ज की गयी चिन्ताओं से ग्रस्त है। कुछ अस्तित्व और कुछ जीविका-सम्बन्धी।

'तिरिया-चरित्तर' की विमली, 'कसाईबाड़ा' की शनीचरी या फिर 'अकालदण्ड' की सुरजी सभी अन्याय एवं अत्याचार की शिकार हैं। 'कसाईबाड़ा' में शिवमूर्ति अधरंगी से कहलवाते हैं–''कोई नहीं आएगा काकी, हमारी मदद के लिए। न परधानमन्त्री न मुख्यमन्त्री, न भगवान, न भगौती। हम खुद अत्याचारी को सजा देंगे...' और सुरजी की माँ का परिचय कोई कैसे भूलेगा? ''तार-तार हुई मैली चीकट धोती में मक्खियों से घिरी बुढ़िया किसी

प्रेत-योनि की अवतार लगती है। अशक्त चुचके लटकते चमड़े वाले हाथ-पाँव, लता-जैसी लटकी सूखी छातियां, बदरंग बिखरे सन हुए बाल। पकी वरौनियों के अन्दर से झाँकती दो बुझी आँखें। जैसे नुची आँखों वाली मरियल मुर्गी। या फिर 'केसर कस्तूरी' की केशर की यह हिम्मत? ''दुख तो काटने से ही कटेगा, बप्पा भागने से तो और पिछु आएगा।'' और गाती हैं–''मोहिया तोहार बच्चा 'हेठ' न होई है पगड़ी केह न उतारी, जी-ई-ई। टूटहीं मड़हिया में जिनगी बितउबै नाही जाबै आन की दुआरी जी-ई-ई...''

इस कथा-भाषा में आँचलिकता का जो प्रवेश है, उसी साहित्य स्वभाव के पीछे खड़ी शिवमूर्ति की आँचलिक धारा के अर्न्तगत मैं पहले अंग्रेजी में लिखने वाले कनार्टक के राजा राव (1908-2006) के एक कथन का सन्दर्भ देना चाहती हूँ। अपने आँचलिक उपन्यास 'कण्ठपुर' (1938) की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि भारत में एक भी गाँव ऐसा नहीं, चाहे वह कितना भी दरिद्र क्यों न हो, जिसके पास अपना एक सम्पन्न स्थल-पुराण अथवा पौराणिक इतिहास नहीं।

बेशक संस्कृत परम्परा के अनुसार 'स्थल-पुराण' किसी विशिष्ट तीर्थ-स्थली अथवा स्थानीय मन्दिर का पौराणिक इतिहास बताया जाता है–और वह भी अकसर स्थानीय भाषा का प्रयोग करते हुए–किन्तु राजा राव का यहाँ तात्पर्य उस 'स्थल-पुराण' से था जो किसी भी गाँव के स्थानीय पौराणिक इतिहास एवं लोक-रंग के साथ-साथ समकालीन ग्राम्य जन-जीवन एवं जीवन-बोध भी संजोए। राजा राव ने अपने उस उपन्यास कण्ठपुर में स्थानीय लोक-रंग के बीच गाँधी जी के 1919-22 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं 1930 के नमक-आन्दोलन के क्रान्ति ज्वार के समानान्तर चल रहे रूढ़िवादी जातीय व वर्गीय भेद भी दिखलाए जो दुर्भाग्यवश हमारे प्रत्येक गाँव की जड़ों में जमे बैठे हैं।

शिवमूर्ति भी अपने लेखन में अपने गाँव का पुराण जब-जब खोलते हैं तो इसी जातीय वर्गीकरण एवं सामाजिक श्रेणीकरण की जड़ें भापते हैं। उनकी संघबद्ध शक्ति के तन्त्र के घेराबन्दी का साक्ष्य देते हैं। जैसे बिहार के फणीश्वरनाथ रेणु या फिर पंजाब के गुरदियाल सिंह। फणीश्वरनाथ रेणु न केवल हमारे हिन्दी साहित्य के पहले आँचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' तथा 'मारे गए गुलफाम, 'एक आदिम रात्रि की महक' जैसी अविस्मरणीय कहानियों के रचयिता हैं बल्कि आँचलिकता को हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में लाने का श्रेय भी उन्हें ही जाता है। अपने साथियों के लिए वह लोक गायक एवं नौटंकी-कलाकार पहले थे और लेखक बाद में। लोक रंग एवं लोक संस्कृति के बाहुल्य के साथ-साथ उनके उपन्यासों में काव्य और राजनीति का अनूठा सम्मिश्रण पढ़ने को मिलता है। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने भाग लिया था, बाद में जय प्रकाश नारायण के जन-आन्दोलन में भी उन्होंने सक्रिय भूमिका निभायी थी और पद्मश्री की उपाधि सरकार को लौटा दी थी। 'भूखी पीढ़ी' के प्रर्वतक भाइयों सीमर राय चौधरी तथा मलय राय चौधरी को उनके पटना-निवास में वह कई बार मिले भी थे और उनके आन्दोलन के समर्थन में उन्होंने अपनी पुस्तक 'वनतुलसी की गन्ध' में एक पूरा अध्याय भी लिखा था। यह इंगित करते हुए कि 'भूखी पीढ़ी' के लेखक उस समय के तत्कालीन लेखकों को किस

प्रकार प्रभावित कर रहे थे। अमरीका से उन दिनों भारत-भ्रमण के लिए आए एलेन गिन्जबर्ग समेत। जिन्होंने बाद में अमरीका जा कर 'हंगरी जेनरेशन' की 'हंगरिलिएस्ट मूवमेंट' के प्रमुख भूमिका भी निभायी।

रेणु की भाँति शिवमूर्ति भी एक ओर जहाँ अपने कथा-साहित्य में लोक-गीत, लोक-कथाएँ, लोक-वार्ताएँ तथा लोक-कहावतें लाते हैं वही लोक-रंग का स्वाद-संवेद भी जीवित रखते हैं।

'कसाईबाड़ा' में पति की वीभत्स युक्तियों के विरूद्ध परधानिन बड़बड़ाती हैं—''ई गाँव लंका है। इहां लंकादहन होवेगा। रावन तू ही हो। लीडर बना है। बिमीरवन। तोहरे दूनों के चलते गाँव का सत्यानाश होवेगा। होई रहा हैं। बहिन-बिटिया बेंचो। हमहूँ का बचि लेव। रुपया बटोरो। साथ लै जायेब, लेकिन अब हम एहि घरे मा न रहब। आपन बेटवा लैके भीख कौरा माँगब...''

भाषा के स्तर पर अवधी बोली के ठेठ शब्द हमें 'तर्पण' और 'त्रिशूल' राजनीति तथा अर्थनीति के साथ-साथ वर्चस्ववादी हिंसक संस्कृति को बड़ी चतुराई से समेटते हुए शिवमूर्ति पूँजीवादी सामंती व्यवस्था पर त्रिशूल के अपने लोकगायक 'पाले' से गँवाते हुए कठोर प्रहार करते हैं—'अरे, धोबी भइया मितवा हमार मन घोइ दे/धोबी भइया मितवा...अरे धर्म की लदनी/पखण्ड का गदहा साँई के दुअरवा/विमल एक पोखरा मोर मन कहै मोका ओही मा चमाई दे/धोबी भइया मितवा हमार मन धोई दे... ।'' निर्विवाद रूप से यहाँ शिवमूर्ति स्वयं को दलित लेखक के रूप में भी हमारे सामने लाते हैं, गुरदियाल सिंह की भाँति। पंजाब में पहली बार एक दलित को अपना नायक बनाया था गुरदियाल सिंह ने। अपने पहले उपन्यास 'मढ़ी दा दीवा' (1964) में। जिसमें बटाईदार दलित जगसीरा उच्च जातीय ज़मीदार के शोषण का अहेर बनता है। इस उपन्यास पर 1981 में बनी फिल्म को पंजाबी भाषा की पहली 'कलावादी' फिल्म भी माना जाता है। किसान की आवाज बुलन्द करते हुए पूछता है, ''दलित किसान जब मजदूरी तो ज्यादा से ज्यादा करता है फिर भी बदले में उससे क्यों पैसा भी नहीं मिलता और सम्मान व पहचान भी नहीं? सन् 1976 में लिखे गुरदियाल सिंह के उपन्यास 'अन्ने घोड़े का दान' (अन्धे घोड़े का दान) पर सन् 2011 में बनी फिल्म भी कम सफल व चर्चित नहीं रही। गेलू नाम का रिक्शेवाला एक ऐसा अभागा मजहबी सिक्ख है जिसका भूख और अपमान से बचना असम्भव है। हृदय विदारक उसकी कहानी अनायास ही 'मढ़ी दा दीवा' के चाचा की वे पंक्तियों याद दिला जाती है : 'बन्दिया तेरिया दस्स दाहियाँ। इक्कों गच्ची विया नौन कित्थे गयी था?' (ऐ बन्दे दस देह की धरोहर तेरे पास थी मगर तुम्हें एक ही देह मिली, बाकी नौ कहाँ गयी?

अचरज नहीं, जो अमरीका में अफ्रीकी-अमरीकी साहित्य के समानान्तर दलित साहित्य को भी रखा जाता है। जनार्दन बाघमारे ने अपने लेख 'ब्लैक साहित्य' और दलित साहित्य में स्पष्ट भी किया था कि अफ्रीकी अमरीकी जन तथा दलित जन दोनों ही अपने अपने देश के संकीर्ण और बन्द समाज के सदस्य हैं और दोनों ही वर्गीय उसके श्रेणीकरण के भी अहेर रहे हैं और आत्म घृणा और आत्मनिन्दा के भी। हालाँकि काले और श्वेत का

अन्तर 'नेचर-मेड' (प्रकृति की देन) है और जाति-भेद 'मैन-मेड'। इसी लेख की प्रतिध्वनि को आगे बढ़ाते हुए नामदेव ठसाल ने भी एक लेख लिखा, 'फ्रॉम द ब्लैक पैन्थरज' ब्लैक पावर इमर्जड' 'काले पैन्थराज' से काले की शक्ति उभर कर आयी। जिस तरह अफ्रीकी-अमरीकी लेखक 'ब्लैक' शब्द को गर्व की बात मानते हैं—उस शब्द के भीतर उनकी आइडेन्टिटी सुरक्षित है—उसी प्रकार 'दलित' शब्द भी ताकत एवं विद्रोह का प्रतीक माना जाना चाहिए। निस्सन्देह शिवमूर्ति का कथा-साहित्य इसी दिशा में हमें ले जाता है। वह कहते भी है 'अस्मिता का मतलब अपने अधिकार को, अपने प्राप्य को चिह्नित करना और उसे पाने का और उसको अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। अस्मिता माने अपने वजूद को सामने लाना, इस प्रकार कि लोगों को लगे आप भी हैं। आपका भी वजूद है। आपको भी चिह्नित किया जाना चाहिए।

अपनी लेखकीय चिन्ताओं में किसानों के साथ-साथ शिवमूर्ति आमजन के जीवन की चिन्ता को भी सम्मिलित करते हैं ''लोगों को रोजगार मिले, छुआछूत मिटे, असमानताएँ खत्म हों। मैं सोचता हूँ गरीबी रेखा की तरह अमीरी रेखा जैसा भी कुछ होना चाहिए। विषमता और अन्याय की भी सीमा होनी चाहिए। किसी को रोटी नहीं मिल रही है और किसी के पास हजार जोड़ी सैंडिलें है। इससे असहिष्णुता तो बढ़ेगी ही। गाँव में एक आदमी गा कर सुना रहा था—''काहे गोलिया चलेला दनादन भईया तनि खड़ा होके सोचा एक छन्न भैयाय केघूके भरल सूटकेस, भाँति भाँति के डरेस केहू के मरले मिले न कफन्न भईया तो काहे गोलिया चले न दनादन भैयाय'...''वह एकदम निरक्षर था लेकिन इतना तो सब जानते हैं कि एक तरफ लूट खसोट मची है और दूसरी तरफ त्राहि-त्राहि मची हुई है। यह कब तक चल सकेगा?

अपने शिल्प में अपनी रचना को मज्जा तक तराशने वाले कथा-भाषा में भरपूर लोक-रंग भरने वाले तथा अपने कथानक में वंचित वर्ग की त्राहि-त्राहि एवं फुँफकार सुनाने वाले शिवमूर्ति निश्चित रूप से हमारे हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते हैं। एक ओर जहाँ वे हमारे दिल में अपने पात्रों के प्रति करुणा जगाते हैं तो वहीं दूसरी ओर उस जातीय, शासकीय, सामाजिक तथा परिवारिक तन्त्र की क्रूरता एवं वीभत्सता के विरुद्ध हमारे दिमाग भी खोलते हैं। और उनके साथ-साथ हम पाठकगण भी उस तन्त्र में परिवर्तन लाने की आवश्यकता महसूस करते लगते हैं। सामाजिक जवाबदेही की अनुभूति लिए। सामाजिक चैतन्य की संचेतना के साथ। उत्कट एवं आग्रही।

मूलतः कहानीकार। पन्द्रह कहानी-संग्रह प्रकाशित।
लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज के स्नातकोत्तर अंग्रेजी विभाग के रीडर के पद से सेवानिवृत्त।
सम्पर्क : बी-35, सेक्टर-सी
अलीगंज, लखनऊ–24

चन्द्रकला त्रिपाठी

दाम्पत्य के 'अद्‌भुत' और 'जीवटपूर्ण' की लय

''मामी की शिकायत का ज़िक्र घर आकर मैंने पत्नी से किया-

मामी का कहना है कि मामा उनसे प्रेम नहीं करते।

-बिना प्रेम किए तीन बच्चे हो गये।

-भाई बच्चे पैदा होना तो यांत्रिक क्रिया है। बिना प्रेम के भी बच्चे पैदा हो जाते हैं। बलात्कार से भी बच्चे पैदा हो जाते हैं। प्रेम या चाहना तो अलग चीज़ हुई।

मामी कह रहीं थीं कि जब औरत होकर रात के अंधेरे में मैं उनके पास जा सकती थी तो वे मर्द होकर क्यों न आते, अगर उन्हें मुझसे प्रेम होता।

-आप नहीं समझेंगें। लेकिन सोचिए, मामा अपने परिवार के मुखिया थे। उनका उस युग में अंधेरे में पत्नी से मिलने ससुराल जाना किसे अच्छा लगता, खास कर उस दशा में जब वे ससुराल में बसने और वहाँ की जिम्मेदारी ओढ़ने से मुकर चुके थे।...

-और मामी जो उतनी दूर चल कर आती थीं वो...

-वो उनकी बहादुरी थी। वे अपने पति की खुशी के लिए, अपनी चीज़ सहेजने के लिए आती थीं। यह मत समझिए कि सिर्फ शारीरिक सुख के लिए आती थीं'। (तद्‌भव-24 में प्रकाशित कहानी-'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!')

शिवमूर्ति की 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' शीर्षक कहानी के मामा-मामी का दाम्पत्य सन्तति उगाही का प्रयोग बन कर रह जाता यदि नैरेटर की बातचीत में उसकी पत्नी का स्वर 'स्त्री' और 'प्रेम' का पक्ष होकर न शामिल होता। इस कहानी पर हुई चर्चाओं को मैंने बहुत ध्यान से पढ़ा। चर्चा में आये बहुत सारे स्वर नैरेटर की धारणाओं के आस-पास ही ठिठके दिखाई दिये। संघनित किस्म की जीवनानुभव निर्भरता शिवमूर्ति की कहानियों की खासियत है। प्रायः अनुभवों को रचनात्मक आशयों तक विस्तारित करने के सूत्र भी

वे कुछ इस तरह संभालते रहे हैं कि व्यापक या उदात्त तक जाने की गतिशीलता उनसे छूट जाती है किन्तु इस कहानी में नैरेटर की पूर्वधारणा, स्मृति या अनुमानों को तोड़कर प्रेम का अद्‌भुत और उदात्त रचने के पक्ष में ज्यादा सचेत दिखाई देते हैं और इसके लिए दंत कथाओं की सी रोमांचक और कौतुकभरी लय को शामिल कर नैरेटर की 'यथातथ्यता' में सीमित रह जाने की स्थितियों को तोड़ते भी हैं। कहानी में देशकाल के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य के सजीव हस्तक्षेप शामिल करते हैं, इसके अलावा मामा के चरित्र के अव्यक्त हिस्सों में प्रवेश करने का साहस भी करते हैं। बावजूद इसके यह कहानी अपने आस्वाद के हिस्से में जिन चर्चाओं पर केन्द्रित हुई है वे बहुत बेतुकी हैं।

'लमही' के शिवमूर्ति पर केन्द्रित विशेषांक में -'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' पर लिखते हुए उमेश चौहान ने लिखा है कि-'' 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' में भी शादी के बाद नियमित रूप से अलग रह रही मामी जिस प्रकार से केवल पुत्र प्राप्ति के उद्‌देश्य को मन में रख कर रोज़ रात को खेत के मचान पर मामा से यौन-सम्बन्ध बनाने के लिए आती हैं, वह प्रसंग भी अद्‌भुत और रोचक है'' (लमही, अक्टू-दिस 2012 पृ. 59)

यह देखना काफी दिलचस्प है कि शिवमूर्ति के कथा संसार में चित्रित रूमानियत की व्याख्याओं में पुरुष दृष्टि के ज़रिये सम्मोहकता और उपभोग के अर्थ ज्यादा पहचाने गये हैं, जबकि उनके स्त्री चरित्रों में बेबाक ढंग का आत्मसम्मान, साहस और समझ है। उनमें स्थितियों को अपने सोचे हुए ढंग से मोड़ देने और उनसे टकराने का हौसला भी है। 'प्रेम' उनके लिए अछूती आध्यात्मिक प्रतीति भर नहीं बल्कि ऐन्द्रिक उत्सव भी है। चैतू मल्लाह को शामिल कर इस कहानी में दाम्पत्य और प्रेम को उथली परिणतियों से अलग उसको गम्भीर उत्तरदायी रूपों में चित्रित करते हुए शिवमूर्ति इस कहानी में पहली बार अपने लेखकीय स्वभाव से अलग बहुत गहरे और अर्थवान इशारे रचते हैं। वे इशारे ऐसे भी अमूर्त नहीं है कि उन्हें ऐसे भोथरे ढंग से निपटा दिया जाए।

पंकज पराशर लिखते हैं-''मामी अँधेरी रातों में आकर उन्हें देह-सुख देती थीं, पर क्या मनुष्य को सिर्फ देह-सुख ही चाहिए? मानसिक सुख और साथ रहने का सुख उन्हें मामी से कभी मिल पाया? प्रेम में सिर्फ देह ही नहीं होती। और भी बहुत कुछ होता है, जो उन्हें मामी से कभी नहीं मिल पाया।'' (लमही, अक्टू.-दिस. 2012 पृ. 59)

और भी बहुत कुछ था, जो मामी को भी तो नहीं मिल पाया। आमिना जैसा कोई मामी को मिल भी कैसे सकता था? उस स्त्री के चारों तरफ की दुनिया, रिश्ते-नातों ने उसके उस अभिसार को ही सामाजिक स्वीकृति दे दी, यह क्या कम था? पंकज पराशर मामा के अभाव पक्ष से विगलित हैं। क्या कहें शिवमूर्ति की यह कथा मामा की व्यथा पर ज्यादा केन्द्रित तो नहीं है? या उन सूत्रों की ओर नज़र डालने की गुंजाइशें कम है जो नैरेटर के चाहने न चाहने या स्थगित करने से अलग कथा में ऐसा कुछ अद्‌भुत रच रही है जो इन तमाम अनुमानों से बहुत अलग रंग का है। 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' शीर्षक कहानी में शिवमूर्ति पहली बार प्रेम और दाम्पत्य के गझिंन अर्थ से मुखातिब हैं। इस कहानी के शीर्षक की अनुगूंजों को ही पकड़े तो सिर्फ ये वहाँ तक नहीं जाती कि ख्वाजा

या कि मामा ने किस चीज़ से मक्का मदीना (मामी के लिए) छवाया और किस चीज़ से (आमिना के लिए) अजमेर। न ही मात्र आमिना ही मामा का कोमल पक्ष है जिसके लिए उनकी बनी हुई आँखें भर आती हैं और वे हरी पट्टी उठा कर उन्हें पोछ लेते हैं। यह पंक्ति कहीं गहरे प्रेम को ऐसे सूक्ष्म रूप में रच रही है जो काफी हद तक दुनियावी ढंग के ठोस और ठस्स से अलग हैं। न जाने क्यों इस कहानी को पढ़ने हुए मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों द्वारा रचे गए 'प्रेम' की याद आ गई। वहाँ चित्रित अद्‌भुत और कौतुकपूर्ण को यह कहानी बहुत नया करती है। मामा-मामी के सम्बन्धों में बाहर से दिखने वाली चीज़ एक निराश कर देने वाला दाम्पत्य है। बदलते हुए पारिवारिक सम्बन्धों के बेगानेपन में बचे हुए वृद्ध पति-पत्नी हैं, जिनका जीवनवृत्त एक दूसरे से दूर रह कर ही निर्मित हुआ है। उनके विवाहित जीवन में जीवन के तमाम निकट रहकर बरते हुए क्षणों की स्मृतियाँ नहीं है। चैतू मल्लाह की आमद न होती तो वहाँ कुछ सरस और महत्त्वपूर्ण भी नहीं होता। कथा में जीवनानुभवों की विश्वसनीयता के सर्वाधिक कायल शिवमूर्ति इस अविश्वसनीय दाम्पत्य के बाहरी ऊसरपन को झटक कर इसके आन्तरिक और मानवीय को रच देते हैं। 'चैतू' इन कथा प्रसंगों का अनायास सा घटित चरित्र नहीं है बल्कि वह प्रेम के समूचे जैविक को प्रकृति से ललित की ओर ले जाता है। मामा-मामी दाम्पत्य की चाहना के साँचे से निकल कर वहाँ स्त्री-पुरुष की परस्पर घुलनशीलता में ऐसे बदल जाते हैं कि उनकी काम्यता समूची प्रकृति में स्पंदित हो उठती है। कहना न होगा कि यह प्रसंग इतना भरापूरा और तरल है कि उसकी बौछारों की मृदुता की समझ मामा में अन्त तक कायम है। कहानी का अन्त याद कीजिए, जहाँ मामा कहते हैं कि- 'छिनरी ने पूरा भिंगा दिया।'

यह बड़ी गहरी और जिम्मेदार रसिकता है। दोनों वृद्ध अपनी दूरियों के विषय में घर-परिवार के अनुमानों के अनुरूप ही बोलते हैं किन्तु बुढ़ाई के दिनों में नैरेटर के उद्यम से जुटाई गई लगभग अबोल उनकी निकटता कुछ इस तरह की है कि बूढ़ी देह और मन की सारी सलवटें जैसे तिरोहित हो उठती हैं। 'प्रेम' यहाँ इतना सूक्ष्म और सान्द्र है कि यौवन और प्रेम की अपरिहार्यता में निहित उपभोगमूलक अर्थ को तोड़ देता है तब यह 'प्रेम' आयु विशेष का पर्व भर नहीं है। इसमें परस्पर प्रतीति की अडिगता गूँजती है।

शिवमूर्ति ने इस 'प्रेम' को 'रहस्यमय' की नियति में अटक जाने के लिए नहीं छोड़ा है, मानवीय सम्बन्ध शिवमूर्ति के लिए कभी भी काल्पनिक नहीं रहे। वे उन्हें उनकी सदेह प्रत्यक्षता में देखते हैं और इसी ढंग से उन्हें कथा में निभाते भी है। लेखक का यह तरीका उनकी कहानियों को अनोखी विश्वसनीयता प्रदान करता है। मामा-मामी का दाम्पत्य भी नये ढंग का तप है जिसमें मामी, मामा की तरह 'पदी' होने का दावा नहीं कर सकतीं। उस वंचित निम्नवर्गीय समाज में मेहनत और जीवन संघर्ष में पुरुष से राई भर भी कम नहीं साबित होने वाली स्त्री के लिए व्यापक समाज की ऐसी स्वीकृतियों के लिए कोई गुंजाइश नहीं। मामी के साहस, संघर्ष और फैसलों के हिस्से में उतर कर यह कहानी हमारे लिए एक नई स्त्री रच देती है। ऐसी स्त्री जिसके भीतर पत्नी होना

केवल दायित्व भर नहीं है, न ही सन्तान पाना आगे जीने का कोई उपाय। पति के 'पदी' होने का निर्वाह करते हुए वह अपने बलिदान का कोई दृष्टान्त नहीं घोषित करती। इस स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बीच ऐसे कई अर्थ गतिशील है जो उनके व्यक्तित्व की उन विशिष्टताओं की ओर इशारा करते हैं जिनका उन विघटित और भदेस जीवन संदर्भों में उस रूप में होना असाधारण है।

चरित्रों की खूबियाँ चित्रित करना शिवमूर्ति को प्रिय रहा है। उनके कथाक्षेत्र और चरित्रों के सन्दर्भ में गँवई जनजीवन की विशिष्टताएँ अक्सर पहचानी गई हैं। शोषण से आक्रान्त और देश के विकास की समूची बर्बरता से खाली और गरीब होते गये गाँव की नृशंसताओं की कितनी ही सच्चाइयाँ उनकी कहानियों में दर्ज है। ग्रामीण समाज की सामूहिक जीवन लय के टूटने की स्थितियों को भी लेखक ने पूरी बेधकता के साथ उभारा है। इस कहानी में आया परिवेश और घटनाक्रम मामा-मामी के व्यक्तित्व के अनूठेपन को उभारता है। 'प्रेम' के अब तक जाने-समझे गये रूप यहाँ इस दाम्पत्य में लगभग अनुपस्थित हैं। अतः मेरे द्वारा इस कहानी को प्रेम कहानी के रूप में देखना काफी अटपटा लग सकता है। उन दोनों वृद्धों का एक दूसरे से दूर रह कर कटता हुआ जीवन और उनकी प्रेमजन्य परस्परता को व्यक्त करने वाली निर्भरता का कहीं लेस भर भी जिक्र न होना ही इस संदर्भ में एक बड़ा तर्क हो सकता है। यहाँ इस दम्पति के सम्बन्ध में नैरेटर के द्वारा आई तफ़सीलों से छूट ले कर मैं उसकी समझ से छूट गये हिस्सों की ओर मुड़ना चाहती हूँ। 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर!' केवल आमिना के गीत का टुकड़ा भर नहीं है बल्कि प्रेम का वह सूफ़ियाना रंग भी है, जो लगाव की नई नवैयत गढ़ता है। इसमें पाने से ज्यादा न पाने की पवित्रताएँ गूँजती है। सम्बन्धों की ऐसी ही पवित्रता ने लेखक को अपनी ओर खींचा है। इस 'दाम्पत्य' में एक दूसरे को पाना एक सहज हासिल वस्तु नहीं है। इसकी पूर्णता की कसौटी ही विचित्र है। यह आराम और उपभोग से सजे हुए क्षणों का घटित भी नहीं है। यह जितना ऐन्द्रिक है उतना ही भावपूर्ण भी। मान मनुहार की अनुगूंजें भी इसके भीतर हैं। यह 'प्रणय' की अभिजनोचिता की हदें भी बेलौस ढंग से तोड़ता है।

याद आ रही है बरसों पहले पढ़ी स्नोवा बार्नो(?) की वह कहानी जो काफी चर्चित हुई थी। चर्चा का एक कारण यह भी था कि पाठकों का परिचय पहली बार ऐसी नायिका से हुआ था जिसने स्त्री के 'पैसिव' होने की रूढ़ि को तोड़ दिया था। उस कहानी में कृत्रिम तरीके से जुटाई गई कई चीजें थीं। 'मामी' के चरित्र में मेहनत की ज़िदगी से पकी हुई खांटी स्त्री की वह पहल मिलेगी जिसके लिए 'सदेह' होना अर्थ रखता है। पति पुरुष के लिए उसकी इस पहल में सामाजिकता का वैसा भी तिरस्कार नहीं है। उस स्त्री की तमाम छवियों से निखरता सबसे मजबूत स्वर उसकी खुद मुख्तारी का है। मामा 'पदी' हैं तो मामी भी आश्रित या कमजोर होने की स्थितियों को झटक कर खड़ी है। परिवार के लिए खटती और जुटाती हुई वह स्त्री अपने स्वाभिमान पर ज़रा सी आँच बर्दाश्त नहीं करती। बेटे-बहू के तिरस्कार के मुकाबले अपना टिक्कड़ खुद सेंकने का हौंसला रखती

है। जीवन स्थितियों की प्रतिकूलता ने उसे ऐसी निरपेक्षता में रच दिया है कि वह उदासीन या अवसन्न तो नहीं है मगर अपने लगाव को भावनात्मक प्रकार की निर्भरता में समझे जाने की छूट नहीं देती। शिवमूर्ति बड़ी सावधानी से इस दम्पति के सम्बन्धों के मर्म को स्पर्श करते हैं। वे कतई इसे किसी अभाव के से अर्थ में नहीं देखना चाहते। कहानी के अन्त में मामा के भीतर का रस-स्रोत वे इसी के निमित्त पकड़ते हैं और मामी के प्रश्नों में उनकी अनोखी परस्परा की इन अनुगूंजों को ज़ाहिर करना चाहते है।

''मामी ने मामा को देखने की कोशिश करते हुए पूछा-

-केस अहा?(कैसे हैं)

-भले अही।(ठीक है)

-मुड़वा के पिरबवा बंद भा कि नाहीं?

(सिर दर्द बंद हुआ कि नहीं)

पता चला चार-पांच महीने से मामा का सिर दर्द कर रहा है। मामी को कैसे पता लगा?

-अब ऊ मरन पे बन्द होये। (अब वह मरने पर ही बन्द होगा।)

थोड़ी देर बाद मामा ने पूछा-तू भले अहा?

-जियरा जियत बा।''

मैंने मामा को सहारा देकर चारपाई पर बैठा दिया। ओढ़ने के लिए सिरहाने एक कमरी रखी थी, मामी के बिस्तर पर एक सूती चादर रखी थी। शायद मामी के पास यही एक कमरी है जो उन्होंने मामा को ओढ़ने के लिए दे दी है। फागुन की भोर में हल्की ठंड लगेगी।

मामा ने एक क्षण मामी को देखा फिर बोले-चलत अही!

मामी झुकी कमर को लाठी के सहारे टेके खड़ी थीं। उनके ओठ थरथराये लेकिन आवाज़ नहीं निकली।'' (तद्भव 24, पृ.-69)

नैरेटर को लगता है कि मामा को इस तरह यहाँ ले आना उसकी नादानी नहीं तो और क्या थी?

शिवमूर्ति सुखी समाज के लहकते हुए सुखों और फुसफुसाते हुए दुखों के लेखक नहीं हैं। प्रेम के अछूते थरथराते रूपों को जीवन के ऐसे हिस्सों में चित्रित करते हुए वे हमें जीवन के खांटी अछूते अनुभवों तक विस्तारित करते हैं।

मामा-मामी के सम्बन्धों के बीच ऐसी अबोली प्रगाढ़ता को व्यंजित करने वाले सूत्र कहानी में मौजूद हैं किन्तु 'प्रेम' को अभिजातीय मनोरचना का विषय मानने वाले लोगों के लिए गोबर-पानी करने वाली, मिट्टी से भीत उठाने वाली रोपनी-बोअनी, चारा-पानी करने वाली देहाती स्त्री के भीतर ऐसी सूक्ष्मताएं भला कैसे हो सकती हैं? उसका तो ऐसी सूक्ष्मताओं को पोसने वाले साहित्य, कला, संगीत और फिल्म वगैरह से भी कतई परिचय नहीं जो प्रेम की मदिर मोहक कलाओं की रचना कर सब कुछ रम्य और काम्य बना देते हैं। यहाँ तो चारों ओर हरहराता हुआ व्यापक भदेस है, सम्बन्धों में उतर आई निपट व्यावहारिकता है। अभाव हैं और स्वार्थों का उघड़ उठना है। यही नहीं बल्कि कहानी में

आये कुछेक संदर्भ 'प्रेम' के किसी ऐसे अर्थ को अनुभव करने की स्थिति से पाठक को भटकाते भी है। मामी का यह कहना कि-''अपनी पसंद के किसी आदमी से बेटा पाने की राह दुनिया ने रूंधा न रखी होती तो मैं उतनी दूर दौड़ कर क्यों जाती?'' (तद्भव 24, पृ.-60)

मामा भी देह में ज़ोर रहते दुनिया घूमना चाहते हैं, तीर्थ करना चाहते हैं बस मामी के घर की दूरी उनके लिए अलंघ्य है। नैरेटर के द्वारा 'बड़की मामी कैसी है?' पूछने पर मामा कहते हैं-'पता नहीं भैने।'

-कितने दिन हुए भेंट किये?

पोपले मुँह से बेबस मुस्कराहट बिखेरने हुए बोले-

-यह भी अब कहाँ याद है भैने।

-चलिए आज मामी के घर चलते हैं। मैं आज आप ही लोगों से मिलने निकला हूँ।

-अब कौन सा मुँह ले कर चलू भैने? जब उनको ज़रूरत थी तब तो गया नहीं, अब मर कर ही मिलेंगे।'' (तद्भव 24, पृ.-64)

कहना न होगा कि प्रणय कलह के प्रचलित रूपों से बाहर घटित होने वाले इस वृद्ध दंपति के मिलन में अनुरागी मन की गतियाँ खोजना काफी मुश्किल है, मगर दृष्टि जहाँ अटक कर रह जाती है वह वाक्य है कि-'अब मर कर ही मिलेंगे।'

यहाँ जैसे एक लगभग ठहर चुकी प्रतीक्षा है। शिवमूर्ति की कथाकला वर्णन की व्यंजना के लिए अक्सर लोकगीतों को चुनती है। इस कहानी में भी मामा के कंठ में बसे एक 'बिरहा' की याद नैरेटर को आती है-

'रतिया आया बिरतिया भाग्या
कोरवा न सोया हमार
एक दिन आवा खड़ी दुपहरिया
देखी सुरतिया तोहार'

नैरेटर को लगता है, यह बिरहा मामा के चित्त से उतर चुका है लेकिन क्यों?

मामा यह बिरहा उदास हो कर गाते थे। जीवन संध्या में कामेच्छा के लिए लट चुकी देह के साथ वृद्धा पत्नी के निकट गये मामा के चित्त से फागुन का एहसास मिटा नहीं है। क्योंकि वहाँ कामेच्छा तक ही सीमित रह जाने वाली रसिकता नहीं है। प्रकृति के द्वारा रच दिया जाने वाला फागुन उनके कांपते स्वर में उतरता है और वे गाते हैं-

'सब दिन बसंत जग थिर न रहे
आवत पुनि जात चला रे
पपिहरा प्यारे।
धन धरती बन बाग हबेली
चंचल नयन नारि अलबेली
भवसागर के जल घुलि जइहैं।

तोरे मनवा के रंग दिलवा...रे
पपिहरा प्या...रे।' (तद्भव 24)

मैंने इस कहानी में इसी छोर से घुसना तय किया, और मेरे लिए कहानी में व्यंजित बहुत सारे अबोले प्रसंग चुनौती बनते गये।

शिवमूर्ति के अपने कथा संसार में यह बहुत भिन्न ज़मीन की कहानी है। कहना न होगा कि यहाँ भी वे अपने बेहद जाने पहचाने अनुभवों के साथ हैं मगर 'प्रेम' की ऐसी अद्वितीयता रच जाते हैं जो उसके अब तक पहचाने बहुत से रूपों से बेहद अलग है। उस वृद्ध दम्पति के भीतर एकान्त की गरिमा, धीरज और विश्वास के वे रंग फूले-फले हैं जिन्हें ज्यादा मुखरता प्रिय नहीं। अचरज यह है कि मामा-मामी अर्न्तमुखी चरित्र नहीं है। वे जीवन को अपने साझा मुखर रूपों में ही बरतते हैं किन्तु अपनी परस्परता के ऐसे रूप को वे बहुत कम साझा करते हैं। बावजूद इसके यह किसी प्रकार की निराश अवसन्नता में ठहर गया सम्बन्ध नहीं है। कुछ है जो दोनों ओर पल रहा है, कम्पित मगर निरन्तर। केदारनाथ अग्रवाल अपनी 'हे मेरी तुम' शीर्षक कविता में पत्नी से निकटता के प्रति अत्यधिक मुखर थे। मामा-मामी अपनी आत्मीयता, लगाव और प्रतीक्षा के ऐसे छोर खोल नहीं सकते थे फिर भी फागुन का सिहरता हुआ अनुभव कहानी में काफी कुछ कह जाता है। प्रकृति की उन्मुक्तता के अर्थ इस सम्बन्ध के भीतर बहुत दूर तक फैले हैं। यह तय है कि ऐसा सम्बन्ध लोक के ऐसे ही रंगों से रचा जा सकता था।

प्रभावी लेखिका। एक आलोचनात्मक पुस्तक, दो काव्य-संग्रह प्रकाशित। हाल ही में प्रकाशित 'इस उस मोड़ पर' कथा-डायरी चर्चित। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी की प्रोफ़ेसर।
सम्पर्क : प्लाट नं. 59, लेन नं. 8ए महामनापुरी कॉलोनी विस्तार
पो.आ. बी.एच.यू.
वाराणसी-221005, उत्तर प्रदेश
मोबाइल : 09415618813

''उपन्यास के पात्रों चरित्रों से लेखक की गहरी रागात्मकता का ही प्रतिफल है कि वे अपने रूपाकार और स्वभाव में विश्वसनीय बन सके हैं। यही विश्वसनीयता जनतन्त्रात्मक–मूल्यों की स्थापना करती है। लेखक की खूबी यह है कि वह दलित राजनीति के अन्तर्विरोधों से आँख नहीं मूँदता। झूठ के विरुद्ध घूस, सिफारिश के विरुद्ध सिफाारिश का इस्तेमाल रचना–प्रक्रिया का हिस्सा है।''

'तर्पण' उपन्यास पर जनवरी-मार्च, 2011, कमला प्रसाद
साभार मंच, अतिथि सम्पादक–संजीव

ओम प्रकाश मिश्र

घीसू-माधो की तीसरी पीढ़ी की दास्तान

शिवमूर्ति कम लिखते हैं, लेकिन जितना लिखते हैं उसी से वे अपने कम लिखने की भरपाई भी कर देते हैं। बल्कि सूद ब्याज समेत लौटाते हैं अपेक्षाएँ। उनकी एक कहानी पढ़ लेने के बाद महीनों तक मन तृप्त रहता है। उसी कहानी को दुबारा, तिबारा, चौबारा जितनी बार भी पढ़ा जाय; हर बार कुछ नये वातायन खुलते ही है। यही नहीं उनकी हर अगली कहानी कहीं न कहीं पहले वाली कहानियों से आगे बढ़ी होती है।

उनकी ताजा कहानी 'बनाना रिपब्लिक' कई मायने में अब तक की अन्य कहानियों से आगे बढ़ी हुई है। कहानी के साथ ट्रीटमेंट से लेकर उसके फलक के विस्तार तक और सम्प्रेषणीयता से लेकर पठनीयता तक, पात्रों के चरित्र की बारीक अभिव्यंजनाओं से लेकर परिवेश की अन्तरंग समझ तक और भाषा के लालित्य से लेकर मुहावरेदानी के भंडार तक, हर जगह इसमें पहले की तुलना में विकासमान गति प्रतिबिम्बित होती है।

सत्ता विकेन्द्रीकरण की एक महीन किरण गाँव तक पहुँचने के बाद से ही पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों में वर्ग और वर्ण के समीकरणों में बदलाव शुरू हो गये। इस बदलाव की सबसे ताज़ा अभिव्यक्ति है 'बनाना रिपब्लिक', जो शिवमूर्ति की सधी कलम से निकलकर वर्तमान पूर्वी उत्तर प्रदेश के देहात की एक जीवन्त और सच्ची तस्वीर बन गई है। एक तरफ जहाँ यह कहानी देहाती शक्ति सन्तुलन में दलितों के बढ़ते हुए प्रभुत्व को रेखांकित करती है, वहीं प्रभु वर्गों/जातियों की समस्त छल-छद्म व स्वार्थपरक चेतना को आत्मसात कर लेने के बावजूद, दलित चेतना में क्रान्तिकारी तत्वों के समावेश हो जाने की भी सूचना देती है। कहानी में 'चुनाव परिणाम में' फुलझरिया को नम्बर दो पर दिखा कर लेखक अगले दौर के समीकरण की सम्भावनाओं की तरफ इशारा कर देता है।

शिवमूर्ति की कहानियों में मानवीय संवेदना तथा स्त्री विमर्श की ही अधिक अभिव्यक्ति मानने वाले लोगों के लिए यह कहानी एक बदले हुए अंदाज़ की, अलग कलात्मक स्तर की कहानी नजर आयेगी; जहाँ उन्होंने गाँवों के राजनीतिक विश्लेषण जैसे सूखे विषय को केवल इशारों, संवेदनाओं और कथा प्रवाह में घोलकर पूरी भव्यता के साथ प्रकट किया है। कहानी के पाठक को वर्ग विश्लेषण जैसी अरुचिकर अनुभूति हुए बिना ही गाँव का पूरा वर्ग विश्लेषण आत्मसात हो जाता है। वर्ण के साथ वर्ग चरित्र भी स्पष्ट हो जाता है।

'बनाना रिपब्लिक' दलित जग्गू के सत्ता पर आधिपत्य का एक नया सपना लेकर ठाकुर की दालान से निकलने से शुरू होती है, जब खुशी उसके संभाले सम्भल नहीं रही होती, दिल धाड़-धाड़ बज रहा होता है; और खत्म होती है उस सपने के पूरा होने के बाद, जग्गू के अपने दरवाज़े पर ठाकुर की सारी अकड़ और सत्ता की हनक भरभरा कर घुटनों के बल आ जाने और शक्ति सन्तुलन की इस मज़बूरी में कहे गये वाक्य - ''पानी पीने से ही साथ पक्का होता हो तो कहो बाल्टी भर पी जाऊँ'', और उन्हें नाचने के लिए लड़कों द्वारा खींच कर कहे गये वाक्य - ''जरा कमरिया तो लचकाइए ठाकुर'', और कुबरी वाला हाथ उठाकर मटकते-लचकते ठाकुर के दृश्य से। यहाँ यह कहानी मुंशी प्रेमचन्द की अमर कृति 'कफ़न' का कलेवर तोड़कर दलित चेतना के वर्तमान क्षितिज पर हुए क्राँतिकारी विस्फोट की परिघटना की अभिव्यक्ति बन जाती है और अपने राजनीतिक निहितार्थ में 'कफ़न' से आगे बढ़ जाती है। प्रेमचन्द के समय के यथास्थितिवादी सोच के मारे दलित पात्र घीसू व माधो की तत्कालीन क्राँतिकारिता इस बात में निहित थी कि वे अपनी मेहनत का सम्पूर्ण मूल्य प्रभु वर्गों द्वारा हड़प लिए जाने की हजारों वर्षों की अटूट परम्परा के प्रति विद्रोह को उत्पादक श्रम से भागने और इस प्रकार उस लूटतन्त्र को ठेंगा दिखाने की अपनी प्रकृति में अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन सब कुछ के बाद भी 'कफ़न' के अन्त में - ''फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये और आख़िर नशे से मदमस्त होकर गिर पड़े।'' घीसू, माधो का यह गिर पड़ना तत्कालीन दलित समाज की नियति थी, जो औपनिवेशिक गुलामी के टूटे बिना बदल नहीं सकती थी। क्योंकि सामंती व्यवस्था को इसी गुलामी के द्वारा जमींदारी की खुराक मिल रही थी। इसके विपरीत 'बनाना रिपब्लिक' में जब ठाकुर के पहुँचने पर लड़कों द्वारा कहा जाता है - '' जरा कमरिया भी लचकाइये ठाकुर'' तो ''कुबरी वाला हाथ उठाकर वे मटकने-लचकने लगते हैं''। उस समय बरबस बचपन में गाँव में देखे गये बन्दर के नाच और मदारी के डमरू की याद आ जाती है। 'बनाना रिपब्लिक' के अन्त में घीसू, माधो की पीढ़ी की जगह ऐसे लड़कों की गोल नाच रही होती है जो घीसू-माधो की तरह नशे में मदमस्त होकर गिरने के लिए अभिशप्त नहीं हैं, बल्कि इसके उलट यह गोल ठाकुर के पंजे में पंजा फंसाकर दायें बायें हिलाते हुए उन्हें नाचने पर मज़बूर भी कर देती है। शिवमूर्ति अपनी इशारों में बात कहने की शैली में ''पंजे में पंजा

फंसाकर'' पद इस्तेमाल करके दोनों वर्गों के सीधे संघर्ष में उतरे होने की बात को कलात्मक ढंग से कह जाते हैं।

'कफ़न' जहाँ तात्कालिक भारतीय गाँव को एक टेलिस्कोपिक-व्यू से देखती है, वहीं 'बनाना रिपब्लिक' आज के देहात को माइक्रोस्कोपिक-व्यू से देखती है। उनकी निगाह से कोई घटना, कोई बिम्ब, किसी सूखे पत्ते के हिलने की खड़खड़ाहट तक छुपी नहीं रहती। यद्यपि इस दलित उभार से लेखक अभिभूत है, फिर भी उसकी एकता में, या प्रस्थान बिंदु में जहाँ वह कोई कमी देखता है, उसे छुपाता नहीं बल्कि इशारों में व्यक्त कर देता है। वोट की राजनीति ने जहाँ दलितों को एकताबद्ध किया है, वहीं उनके स्वयं भी जातीय स्तरों में बंटे होने की ध्वनि लेखक के सचेत कानों से बच नही पाती- ''अपनी बिरादरी मे परधानी की कुर्सी आये इससे बढ़कर खुशी की बात क्या होगी! पासी, धोबी, खटिक, चमार की बिरादरी के परधान तो आस पास बहुत सुने गये हैं, लेकिन अपनी बिरादरी का? एक भी नहीं। हम लोग तुम्हें जिताने के लिए रात दिन एक कर देंगे।''

गाँव के लड़कों द्वारा कहा गया यह वाक्य जाति के भीतर जाति के स्तरीकरण की तरफ लेखक का प्रश्नवाचक इशारा भी है। इस वाक्य का यहाँ कहा जाना ही यह प्रकट करता है कि लेखक इस सत्य को पाठकों के सम्मुख रखते हुए भी इससे नापसंदगी रखता है। जहाँ 'कफ़न' में प्रेमचन्द के पात्रों घीसू व माधो की क्राँतिकारिता तत्कालीन सामंती अर्थव्यवस्था की दलित श्रम पर निर्भरता और उसी श्रम के शोषण की क्रूर परम्परा का मखौल उड़ाती हुई उसकी विद्रूपता का उद्घाटन तथा उसी विद्रूपता और ठण्डी क्रूरता से उसका जवाब बन जाने में है, वहाँ 'बनाना रिपब्लिक' में ठाकुर द्वारा कहा गया महावाक्य - ''अगर पानी पीने से ही साथ पक्का होता हो तो बाल्टी भर पी जाऊँ'' इस बात की तरफ संकेत करता है कि अब सहारे और साथ की जरूरत ठाकुर यानी प्रभु वर्ग/जातियों को है, दलित समुदाय को नहीं।

जितने सलीके और सजगता से शिवमूर्ति कहानी को लेकर चलते हैं उतनी ही सजगता से कहानी का वितान भी तानते हैं। उन्होंने इस कहानी में चरित्रों को ऐसा रत्ती-माशा तौल-तौल कर उसमें रखा है कि प्रदेश के राजनीतिक समीकरणों की एक धुँधली छाया गाँव में भी मौजूद नज़र आ ही जाती है। इसके मुख्य चरित्रों में एक दूसरे के दुश्मन ठाकुर और पदारथ पुराने प्रभु वर्ग के प्रतिनिधि हैं, तो जग्गू और मुन्दर नये उभरते दलित फैक्टर के प्रतिनिधि हैं, जो सत्ता सुख में अपना हिस्सा बटाने के लिए किसी भी स्तर तक जा सकते हैं। क्रान्तिकारी संघर्ष-धारा की प्रतिनिधि फुलझरिया है, तो पुलिस कचहरी और प्रभु वर्ग से जोड़ तोड़ में माहिर मुंशी जी भी हैं, जो अपनी भर निगाह से जिस तरफ देख लें उधर की सारी हरीतिमा सूख जाय।

ज़मींदारी भले चली गयी, लेकिन सामन्ती मानसिकता गाँव देहात में अभी भी अपनी पूरी सांस्कृतिक विरासत के साथ बरक़रार है। कहानी खुद बोलती है - ''यह नाहरगढ़ गाँव उनके पुरखों का बसाया हुआ है। पुराना खण्डहर हो चुका घर अभी भी गढ़ी कहलाता

है। मास्टराइन राजगढ़ स्टेट की राजकुमारी हैं। किसी ग़ैर की मौजूदगी में वे हमेशा उन्हें रानी साहब ही कह कर पुकारते हैं।'' इन तीन वाक्यों में ही ठाकुर के मन में बसे सामन्ती परिवेश की अतीत से लेकर अब तक की निरन्तरता ध्वनित हो जाती है। पूरा आर्थिक सामाजिक ढाँचा ध्वस्त हो चुका है, लेकिन खण्डहर हट नहीं पाया है। न अपनी जगह से हटा है न ठाकुर के मन से। अकेले में वे खुद जानते हैं सच्चाई, लेकिन किसी ग़ैर की मौजूदगी में अपनी पत्नी मास्टराइन को 'रानी साहब' कहकर ही पुकारते हैं। यह इस तथ्य का कितना अच्छा प्रस्तुतीकरण है कि सामन्तवाद का अवशेष हमेशा अतीत में ही जीवन के तत्व खोजता है, वहीं से बल प्राप्त करता है और उसी से वर्तमान को डराने की कोशिश करता है। इस अवशिष्ट सामन्तवाद की निगाह कभी भविष्य की तरफ नहीं होती। वह तो वर्तमान को अतीत सदृश बनाने के सपनों में ही खोया रहता है, आने वाले भविष्य की तरफ से पीठ फेर कर अतीत की तरफ उन्मुख होता है और एक दिन स्वयं अतीत बन जाता है।

सामन्तवाद का मुख्य और सबसे ख़तरनाक सांस्कृतिक अवशेष, जिस पर उसकी पूरी चेतना आधारित है, पितृसत्तात्मक परिवार और पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था है जो अपनी पूरी अकड़ के साथ हर जगह मौजूद है। सामन्ती मानसिकता व समाज व्यवस्था की प्रमुख खासियत है कि जहाँ यह व्यवस्था सबसे अधिक मजबूत होती है वहीं स्त्री सबसे अधिक उत्पीड़ित व शोषित होती है। वहाँ स्त्री सबसे अधिक पिछड़ी अवस्था में भी होती है और इसी कारण वही विकासमान परिवर्तन की सबसे प्रबल विरोधी भी होती है। शिवमूर्ति कहानी में इस बात को एक छोटे से पैराग्राफ में ही कह जाते हैं-'' पिछड़ी या दलित औरतें तो सभा जुलूस या मेले ठेले में भी चली जाती हैं, सवर्ण औरतों की बड़ी आबादी अभी भी गाँव से बाहर नहीं निकलती। मायके से विदा हुई तो ससुराल में समा गई। ससुराल से निकलती हैं तो सीधे श्मशान के लिए। देवी के थान पर लपसी सोहारी चढ़ाने के लिए जाना ही उनकी तीर्थ यात्रा या पिकनिक है। ऐसी एक बड़ी आबादी है जो जाति व्यवस्था को ब्रह्मा की लकीर मानती है।'' सामंत के अपने ही घर के भीतर उससे सबसे अधिक उत्पीड़ित प्राणी उसकी स्त्री और पुत्री का वास होता है इसे कौन नहीं जानता। स्त्री का आदर्श उनके यहाँ लंगड़े-लूले, शराबी-कबाबी, कोढ़ी, क्रूर, चरित्रहीन जैसे भी पति के गले बंध गई हो, उसकी एकांतिक सेवा मात्र, तथा विधवा होने पर अग्निप्रवेश या पूरे जीवन को तिल-तिल जला देना है। बेटी को जहाँ हाँक दिया जाये वहाँ आँख मूँदकर चला जाना और पितृकुल का नाम (सामन्ती अहंकार) रौशन करने के लिए होम हो जाना है। इस बात को इससे अधिक कलात्मक और संक्षिप्त रूप से नहीं कहा जा सकता जैसा शिवमूर्ति ने कहा है।

दूसरी तरफ दलित तबके की नयी पीढ़ी में परिवर्तन के प्रति सकारात्मक रवैया और जोखिम उठाने का साहस है, जो जग्गू में प्रतिबिम्बित होता है, जबकि पुरानी पीढ़ी में यथास्थितिवाद की पुरानी सोच बरकरार है। किसी भी तरह का जोखिम उठाने से वह

पीढ़ी डरती है। इसका प्रतिनिधि है- बदलू, जग्गू का बाप। उसका पुराना अनुभव बोलता है- ''न बेटा। ए काम ठीक नहीं, परधानी का बवन्डर हम नहीं संभाल सकते। उड़ जाएंगे।' और जब जग्गू उसे परधानी से होने वाली आय का अंदाज लगाकर पचीस लाख का सपना दिखाता है तो भी प्रतिक्रिया में बाप का अनुभव झुँझला गया-''इतने पैसे का हम करेंगे क्या? रक्खेंगे कहाँ? वही ठाकुर रात में सब लूट ले जाएगा।''

सच पूछिए तो 'कफ़न' के समय का वह बच्चा अगर बुधिया के पेट में ही मर न गया होता, तो बड़ा होकर आज बदलू में ही अभिव्यक्त होता। बदलू इस लिहाज से घीसू-माधो की अगली पीढ़ी है और ठाकुर की प्रकृति से, उसकी एक-एक चाल से वाकिफ है। वह अपनी पुरानी कमजोरी के प्रति सचेत होने के कारण हमेशा बचाव की मुद्रा में है। बदलू की यह अनुभवजन्य दूरदर्शिता कहानी में आगे भी प्रमाणित होती है, जब ठाकुर की चालें एक-एक कर उजागर होती है; कि कैसे वह बदलू की जमीन हड़प करने की जुगत में है।

बचाव की सारी दूरदर्शिता और दुश्मन की हर चाल से परिचित होते हुए भी यह पीढ़ी अपनी नौजवानी में तनकर उठ खड़े होने और पलटवार कर पाने में असमर्थ रही। इसका कारण सिर्फ यह है कि इस पीढ़ी ने बरतानवी निरंकुश शासन के साये तले सामंती दहशत झेलते हुए, केन्द्रीय सत्ता से लेकर गाँव में उसके आख़िरी प्रतिनिधि तक को एक ही सूत्र में पिरोया हुआ देखा है, और इस सम्मिलित विराट दमनकारी मशीन के आगे स्वयं को बिल्कुल असहाय महसूस किया है। जबकि जग्गू, मुन्दर और फुलझरिया की पीढ़ी ने जिस हवा में पहली सांस ली, वह समस्त शोषण तन्त्रों की बूढ़ी हथेलियों में कंपकपी पैदा करने वाले उस महान वासंती वज्रनाद के बाद की हवा है, जो दार्जिलिंग के एक छोटे से गाँव में 1967 में खेतिहर मजदूरों-किसानों द्वारा हवा में बारूद की गन्ध भरकर किया गया था। वहाँ से चली यह हवा बिहार के धधकते खेत-खलिहानों से गुज़र कर जब तक पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'बनाना रिपब्लिक' के इस गाँव में पहुँची, तब तक यहाँ मण्डल-आयोग और हरिजन उत्पीड़न ऐक्ट जैसी तूफानी आंधियाँ व्यापक समाज को अपने चपेटे में ले चुकी थीं। देहात के पुराने शक्ति संतुलन के भरभरा कर ढहने का आभास देते, और ताश के महल की तरह एक-एक पत्ता उड़ाते दलित उभार प्रकट हो चुका था। गाँव के भीतरी दमनतन्त्र के प्राण जिस तोते में बसते थे, उसका गला दलित उभार की संचालक शक्तियों के हाथ में आ चुका था। प्रशासन में सामन्ती दबंगों की आक्टोपसी जकड़ कमज़ोर हो चुकी थी। इसीलिए इस कहानी में इस नई पीढ़ी का प्रतिनिधि जग्गू सोचता है- ''जगतनरायन तो फिर भी ठीक था, लेकिन लोगों ने उसे भी काटकर बाड़ा कर डाला - जग्गू। परधानी मिल जाय, हीरोहोण्डा मिल जाय और नाम बदल जाय, या एक कायदे का सरनेम मिल जाय, जिसमें थोड़ा रूआब झरे। 'टाइगर' कैसा रहेगा।''

और जब एक रात जग्गू ठाकुर से बात करके लौट रहा होता है तो कथाकार उसकी सोच का वर्णन इन शब्दों में करता है - ''उसे यह देखकर बड़ी राहत महसूस हुई कि

आज उसे इज्जत के साथ बुला रहा था ठाकुर - '' लिखो, सुनो, बैठो, देखो। पहले की तरह लिख, सुन, बैठ, देख नहीं। शुरू में एक बार अबे बोला था, बस।'' यह सम्मान प्राप्त करने की पहली आहट है जग्गू के हृदय में, जिस पर तुरन्त ध्यान दिया है लेखक ने। बल्कि शिवमूर्ति का कलाकार इसमें भी कलात्मकता से एक इशारा कर जाता है। जहाँ ठाकुर द्वारा लिख, सुन, बैठ, देख की जगह लिखो, सुनो, बैठो, देखो से सम्बोधित करके जग्गू का स्तर एक डिग्री उठाया गया है, वहीं जग्गू के मन में ठाकुर का भय कम हो जाने से वह अपने मन की भाषा में ठाकुर के प्रति सम्बोधन में बदलाव लाया है और 'इज्जत के साथ बुला रहे थे' की जगह वह 'इज्जत के साथ बुला रहा था' पद का प्रयोग करता है।

शिवमूर्ति बहुत ही सावधान लेखक हैं और चरित्र गढ़ते समय कहीं चूक की गुंजाइश नहीं छोड़ते। वे अपनी हर कहानी पर कई-कई बार काम करते हैं, तब कहीं जाकर चरित्र पूर्ण होता है। साधारण दलित के कमजोर व्यक्तित्व से नेता बनने की प्रक्रिया का वर्णन वे एक पैराग्राफ में करते हैं - ''जग्गू को लग रहा है कि अभी उसके मुँह से बात की धार नहीं फूट रही। जिस तरह शहर के कचहरी गेट पर सांडे का तेल बेचने वाला मजमेबाज बोलता है...। अपना चेहरा भी उसे भकुआया सा लग रहा है। भाव शून्य। मुस्कराहट का नाम नहीं। ऐसा ही चेहरा देखा था उसने फूलन का। जब वह भदोही में पहली बार अपना चुनाव प्रचार करने निकली थी। आज की रात वह हंसने, लपक कर मिलने और धुँआधार बोलने का अभ्यास करेगा- भाइयों और बहनों...''। यह पूरा पैराग्राफ केवल जग्गू के चरित्र-चित्रण की बारीक़ी, जग्गू से जगतनरायन तक की पुनर्यात्रा की उसकी ललक और उसके लिए मन प्राण से जुटने की प्रक्रिया को प्रदर्शित करता है। और आगे आने वाले बड़े परिवर्तनों की पृष्ठभूमि तैयार करता है। इस एक ही पैराग्राफ से शिवमूर्ति उस ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया के एक ऐसे महत्त्वपूर्ण अंश की सचित्र झाँकी प्रस्तुत करते हैं, जो जहाँ घीसू-माधो की हर तरह से कमज़ोर संतानों को इसी व्यवस्था के अन्दर शक्ति संतुलन की केन्द्रीय पीठिका पर क़ाबिज़ हो पाने के आवश्यक औज़ारों से लैस करता है, वहीं सम्पूर्ण व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई के लिए तैयार होते जनसमुदाय के आक्रोश को एक सेक्टीवाल्व की तरह शमित करता है, और उस संघर्ष को एक तात्कालिक स्थगन प्रदान करता है वहीं धीरे-धीरे जातीय विघटन के द्वारा सांमती अवशेषों को जड़ से समाप्त करने के संघर्ष के लिए परिस्थितियाँ भी तैयार करता है। एक सोच विकसित हुई पिछले दिनों कि आरक्षण के नाते दलित समुदाय को अयोग्य होते हुए भी सवर्णों का गला काटकर जिन स्थानों पर बैठा दिया जा रहा है, वहाँ वे कामयाब नहीं हो पायेंगे, और जल्दी ही औंधे मुँह गिर पड़ेंगे। इस सोच के जवाब में शिवमूर्ति इस कहानी में बता रहे हैं कि दलित कितना सचेत है और अपनी योग्यता बढ़ाने तथा स्वयं को योग्य साबित करने के लिए वह कितनी कठिन मेहनत करने के लिए तैयार है। अपनी इस नयी भूमिका में खरा उतरने के लिए उसकी संकल्प शक्ति को ही दिखाना चाहते हैं शिवमूर्ति।

इस कहानी में जग्गू कोई ऐसा चरित्र नहीं है, जो किसी आमूल परिवर्तन की बात करे या किसी बुनियादी बदलाव का सपना देखे। यह सिर्फ प्रभुता के ग्लैमर से आक्रांत, हजारों सालों से दमित परिस्थितियों में घुटती दलित पीढ़ी की एक सुखी जीवन की चाह की आदिम इच्छा की अभिव्यक्ति करता हुआ एक किरदार है, जो अपमानित और लांछित जीवन में सम्मान का एक प्राथमिक स्वप्न अपनी आँखों में सजा चुका है। प्रभुवर्ग की चमकती छवियों के स्वप्न देखता यह पात्र उस वर्ग की तमाम बुराइयों का वाहक भी बन गया है। अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए यह किसी भी तरह का समझौता करने को तैयार है-'' मुन्दर और जग्गू अपने अपने भण्डारे का इन्तजाम तम्बू के बाहर रह कर ही कर रहे हैं। बारहो बरन का भण्डारा है। चूल्हे-चौके में अभी भी सोलहवीं शताब्दी चल रही है। अन्दर घुसने से छुआछूत का सवाल खड़ा हो सकता है। ऐसे नाजुक मौके पर रिस्क लेना...।'' शिवमूर्ति बिल्कुल ठोस धरातल के कथाकार हैं। कहीं से काल्पनिक परिस्थितियों की सृष्टि करना उनकी प्रकृति में नहीं है। दलित चेतना का विस्तार जहाँ तक है, उससे बहुत आगे बढ़ाकर उसे त्रुटि-विहीन और आदर्श स्थिति में चित्रित करना भी उनका लक्ष्य नहीं है। वे इस चेतना को तमाम अच्छाइयों-बुराइयों के साथ ही पाठकों के समक्ष रखने को प्रतिबद्ध हैं। कहानी में ठाकुर जग्गू की सड़क किनारे वाली जमीन रेहन रखवाकर उसे रुपया उधार देने और फिर बाद में यदि जग्गू लौटा न पाए तो सड़क के किनारे की क़ीमती जमीन मुफ्त में हथियाने के चक्कर में है। ऐसी धूर्तता का पैंतरा लड़ाई में विजय के लिए जग्गू भी सीख गया है और रेहन के काग़ज पर अपनी पत्नी के पैर का अंगूठा लगवाकर फ़र्ज़ी काग़ज ठाकुर को देकर रुपया ले लेता है।

जब शिवमूर्ति प्रभुवर्ग की मानसिकता का चित्रण करते हैं तो आज की राजनीति के अपराधीकरण की प्रतिच्छाया गाँव पर पड़ती हुई उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाती है। येन केन प्रकारेण सत्ता की बागडोर हथियाये रखना तथा पुरानी राजगद्दी पर बैठे अपने शासन की अभिव्यक्ति को उसके क्रूरतम फासिस्ट स्वरूप तक ले जाने की प्रभुवर्ग की मंशा उनकी आखों से छुप नहीं पाती और क़लम अभिव्यक्त करने से रुक नहीं पाती-''अच्छा बाबू भवानी बकस सिंह आप तो पालिटिक्स पढ़ाते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि जीते कोई भी साला, उसे पकड़कर अपने नाम मुख़्तारनामा लिखाओ...क्या कहते हैं उसे अंग्रेजी में?''

''पावर आफ एटार्नी...''

''हाँ वही! और फिर ठाँस के परधानी करो।''

आगे भी एक जगह इस अपराधीकरण की अभिव्यक्ति देखें -''हाँ कलजुग के आखिरी चरण में एक दिन ऐसा आएगा जब एम.पी., एम.एल ए. की सारी सीटों पर खूनी कतली लोगों का कब्जा हो जाएगा। तब सब मिलकर देसवा का बंटवारा करेंगे। उस बंटवारे में हम लोगों को भी हिस्सा मिलेगा।''

भवानी बकस सिंह की लड़खड़ाती आवाज़ नशे मे डूबी है-''क्लेप्टोक्रेसी ..ई..ई! क्लेप्टोक्रेसी ..ई..ई..ई!''

भवानी बकस सिंह पॉलिटिक्स के अध्यापक हैं। राजनीतिशास्त्र में क्लेप्टोक्रेसी पढ़ाने के लिए चाहे जितने लेक्चर दिये जाते हों लेकिन अपराधियों द्वारा धीरे-धीरे राजनीतिक सत्ता पर हावी होने, शिकंजा कसते चले जाने की प्रक्रिया तथा उसके परिणाम को जितनी छोटी शब्दावली और सरल भाषा में यह कहानी समझा देती है वह पाठक के भीतर तीर की तरह धंसकर कहीं फँस जाता है। ग़ालिब ने आधी प्रत्यंचा खींचकर हल्के जोर से छोड़े गये ऐसे ही तीर की तारीफ़ में, जो दिल को पूरा नहीं बेधता और बराबर टीसता रहता है, कहा है-

'कोई मेरे दिल से पूछे तिरे तीरे नीमकश को,
ये ख़लिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता।'

यह प्रसंग हमारे लोकतन्त्र की पोल खोलता है और इस देश में क्लेप्टोक्रेसी की निरंतरता, चोरों और लुटेरों द्वारा सत्ता पर क़ब्जा करने की प्राचीन परम्परा के बरकरार रहने की तरफ इशारा करता है तथा लोकतन्त्र नामक झूठ के नक़ाब के अन्दर से झाँकते एक क्रूर अपराधी चेहरे का आईना बन जाता है। यह साबित कर देता है कि गाँव के स्तर तक अपराधी प्रवृत्ति का सत्ता से गठजोड़ और याराना कितना प्रबल है। सत्ता चाहे जिस पार्टी की हो गठजोड़ की प्रकृति यही रहती है।

गाँव तक पहुँचते-पहुँचते सत्ता के विकेन्द्रीकरण के नारे का सही अर्थ कैसे लूट के विकेन्द्रीकरण में बदल जाता है, इसका पर्दाफाश कहानी बड़े स्वाभाविक ढंग से करती है-''घंटे भर में पूरे गाँव को पता चल गया कि पक्की सड़क से मुसलमान टोले के करीब आधा कि.मी. और हरिजन टोले के करीब ढाई तीन सौ मीटर लम्बे कच्चे रास्ते पर कागजों में दो साल पहले ही खड़ंजा बन गया है।'', '' लीजिए अपनी आँख से पढ़ लीजिए आप लोग। यही हैं भुगतान किये गये बिलों की फोटो कापियाँ।...और मौके पर एक भी ईंट लगी हो तो बताइये। चार लाख सत्तर हजार रुपये पूरे के पूरे हजम। लोग दस बीस परसेंट खाते हैं। चग्घड़ से चग्घड़ विधायक भी विधायक निधि का पचास परसेंट से ज्यादा नहीं खा पाता। लेकिन आप का परधान सौ का सौ परसेंट हजम कर गया। अब आप लोग खुद फैसला करें।''

यह कमीशनख़ोरी और दलाली की रवायत जो हमारे लोकतन्त्र की नसों में ख़ून की तरह दौड़ रही है, केवल हमारे देहात की छवि नहीं है बल्कि समूचे देश की लोकतांत्रिक प्रकृति और संवेदना की एक जानी समझी सच्चाई, स्वीकृत अपरिहार्य बुराई जैसी शक्ल अख़्तियार कर चुकी है। स्वीकृति की एक अन्तर्धारा हर जगह हर समय अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रहती है- 'खाओ लेकिन संभाल कर खाओ'।

साम्राज्यवादी पूँजी जब देश में प्रवेश करती है तो अपने साथ अपनी संस्कृति भी बिना माँगे वैसे ही लेकर आती है, जैसे पुराने राजघरानों में बेटी के विदा होते समय उसकी दास दासियाँ भी दहेज के सामान की तरह उसके ससुराल भेज दी जाती थीं। कुछ वैसी ही प्रक्रिया हुई है सत्ता विकेन्द्रकरण अभियान के साथ। सत्ता की हनक, लाखों रुपये खर्चने

की शक्ति के साथ-साथ इस दोमुँही राजनीति की तमाम बुराइयाँ भी देहात में प्रवेश कर गई हैं। जोड़-तोड़, छल-छद्म, कानूनों को तोड़मरोड़ कर अपने पक्ष में करने के नियोजित षडयंत्रों के सिलसिले, शराब की नदियाँ, नारी का गिरता सम्मान, धोखा, फरेब, सबको चूना लगाने की यथासम्भव कोशिश, नैसर्गिक प्रेम का अभाव, और सबके ऊपर पसरता हुआ संवेदनहीनता का दमघोंटू घनघोर सन्नाटा! कुल मिलाकर उसी क्लेप्टोक्रेसी की ज़िन्दा तस्वीर नुमायां होती हुई! इतना वीभत्स तो नहीं था हमारे गाँव का माहौल हमारे बचपन में। आज इस बदबूदार बजबजाते माहौल में केवल दलित विमर्श और स्त्री की आज़ादी की चाहत ही एक ताजा हवा का झोंका बनकर कभी कभी राहत दे देती हैं और हमें मनुष्य होने का एहसास करा जाती हैं। अन्यथा अब गाँव इतना विद्रूप हो गया है कि न तो पहचान में आता है न पकड़ में आता है। वैसे टूटते-सड़ते सामन्तवाद की यह परिणति बहुत अस्वाभाविक भी नहीं है, चाहे जितनी तकलीफदेह हो, हज़ारों सालों की गहरी आस्थाओं की टूटन का दर्द तो हर जगह अभिव्यक्त होगा ही। बदलाव की इस प्रक्रिया व उसके परिणामों पर इतनी गहरी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि है इस कहानी के कथाकार की कि हर परत उधेड़ देती है। नसों से बहने वाले खून की तरह पूरी कहानी में यह सूक्ष्म दृष्टि बिखरी हुई है।

नेताओं द्वारा वोट खरीदने की प्रवृत्ति के चलते जनता के मन में वोट की क़ीमत अपनी सरकार बनाने से गिरकर कहाँ पहुँच गई है इसकी व्यंजना लेखक की क़लम से देखें-''बरेठा!'' झुकी कमर के चलते बूढ़ी को सिर ज्यादा उठाना पड़ रहा है। पोपले मुँह से मुस्कुराती हुई वे कहती हैं, ''तुम्हें तो असली कुर्सी मिलेगी और हमें कागज की दिखा रहे हो। असली कहाँ है?''

लोग जानते हैं कि बस चुनाव हो जाने के बाद कुछ नहीं मिलने वाला है, इसलिए माले ग़नीमत के रूप में वोट देने से पहले ही जो भी मिल जाय वही ले लेना चाहिए। -''जिन लड़कों की अभी ठीक से मूँछें भी नहीं निकलीं, वे भी गिलास पकड़कर बैठ जाते हैं। जग्गू के भण्डारे से धुत्त होकर निकले तो गिरते पड़ते मुन्दर के तम्बू में पहुंच गये। जिन लड़कों का वोटर लिस्ट में नाम नहीं है, वे भी...जिन्होंने जिन्दगी में कभी नहीं पी, वे भी कहते हैं, ''भालू चाहिए।'' भालू माने बीयर!...डबल क्रास। दोनों तरफ से।''

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देहातों में इस बीच एक और दलाल चरित्र ने तेजी से अपनी उपस्थिति दर्ज करायी है, जिसे अब विलेज बैरिस्टर के नाम से मान्यता मिल रही है। यह भारतीय बुर्जुआ के दलाल चरित्र का स्थानीय प्रतिनिधि बन कर उभर रहा है, उतना ही क्रूर, उतना ही धूर्त, उतना ही सशक्त और उतना ही संवेदनहीन! 'मुंशीजी' के रूप में मौजूद, इस दलाल बुर्जुआ के ग्रामीण चरित्र को शिवमूर्ति ने कहानी में उतनी ही मज़बूत जगह दी है जितनी मज़बूत देहात में इसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति है। ऐसे लोगों के दिमाग़ के कम्प्यूटर में पूरे गाँव के हर सदस्य का कच्चा-चिट्ठा सुरक्षित रहता है और ठीक समय पर उसका इस्तेमाल करने के हुनर में वे पारंगत होते हैं। जब जग्गू मुंशीजी की ख़ुशामद करते हुए पक्की जीत का दाँव पूछता है तो वे ठाकुर के राजनीतिक दुश्मन,

और मुन्दर को लड़ाई में उतारने वाले पदारथ के खानदानी बैजनाथ बाबा को फोड़ने का गुर बताता है-''कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। जो मन में आये सो कहना। बस अकेले में मिलकर हाथ जोड़ लेना। पदारथ ने उनका आधा रास्ता घेर कर दालान की नींव डाल दी है। उनका रास्ता घटकर तीन फिट की कोलिया बन गयी है। जीप कार का आना जाना बन्द! उनका खूँटा पदारथ के बेटे ने उखाड़ कर मड़ार में फेंक दिया था। यह बात जीते जी बुड्ढे को नहीं भूलेगी। अभी तो ताजा घाव है। जाओ और अपने सत्रह-अट्ठारह वोट पक्के कर लो।''

इस जगह पर गाँव के विषैले माहौल के प्रति अपने मन की बात को शिवमूर्ति जग्गू के मन द्वारा अभिव्यक्त करते हैं-''घर जाते हुए जग्गू की खोपड़ी भाँय-भाँय कर रही है। कैसे-कैसे साँप बिच्छू भरे हैं गाँव की खोह में। जब तक काट न लें, पता ही नहीं चल सकता।''

जैसे मज़दूरों के क्रान्तिकारी चरित्र का थोड़ा बहुत अंश वक्त पड़ने पर भूमिहीन किसान के चरित्र में उतर आता है, वैसे ही राष्ट्रीय स्तर पर दलाल पूँजी की प्रतिच्छाया के रूप में उसकी कुछ चरित्रगत विशेषताएँ समय समय पर देहाती कस्बों के बड़े व्यापारियों, धन्ना सेठों के अन्दर भी उभरती हैं, और वह अपनी परिसीमा के अन्दर की दलाल शक्तियों का अपने हित में इस्तेमाल करने में चूक नहीं करता। 'दुलीचन्द अगरवाल' एक ऐसा ही किरदार है जो अपने कोल्डस्टोर के लिए जमीन खोजने/दिलाने की जिम्मेदारी 'मुंशीजी' पर डालता है, और वे अपनी त्वरित बुद्धि का इस्तेमाल कर जग्गू के पिता बदलू की सड़क किनारे वाली जमीन बिकवाने के लिए इस समय का इस्तेमाल करने की जुगत भिड़ा लेते हैं, और उस पर दुलीचन्द से मोल भाव करते हैं।

''मेरा कमीशन दो परसेंट। रेट जो आमने-सामने बैठकर तय हो जाय।''

''रेट कायदे का लगवाइये तो सोचें।... एक बात और, हरिजन की जमीन खरीदने पर तो रोक है। परमीशन का लफड़ा होगा।''

''जमीन पर रोक है न! आप मकान लिखवाइये।''

''जमीन को मकान कैसे लिखा लेंगे?''

''अरे भाई खंडहर लिखाया जायेगा।''

दुलीचन्द मुंशीजी का मुँह ताकने लगा।

...

''अरे परमीशन के लफड़े से डराया जाएगा तभी तो मनमाफिक रेट पर मिलेगी।''

यहाँ दलाली की एक और तिकड़म की तरफ ध्यान आकर्षित करा पाने में शिवमूर्ति सफल रहे हैं, जो शहर और देहात दोनों में समान रूप से प्रचलित है। वह है कानूनों में तोड़-मरोड़ कर के न्याय की आँखों में धूल झोंकने का काम।

'मुंशीजी' के पास कानून को बस में करने का एक हथकण्डा है तो सेठ दुलीचन्द से पैसा ऐंठने का दूसरा तथा जग्गू जैसों को अपनी जमीन बेचने के लिए उकसाने का

एक तीसरा हथकण्डा भी है-''हार गये तब तो रेहन पटाने के लिए बेचना पड़ेगा। जीत गये तब भी बेचना होगा। वह इसलिए कि नाहरगढ़ का प्रधान बनने के बाद तुम्हें गड़ही के किनारे की उस झोपड़िया में रहना शोभा नहीं देगा। सड़क के किनारे की एकाध बीघा जमीन का बाप के नाम आवासीय पट्टा कराओ और बाजार की जमीन बेच कर पट्टे की जमीन पर आलीशान घर बनवाओ। जमीन बेच दोगे तो कोई यह भी नहीं कहेगा कि परधानी की लूट से बनवाया है और जितना चाहोगे इसमें परधानी की काली कमाई भी खप जायेगी।''

चुनाव के पहले, लोकसभा से लेकर परधानी और अन्य निकायों तक में प्रचलित एक और छल की तरफ इस कहानी में ज़रूरी ध्यान खींचा गया है। वह है-अपने फर्जी वोटरों का नाम लिस्ट में बढ़वाना, तथा विरोधियों के वोटरों का नाम वोटर लिस्ट से ग़ायब करा देना। ठाकुर को पता है कि देर सबेर आरक्षण के चक्रीय क्रम में परधानी सिड्यूल कास्ट के खाते में जायेगी, इसलिए उन्होंने सालभर पहले ही रामसिंह का सिड्यूल कास्ट का सर्टीफिकेट बनवा लिया था।''पता नहीं कहाँ गड़बड़ हुई कि फाइनल लिस्ट से उसका नाम ही ग़ायब हो गया। वरना एक बार रामसिंह को जिता पाते तो दस साल कोर्ट को यह तय करने में लग जाता कि वह असली सिड्यूल कास्ट है कि फर्जी। जग्गू पर दाँव लगाने की ज़रूरत ही न पड़ती। जग्गू तो मजबूरी की पसन्द है।''

कथाकार की दृष्टि इस बात पर भी है कि गाँव की इस हलचल को व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर दलित राजनीति की दुनिया में किस स्तर पर चिह्नित करके अध्ययन किया जा रहा है। दलित फैक्टर की केस स्टडी करने के लिए शहर से तीन लड़के मुरारी मास्टर के घर आये हैं। वे सवर्णों की बैकिंग से जग्गू व मुन्दर के खड़े होने की निन्दा करते हैं, उन्हें 'बनाना रिपब्लिक' का पैरोकार बताकर कौम के गद्दार की पदवी देते हैं। वे कहते हैं कि असली स्वतन्त्र उम्मीदवार फुलझरिया को जितायेंगे।

जग्गू उन्हें अपनी बात से लाजवाब कर देता है और सपोर्ट के औचित्य को सिद्ध करता है-''आपके पास कौन सी ताकत है जो जितायेंगे?'' जग्गू भड़क जाता है-''न आप यहाँ के वोटर हैं, न इस गाँव में आपकी कोई नाते-रिश्तेदारी है : तो किसके बल पर जिताने-हराने का ठेका ले रहे हैं?''

लड़के सन्न! वे एक दूसरे का मुँह देखते हैं। जग्गू फिर कहता है -''मेरा पैंतरा जीतने के बाद देखना। सारा गाँव आकर मेरे इसमें तेल न लगाये तो कहना।''

'बनाना रिपब्लिक' भले ही कहानी की केन्द्रीय विषय वस्तु है, कहानी का शीर्षक भी है और भारत के गाँव ही नहीं पूरे विश्व में साम्राज्यवादी पूँजी के गहरे हस्तक्षेप की राजनीतिक अभिव्यक्ति भी है, लेकिन इस कहानी में शिवमूर्ति जितनी आसानी से अन्त में 'बनाना रिपब्लिक' के मिथक को टूटता हुआ दिखा पातें हैं, वह दलित और सताई गयी, छली गयी आबादी के द्वारा अपनी ताकत महसूस कर पाने की ऐसी परिघटना है जो भविष्य का एक सुखद संकेत बन जाती है।

जैसे केले की खेती में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा वृहत् पूँजी निवेश का चारा फेंककर अविकसित और विकासशील लातिन अमरीकी देशों के किसानों की समूची कृषि भूमि और कृषि प्रक्रिया का अपहरण किया गया है, वैसे ही राजनीति में ''कुर्सी मिलेगी दलित को और मजा मारेंगे ठाकुर-बाभन'' वाली स्थिति लाने के लिए जग्गू और मुन्दर को ठाकुर-ब्राह्मण की सपोर्ट से चुनाव लड़ाया गया है। लेकिन इस चुनावी युद्ध के दौरान ही दलित नौजवान पीढ़ी की बढ़ी चेतना का ऐसा विस्फोट होता है कि 'बनाना रिपब्लिक' शीर्षक स्वयं व्यंग्य में बदलकर ठाकुर का मुँह चिढ़ाने लगता है।

अल्पसंख्यक मुद्दे को भुनाने का राजनीति में जो चलन फैला हुआ है उस पर भी शिवमूर्ति ने ग्राम स्तर पर हुए असर पर निगाह डाली है। मकबूल बताता है - ''पिछले चुनाव की तरह इस बार भी पदारथ कोशिश में थे कि मुसलमान टोले से कोई वोट कटवा कैंडिडेट खड़ा हो जाय। कितनी मुश्किल से रोका गया।'' इसी तरह ''जग्गू को ठाकुर की सीख याद आती है। वह कहता है, मैं मस्ज़िद के लिए हजार रुपये चन्दा देना चाहता हूँ। यह भी ऐलान करना चाहता हूँ कि परधान बन गया तो मस्ज़िद के सामने का डेढ़ बीघा बंजर मस्ज़िद के नाम पट्टा कर दूंगा।''

शिवमूर्ति के पूरे लेखन में गाँव अपनी ठेठ और अक्खड़ भूमिका के साथ लगभग हर जगह मौजूद दीखता है। वे संवेदनाओं के अद्भुत चितेरे हैं तथा उनकी रचनाओं में नारी पात्रों पर सबसे अधिक लिखा गया है। लेकिन 'बनाना रिपब्लिक' उनकी अब तक की सब कहानियों से अलग छल-छन्दों से भरे, संवेदनहीन और स्वार्थी पात्रों के जमावड़े वाला एक ऐसा राजनीतिक गाँव हमारे सामने पेश करती है जो आज़ादी के बाद के सालों में धीरे-धीरे भ्रष्टाचार की सरपरस्त राजनीति, और राजनीति के अपराधीकरण के गाँव के आँगन तक प्रवेश, दलित उभार, तथा सत्ता विकेन्द्रीकरण द्वारा लूट में हिस्सेदारी की बंदरबाँट से फैली अफरा-तफरी और छीना-झपटी की सच्ची तस्वीरों का कोलाज है। यह वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों और मूल्यहीनता का प्रबल दबाव ही है जो शिवमूर्ति जैसे कोमल मानवीय अनुभूतियों के चितेरे से पूर्वी उत्तर प्रदेश की आंचलिक राजनीति का सम्पूर्ण ग्रामीण गणित खोलती इस अद्भुत कहानी 'बनाना रिपब्लिक' का सृजन करा सका है।

कहानी की पूरी अन्तर्धारा के बीच बहती हुई पात्र 'फुलझरिया' पर कोई चर्चा किये बिना यह बातचीत अधूरी ही रहेगी, क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि पूरी कहानी में वही एक ऐसी पात्र है जो लेखक द्वारा गढ़ी गयी उनकी प्रिय पात्र है। कहानी के कलेवर में इसे यद्यपि बहुत कम स्थान दे पाने की लेखक की मजबूरी है, फिर भी वे अपनी चाहत के नाते उतने में ही इसे एक मजबूत पात्र के रूप में गढ़ सके हैं। फुलझरिया एक ऐसी स्त्री पात्र है जो पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों में अभी तक अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज नहीं करा पायी है लेकिन एक सम्भावित उभरती हुई भविष्य की शक्ति के रूप में शिवमूर्ति की प्रिय पात्र बनकर उनके सपनों के किसी अंश को अभिव्यक्त करती है। यह चरित्र और आत्मबल के स्तर पर अन्य सभी पात्रों पर भारी पड़ती हुई एक नयी आशा की

किरण के रूप में कहानी में उतारी गयी है।

इस कहानी के घटनाक्रम में फुलझरिया का प्रवेश भी आम पात्रों की तरह नहीं होता। अचानक एक झटके से शिवमूर्ति इस पात्र को पटल पर रखते हैं -''सचमुच फुलझरिया की 'लक्क' तेज है। सबसे कैचिंग सिम्बल उसे ही मिला -'खुला हुआ छाता'।'' यहीं से कहानीकार के हृदय में फुलझरिया के प्रति एक 'सॉफ्ट कार्नर' नजर आ जाता है। ठाकुर कहते हैं - ''ऐसा सिम्बल जो अन्धों को भी अँधेरे में दिख जाय।''

आगे फुलझरिया का जो वर्णन किया गया है, उसे देखें तो भी स्पष्ट होता है कि लेखक की तरफ से उसके सपनों की पात्र है यह, क्योंकि बिना किसी सहायता-समर्थन के उसका हर कार्य पूरा हो जाता है, जबकि वह न तो पैसे वाली है, न यहाँ उसके कोई सगे-सम्बन्धी ही हैं, न वह पढ़ी-लिखी ही है। सिवाय लेखक के सपनों में होने के, दूसरा कोई सोर्स उसके पास नहीं है-''ससुराल की परित्यक्ता फुलझरिया। उसके मायके में शरण लेने पर किसी को क्या ऐतराज! गाँव में एक सस्ता मजदूर बढ़ा। खुशी की बात। वोटर लिस्ट में नाम चढ़ गया। बी.पी.एल. कार्ड बन गया। खुद पदारथ ने बनवा दिया। यह भी ठीक। लेकिन एक दिन परधानी लड़ जायेगी, किसने सोचा था! जीते भले न, अपनी बिरादरी के पचीस तीस वोट तो काट ही लेगी। पदारथ का मानना है कि उसे ठाकुर ने खड़े होने के लिए उकसाया। ठाकुर इसे पदारथ का काम मान रहे हैं। पर्चा दाखिले के समय कोई भेद नहीं खुला। न कोई भीड़, न जलूस। भाई भतीजे साइकिल से जाकर पर्चा दाखिल करा लाए। जाँच में पाँच पर्चे ख़ारिज़ हुए, लेकिन फुलझरिया उसमें भी पास हो गई।''

यह पैराग्राफ बिना कुछ ख़ास कहे ही पाठक की सहानुभूति की पात्र बना देता है फुलझरिया को। बाद में प्रचार करने के उसके सलीके पर एक प्रसंग लेखक द्वारा दिया गया है। ''फुलझरिया देवी अपनी दोनों भाभियों और तीन भतीजियों के साथ काला छाता लगाकर प्रचार के लिए निकली हैं। कहती हैं पूत न भतार। बेटी न बेटा। मैं किसके लिए लूट मचाऊँगी। भगवान ने अकेला किया है तो कुछ सोच कर किया है। 'पब्लिक' की सेवा के लिए। सारा गाँव मेरा भाई-बाप है।''

यादव टोले की किसी दुलहिन ने पूछा, ''जीत गयी तो परधानी कैसे करोगी बुआ?''

''कुर्सी पर बैठ के करेंगे दुलहिन। सीना ठोंक कर करेंगे।'' सीने पर मुक्का मारकर बुआ ने बताया, ''मेरे जीते जी गाँव का हिस्सा हाकिम लोग खाकर दिखायें जरा! पेट में हाथ डालकर निकाल लाउंगी।''

सब हँसती हैं।

उसका भाषण सुनने के लिए औरतों की भीड़ लग जाती है।

''बड़ी हिम्मत वाली है। जीत गयी तो बड़े-बड़ों की बोलती बन्द कर देगी।''

फुलझरिया के बेदाग़ चरित्र के चलते उसका चरित्र हनन करने की पदारथ की कोशिश भी बेकार हो जाती है। और अंतिम परिणाम में वह नम्बर दो पर रहती है। यह बदलाव

की सच्ची आकांक्षा रखने वालों की बढ़ती ताकत की तरफ लेखक का इशारा उसके खुद के अन्दर की ही अभिव्यक्ति है।

शिवमूर्ति ने एक अद्‌भुत प्रयोग किया है। जग्गू की तीनों पीढ़ियों को तीन अलग-अलग युगबोध के साथ एक ही दृश्य में समेकित कर दिया है। और विचित्र तरीके से तीनों के वार्तालाप को एक ही कालक्रम में इकट्‌ठा कर दिया है। जबकि इन तीनों में से एक मृतक है, दूसरा आधी नींद में सो रहा है और तीसरा जागृत अवस्था में नया सपना देख रहा है।

कहानी में बदलू अपनी खटिया पर लेटा है, अर्धनिद्रित है। वह सपने और सोचने के बीच की स्थिति में है, जब मुँह से स्फुट बड़बड़ाहट भी निकल जा रही है। अतीत के दृश्य उसकी आँखों के समक्ष उभर रहे हैं। तब जग्गू का जन्म भी नहीं हुआ था। बदलू की अधमुँदी आँखों में वही दृश्य झिलमिला रहे हैं, जब बरसाती ने अपने बेटे बदलू की ड्यूटी एसीओ साहब का जूता चमकाने के लिए लगाई थी।

इस स्थान पर शिवमूर्ति के चरित्र चित्रण की मनोवैज्ञानिक सावधानी देखने लायक है। चूँकि चित्रण बरसाती का हो रहा है, जो इस घटना के समय मृत्यु के नज़दीक पहुँचता बूढ़ा हो चुका है, इसलिए उसके सख़्त हो चुके शरीर, बुद्धि और मन में किसी नये, कोमल उत्साहवर्धक और परिवर्तनकारी स्वप्न को देखने या स्वीकार कर पाने की सामर्थ्य चुक गयी है। इस अवस्था में जैसे बची हुई जिजीविषा का एक मात्र लक्ष्य शरीर को किसी तरह कुछ दिन और बचाये रखने का होता है, उसी तरह मन का भी लक्ष्य अपने वर्तमान संसार को किसी तरह बचाये रखना ही होता है। इसीलिए हल्के से हल्के जोखिम से भी दूर रहता है वह। एसीओ साहब के नई जगह चक काटने के प्रस्ताव को बरसाती किसी भी प्रलोभन पर स्वीकार नहीं करता, जबकि बदलू की आँखों में एसीओ ने लखपती बनने का सपना रोप दिया है। इसलिए वह बरसाती को बोलने का मौका ही नहीं देता।

अचानक बाप से एक कदम पीछे खड़ा बदलू आगे बढ़कर कहता है-''राज़ी हैं।''

यहाँ तक तो बदलू सपने में अतीत को याद कर रहा है और बड़बड़ा रहा है, लेकिन शिवमूर्ति यहीं पर भविष्य के नये सपनों का वर्तमान के माध्यम से अतीत से मिला देते हैं। दरअसल इससे पहले जग्गू उस गड़हे वाली जमीन को रेहन रखकर चुनाव के लिए पैसा जुटाने के लिए राजी कराने की बहुत कोशिश कर चुका है। बदलू के मुँह से बड़बड़ाहट में 'राज़ी हैं' शब्द सुनकर उसे लगता है कि बापू ज़मीन रेहन रखने के लिए राज़ी हो गये हैं। और तब वह चमत्कार घटित होता है-'राज़ी! बाप के मुँह से सुनकर खटिया के बगल खड़ा जग्गू खुशी से चीख़ पड़ता है- बापू ऊ ऊ।'

'वह रजाई के ऊपर से बाप की देह को छाप लेता है और बीड़ी तम्बाकू से बरसाते उसके मुँह को ताबड़तोड़ चूमने लगता है।'

इस क्षण बदलू नींद मे अतीत की घटना के दृश्य का सपना देखते बड़बड़ा रहा है जिसमें वह है, उसका बाप बरसाती है और एसीओ हैं। लेकिन इसी क्षण में जागृत

अवस्था में वहीं खड़ा है जग्गू, और बदलू का सपने में बोला गया शब्द 'राज़ी हैं' जग्गू को अचानक एक नये सपने की दुनिया में पहुँचा देता है - जागृत सपने की दुनिया में। जहाँ पात्र अपना स्थान बदल लेते हैं। इस सपने में जग्गू अचानक नौजवान बदलू की जगह पर खड़ा हो जाता है और पिता बदलू को बरसाती की जगह कर देता है। एसीओ साहब की जगह परधानी के सब्ज़बाग दिखाते ठाकुर ले लेते हैं, और वही कहानी फिर दुहरायी जाती है इस गड़हे वाली ज़मीन के साथ, जो पहले बरसाती के उँचासे की बारह आना मालियत की ज़मीन के साथ हुई थी।

अतीत, वर्तमान और भविष्य के युगीन सत्यों को एक साथ प्रस्तुत करके, पाठक को एक ऐतिहासिक विकास-यात्रा से पल भर में ही गुज़ार ले जाते हैं शिवमूर्ति। और पाठक के भीतर कहीं समस्त प्रतिगामी शक्तियों के बंधन से मनुष्य, मनुष्यता और सत्य के मुक्ति-युद्ध की अंतिम विजय के प्रति ललक भी पैदा कर देते हैं।

शिवमूर्ति की भाषा पर बड़ी गहरी पकड़ है। यह गहरी पकड़ उन्हें लोक जीवन में गहरे लगाव और ज़मीन से लम्बे जुड़ाव के जरिये हासिल हुई है। भाषा पर इस पकड़ के चलते वे हर जगह सटीक और इच्छित प्रभावकारी तरीके से अपने विचारों को अभिव्यक्ति दे पाने में सफल होते हैं। उम्र, जाति, धर्म, वर्ग और व्यक्तिगत चरित्रों के इतने शेड्स वे अपनी अनुभव की पिटारी से छाँट-छाँट कर ऐसी स्वाभाविकता से सम्प्रेषित कर पाते हैं तो केवल अपनी भाषा सामर्थ्य के बल पर। इस एक कहानी में ही प्रयुक्त मुहावरों की लिस्ट भी बहुत लम्बी हो जायेगी। कुछ एक प्रयोगों की छटा देखिये -

''मुझे पागल कुत्ते ने काटा है जो ठाकुरों बाभनों के गाँव में परधानी लड़ूँगा। लड़कर उनकी आँख का काँटा बनना है क्या?''

''कहता था खुलकर मदद करूँगा।''

''परधानी का बवंडर हम नहीं सम्भाल सकते। उड़ जायेंगे।''

''ऐसा घामड़ बाप किसी को न मिले। उसने कपार पीट लिया।''

''सवेरे-सवेरे कैसे राह भूल गये?''

मास्टर की आह निकली, ''नौकरी से इस्तीफा देना होगा।''

खुशामद रंग लाई। मास्टर ढीले पड़े। बोले, ''जाओ, पहले और लोगों का मन-मुँह तौलो। मैं तो घर का आदमी ठहरा।''

''इतनी देर में पूरे टोले में बात फैल गयी।''

''पदारथ चुप्पे और जबान से मिठबोले थे। दुश्मन भी सामने पड़ने पर बगुला भगत का चोला देख ठंडा पड़ जाता था। लेकिन यह तो लगता है पदारथ का भी कान काटेगा।''

''पहले तो ससुरे ने ललकार कर सूली पर चढ़ा दिया। अब मंझधार में लाकर घटियारी कर रहा है।''

''बात तो सही है। माँस बाघ के मुँह में डाल चुके हो लेकिन जरूरत पड़ेगी तो रास्ता निकाला जायेगा।''

पूरी कहानी भरी पड़ी है ऐसे प्रयोगों से।

शिवमूर्ति के अन्तर की जमीन में एक शरारती रसिकता बचपन से ही अपना घर बनाकर आबाद है। इसे आप उनकी किसी भी कहानी में रह-रह कर सर उठाकर झाँकते और अपनी उपस्थिति दर्ज कराते देख सकते हैं। वह अपनी आदत से इस कहानी में भी बाज नहीं आते। इसके लिए वह दृश्य देखें, जब जग्गू पत्नी से अपने परधानी में खड़े होने की चर्चा करता है -

''क्या अण्ड-बण्ड बोल रहे हो! कहीं से पीकर आये हो क्या? इधर आओ। तुम्हारा मुँह सूंघूँ।''

''अरे हट। मुँह में क्या रखा है? हाँ, चुम्मा लेने का मन हो तो साफ-साफ बोल।...और दौड़कर तेल गरम कर ला। मालिस करना होगा। पैर दर्द से फटे जा रहे हैं।''

पत्नी बाहर जाने के लिए मुड़ भी न पायी थी कि उसने जूठे हाथ ही उसे अंकवार में भरा और लिए-दिए बगल की खटिया पर गिर पड़ा।

खटिया की पाटी टूटी चर्र।

सुलताना और उसके पति का जिक्र करते हुए शिवमूर्ति जी की भाषा देखें–

''साला, सुलतनवा जैसे मोती को रोज चुगता होगा।'' उसे ईर्ष्या हुई।

''सातवीं क्लास में सुलताना उसके बगल वाले टाट पर दरवाजे के पास बैठती थी। आते-जाते वह उसकी समीज के अन्दर झाँकने की कोशिश करता था। सुलताना को सब पता था। वह सावधान हो जाती थी। समीज को पीछे से थोड़ा नीचे खींच देती थी। फिर उसकी निराशा पर मुस्कराती थी।''

क्लेप्टोक्रेसी जैसे गम्भीर विषय पर चर्चा करते समय भी मौका पाने पर शिवमूर्ति शरारती भाषा का प्रयोग करने से चूकते नहीं।

-''क्यों नहीं हो सकता? क्या नहीं हो सकता? बुलाओ मुंशिया को। ससुरा साँझ से ही मुंशियाइन के लंहगे में घुस जाता है। बुढ़ापे में भी अलग नहीं सो सकता। बुलाओ कायस्थ बुद्धी लगाकर कोई तरकीब निकाले।''

''लहंगे में घुसना कब का छूट गया लेकिन घुसने की कल्पना कर के अधगंजे सर के सफेद बाल भी परपराकर खड़े हो जाते हैं।''

यहाँ तक कि अपनी प्रिय पात्र फुलझरी के साथ हुए षड्यंत्र का वर्णन करते समय भी उनकी प्रकृति अपना काम कर गई है–

''बड़ी छतीसी औरत निकली गुइयाँ।'' औरतों का झुण्ड दातों तले उंगली दबा रहा है।

''कब से है यह आशनाई? किसी को भनक तक नहीं लगी।''

''कहाँ चालीस-पैतालीस की फुलझरिया, कहाँ बीस-बाइस का शंकरवा! दूने की चोट। माई रे।''

पोलिंग पार्टी में आई एक महिला का वर्णन करते समय शिवमूर्ति की कलम की

धार देखें -

''पार्टी में साल भर के बच्चे वाली एक सुन्दर महिला भी है। बहुत उदास है। लाख जतन के बाद भी वह अपनी ड्यूटी नहीं कटवा सकी। सभी महिला को देख-देख कर बच्चे से प्यार जता रहे हैं। उसके पीने के लिए दूध आ गया है।''

शिवमूर्ति के यह रसात्मक वर्णन जहाँ कहानी की एकरसता को भंग करते हैं तथा पाठक के तनाव को कम करते हैं वहीं दृश्यों को स्वाभाविकता भी प्रदान करते हैं तथा व्यंग्य को और भी धारदार बना देते हैं।

शिवमूर्ति की कहानी कहने की कला अद्भुत है। अपनी अभिव्यक्ति को धारदार बनाने के लिए वे कई तरह के प्रयोग करते हैं। उनके यह प्रयोग देहाती मिट्टी से अंकुरित, लोक की खुशबू में रचे-बसे प्रयोग हैं, जिसे किसानों ने सदियों से माँज-माँज कर धारदार बना दिया है। इनमें से एक है, अपनी बात कहने के लिए इशारों का प्रयोग। उचित अवसर पर शिवमूर्ति बहुत सधे हाथों से ऐसा इशारा करके हट जाते हैं और पचाने की जिम्मेदारी पाठक पर छोड़ देते हैं। जब चुनाव प्रचार के समय मुन्दर चन्द्रिका सिंह से कहता है कि मन में कोई मैल न रखो कई पीढ़ी से आपकी मैल ढोते आये हैं। तो शिवमूर्ति का इशारा देखें-''हाथ जोड़ने के तुरन्त बाद हाथ मलने की आदत है मुन्दर की। जैसे साबुन लगाने के बाद नल के नीचे धो रहा हो।''

अपने ही वर्ग व वर्ण दुश्मन से हाथ जोड़ने की मज़बूरी को मुन्दर के मन का अवचेतन स्वीकार नहीं कर पाता। इस जगह दरअसल इस मज़बूरी से मन में उभरी अवमानना को ही शमित करता है मुन्दर का अवचेतन। उसका अवचेतन मन यह विश्वास करता है कि सामने वाला व्यक्ति इतना गन्दगी से भरा है कि प्रणाम के लिए हाथ जोड़ने पर भी हाथ गंदे हो गये हैं, जिसे धोना जरूरी है। अपनी आत्मा में इस गन्दगी से उभरे लिजलिजेपन और दुर्गंध को शमित करने के लिए अवचेतन मन द्वारा अंजाने ही हाथ धोने का अभिनय कराके उसका प्रतिकार करता है मुन्दर। अवचेतन मन की ऐसी-ऐसी परतें खोलते, शिवमूर्ति के ऐसे बारीक मनोवैज्ञानिक इशारे अनजाने ही अपना प्रभाव छोड़ते हैं, लेकिन प्रकट में जल्दी पता नहीं चलता।

जग्गू जब सुल्ताना से मिलकर लौटता है तो लेखक उसके मन के कोमल भाव को इशारे के एक वाक्य से ही अभिव्यक्त कर देता है-

''उसका मन कहता है, कहीं अकेले में बैठकर देर तक सुल्ताना के बारे में अच्छी-अच्छी बातें सोचता रहे। सड़क पर छलाँग लगाते हुए चलने का मन कर रहा है।''

बचपन की मीत सुल्ताना से बहुत अर्से बाद मिलकर और सकारात्मक रुख पाकर मन हल्का हो जाने और मन में पुरानी स्मृतियाँ उभरने की बात को इतने आकर्षक इशारे से व्यक्त किया है कहानीकार ने, जैसे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। खुलकर कुछ कहना भी न पड़े और पाठक रस से सराबोर भी हो जायें।

वैसे ही मुंशीजी की प्रकृति स्पष्ट करने के लिए छोटे-छोटे दो वाक्यों में इशारे से

बहुत कुछ कह दिया गया है-''घर जाते हुए जग्गू की खोपड़ी भाँय-भाँय कर रही है। कैसे-कैसे साँप-बिच्छू भरे हैं गाँव की खोह में। जब तक काट न लें पता ही नहीं चलता।''

यह कथन केवल मुंशीजी का ही नहीं बल्कि गाँव के ऐसे कसरी लोगों की जमात का चरित्र प्रकट करता है जिनसे गाँव की दुनिया भरी पड़ी है। पहले गाँव की चौपालों में और अब चौपालें ख़त्म होने के बाद तपनी की आग के इर्द-गिर्द बैठकर सतनत-पुतनत के किस्से और सीमित दुनिया की असीमित बातों को बार-बार ताश के पत्तों की तरह फेटे जाने पर ही ऐसे कुछ विशिष्ट लोगों का चरित्र गठित होता है जो सांप-बिच्छू से भी अधिक ज़हरीले हो जाते हैं और बातों से ही पानी में आग लगा देने में सक्षम हो जाते हैं।

काउन्टिंग के पहले वाली रात शिवमूर्ति ठाकुर को एक सपना दिखाते हैं, यह सपना भी उनका जबरदस्त इशारा ही है-''रात के सपने ने उनकी आवाज में कम्पन पैदा कर दिया है। सपना देखा कि जग्गू हाथी की नंगी पीठ पर बैठा उसी की ओर आ रहा है। उसके हाथ में लम्बा अंकुश है। उनको देखकर अट्टहास करता है, तुम्हीं को खोज रहा हूँ ठाकुर। और हाथी उनकी ओर दौड़ा देता है। निचाट मैदान में वे अकेले भागे जा रहे हैं, लेकिन पैर ही नहीं उठते। पीछे हाथी की चिग्घाड़। राम सिंह पहले ही भाग खड़ा हुआ। उनकी धोती खुल गई है। धोती की लाँग लम्बी होकर पूँछ की तरह घिसट रही है। पैरों में लिपट रही है।''

इस सपनें में एक साथ कई इशारे हैं। बसपा फैक्टर का प्रतिनिधि हाथी है, हाथी की नंगी पीठ पर दलित उभार का प्रतिनिधि जग्गू है, जिसके हाथ में लम्बा अंकुश है। जग्गू का अट्टहास है- ''तुम्हीं को खोज रहा हूँ ठाकुर''। इशारे में आया हाथी नंगी पीठ वाला हाथी है इसलिए वह ठाकुर के लिए शुभ सगुन वाला गणेश नहीं है। यह हाथी ठाकुर के लिए विजातीय है। ठाकुर का सजातीय हाथी हमेशा हौदे वाला हाथी ही रहा है- चाहे युद्ध में, चाहे शादी में, चाहे घूमने में, यह ठाकुर के दरवाजे पर बंधाने वाला हाथी नहीं है। यह रजवाड़ों के रंग ढंग सिखाया हुआ नहीं, जंगल में मुसहर के बच्चों की टिटकोरी सुनकर खड़ा हो जाने वाला, उनके लिए तेंदू पत्ता और लकड़ियाँ ढोने वाला हाथी है। ठाकुर के सपनों में यह निश्चय ही बसपा फैक्टर है। जिसकी नंगी पीठ पर यह दलित उभार का प्रतिनिधि जग्गू बैठा है। जग्गू के हाथ में लम्बा अंकुश होना भी इशारा है। आमतौर पर हाथी को नियन्त्रित करने के लिए महावत लम्बे अंकुश का प्रयोग नहीं करते। ज़ाहिर है लम्बा अंकुश हाथी की पीठ से ज़मीन तक वार करने के लिए ही है। ठाकुर का अवचेतन अपनी संचित अनुभूतियों की आत्मालोचना करता है तो सपने में अपने ही अत्याचारों और प्रतिहिंसक स्वभाव का आईना बन जाता है, तथा जग्गू को नायक और खुद को खलनायक बना देता है। कठिनाई के दिनों में स्वार्थी मित्र सबसे पहले भागते हैं, सो राम सिंह भाग गया है। धोती की लांग लम्बी होकर पूँछ की तरह घिसटते हुए पैरों से लिपट जाने द्वारा हिंसक जानवर के शक्तिहीन होकर गीदड़ बन जाने

का इशारा है।

यह शिवमूर्ति जी की कला ही है जो इतने महत्त्वपूर्ण विमर्श को एक छोटे से, देखने में सीधे सादे सपने के माध्यम से पुरजोर ढंग से व्यक्त कर देती है।

'बनाना रिपब्लिक' की क्रान्तिकारी चेतना 'कफ़न' और 'ठाकुर का कुआँ' से बहुत आगे बढ़ गई है। यह बात ध्यान देने की है कि 'कफ़न' में तत्कालीन सामन्त, घीसू माधो की पत्नी के दाह संस्कार के लिए जो मदद करते हैं, उसकी तुलना ठाकुर का कुआँ में बीमार पति के लिए चोरी से पानी लेने गई गंगी को दौड़ा लेने और गम्भीर रूप से बीमार जोखू द्वारा गंदा, जहरीला, बदबूदार पानी पीने की मजबूरी से की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि सामंतवाद दलित की मदद और उस पर प्रहार दोनों न तो किसी दया से अभिभूत होकर करता है न किसी बेवजह उन्मत्त क्रोध से करता है। दया और क्रोध की यह दोनों ही क्रियाएँ वह अपने ढाँचे को मजबूत और अटूट बनाये रखने के लिए बेगारी और मज़बूरी के श्रम की परंपरा और उसकी सामाजिक संरचना के लिए आवश्यक दार्शनिक औजार को धार देने के लिए, उसे चमचमाता बनाये रखने के लिए ही करता है। 'राम क चिरई-राम क खेत, खा ले चिरई भर-भर पेट' जैसी कहावतें गौरैया के लिए हो सकती हैं, लेकिन दलित के लड़के द्वारा एक गन्ना तोड़ लिए जाने पर या एक गिरा हुआ आम उठा लिए जाने पर भी उसे दण्ड का भागी बना सकते हैं। 'सवा सेर गेहूँ' के कर्ज से उसे जनम-जनम तक गुलाम बनाये रख सकने वाली यह सामंती दया कहीं से भी सामन्तवाद को सहानुभूति का पात्र नहीं बनाती। अपने कूप से पानी न लेने देने और जग्गू के दरवाजे आकर उसकी बाल्टी भर पानी पी जाने की इच्छा जाहिर करने, दोनों ही बातों के केन्द्र में सामंत द्वारा अपनी समस्त सुविधा सम्पन्नता बरक़रार रखने की जद्दोजहद का ही उद्देश्य छिपा हुआ है। उसी प्रकार 'ठाकुर का कुआँ' में बीमार पति जोखू की जान बचाने के लिए, सुनसान अंधेरी आधी रात में हर प्रकार के भय पर क़ाबू करके ठाकुर के कुएँ पर चोरी से पानी लेने जाना दलित गंगी को चोर और अपराधी नहीं साबित करता, बल्कि एक अमानवीय और अत्याचारी परम्परा और क़ानून के भंजन हेतु अदम्य मानवीय जिजीविषा द्वारा किया गया मुक्तिकामी प्रयास है। 'कफ़न' में घीसू-माधो द्वारा कफ़न के पैसों से दावत उड़ाना और शराब पीकर नाचना भी उसी अमानवीय ब्राह्मणवाद के सबसे मज़बूत दार्शनिक आधार 'परलोक के व्यापार' पर कमज़ोर हाथों द्वारा किया गया अत्यन्त बलशाली प्रहार है। उनका मेहनत से भागना आलस्य नहीं बल्कि शोषण की मशीन का पुर्जा बनने से इंकार का एक व्यंगात्मक स्वरूप है और प्रसव पीड़ा में मरती हुई बुधिया की कोई मदद न करके भुने जाते हुए आलू पर निगाह गड़ाये रखना सामन्ती क्रूर आर्थिक सम्बन्धों से उपजी एक भयावह मनस्थिति का मार्मिक व्यंग्यात्मक अट्टहास है।

'बनाना रिपब्लिक' में हाथी द्वारा दौड़ाये जाने का सपना देखने के बाद अन्दर से हिल चुके, और जीते हुए जग्गू की अगवानी के लिए सारी तैयारी करके इन्तज़ार करते ठाकुर जब देखते हैं कि जलूस सीधे जग्गू के घर की ओर मुड़ गया तो ढोल ताशे की

धमक अचानक उनकी छाती पर धमकने लगती है। सिंघा बाजा की आवाज डरावनी लगने लगती है। शिवराज कुंवरि गुस्से में हाथ की माला सामने चौकी के नीचे फेंक देती हैं। लेकिन ठाकुर थोड़े असमंजस के बाद तय करते हैं कि वे ख़ुद जायेंगे। ''जाना ही होगा। एक लाख से ज्यादा इनवेस्ट कर चुके हैं। बात बिगड़नी नहीं चाहिए।'' 'घुटने टेककर वह हाथ बढ़ाते हैं और चौकी के नीचे से माला निकाल कर कुर्ते की बगल वाली जेब में डालते हैं। मंकी टोपी निकाल कर फेंकते हैं और कुबरी लेकर निकल पड़ते हैं।'' जग्गू को पहनाने के लिए माला उठाने को ठाकुर का घुटने टेकना भी कहानी में एक प्रतीक है, एक महत्त्वपूर्ण इशारा है सामन्तवाद के धीरे-धीरे घुटना टेककर दलित के दरवाजे पर अपनी मजबूरी के चलते जाने के लिए तैयार होने का। शक्ति के बदलते समीकरण का। पहले भी सामन्त अपनी मजबूरी के चलते ही दलित के दरवाजे पर जाते थे-मजदूर बुलाने, लेकिन तब अकड़ में जाते थे, आज अकड़ ढीली हो चुकी है। परिदृश्य बदल चुका है।

यह बात भी ध्यान देने की है कि शिवराज कुँवरि गुस्से में हाथ की माला चौकी के नीचे फेंकती हैं जबकि ठाकुर 'घुटने टेककर' माला निकालते हैं। वे अपनी पत्नी से माला गुँथवाते ज़रूर हैं, लेकिन चौकी के नीचे उनके द्वारा फेंकी माला को उनसे निकालने के लिए कहने के बजाय ख़ुद ही घुटने टेक कर हाथ बढ़ाते हैं। शिवमूर्ति द्वारा यह चित्रण वह भी कहानी के चरम बिंदु पर अनायास ही नहीं किया गया है। बहुत सोच-समझकर सायास किया गया चित्रण है यह। वे गाँव की मिट्टी में पले बढ़े, और समस्त अनुभव की पिटारी उसी मिट्टी से खींचकर समृद्ध हुए लेखक हैं। सामन्तवाद की नस-नस से वाक़िफ़ हैं वे। वे जानते हैं कि ठाकुर टूटे हैं, शिवराज कुँवरि अभी नहीं टूटी हैं। सवर्ण स्त्री भले ही पुरुष सत्ता की सताई हुई, उसके सबसे घातक प्रहारों को सहन करने के लिए अभिशप्त है, फिर भी वह इस व्यवस्था की सबसे प्रमुख पोषक है, सबसे मज़बूत कड़ी है। हर दुख और दुर्दिन में अपने पुरुष, अपने बेटे, अपने भाई को फिर से हर दुख सहकर भी सहारा देने को खड़ी देवी भी है। सदियों-सदियों उसके मन में इस देवी स्वरूप की प्राण-प्रतिष्ठा करता रहा है सामन्तवाद। इसलिए वे ठाकुर का हाथ पकड़कर खींचती हुई कहती हैं- ''जाने दीजिए हरामजादे को। दोगला निकला। आप अन्दर चलिए।'' उन्हें इस दुनिया के बदल जाने का/बदल पाने का कत्तई आभास/विश्वास नहीं है। क्योंकि यह व्यवस्था उनके लिए सनातन है, परमात्मा द्वारा सृजित है; जबकि ठाकुर इसकी सारी पोल जानते हैं। उन्हें पता है कि यह हनक, यह साम्राज्य बनाने के लिए क्या-क्या करना पड़ता है। जान देने और जान लेने के रास्ते से गुजर कर ही गाँव से लेकर राजमहलों तक के साम्राज्य अस्तित्व में आते हैं और क़ायम रहते हैं। इसलिए घुटने टेककर ठाकुर का माला उठाना बहुत बड़ा प्रतीक बन जाता है कहानी में; और ध्वस्त होती कृषि-अर्थव्यवस्था में स्वयं पूँजीवादी अपंग-लोकतन्त्र द्वारा घायल हुए इस मरणासन्न सामन्तवाद के लिए बनने वाले ताबूत की पहली कील जैसी अनुभूति प्रदान करता है।

इस कहानी में लेखक अपनी मनपसन्द स्नेहपात्र फुलझरी को एक क्राँतिकारी चरित्र

के प्रतीक के रूप में ले आये हैं। उसे कमर में लाल चुनरी बाँधे हुए दिखाकर वे क्रान्तिकारी वामपंथ की ओर ही इशारा करते हैं वरना उसे नीली चुनरी बाँधे हुए नहीं दिखाते। अपनी इस चाहत का स्पष्ट इशारा जब उन्हें पर्याप्त नहीं लगता तब वे फुलझरिया के भाषण में भी उसकी क्रान्तिकारी ऊर्जा को उजागर करते हैं-''पदारथ ने तेरह औरतों को विधवा बनाया है। मरद आछत विधावा। उन्हें फर्जी पेंशन दिला रहे हैं। और तो और अपनी सगी पतोहू को विधवा दिखा दिया है। कोई पूछे भला कि विधवा है तो गोद में चार महीने की बेटी किसकी है? जग्गू और मुन्दर में इतनी हिम्मत है कि ठाकुर बाभन टोले की फर्जी विधवाओं की पेंशन रोक सके? जीतते ही मैं यह जाल बट्टा बन्द कराऊँगी।''

इस पात्र के प्रति शिवमूर्ति जी का लगाव इस हद तक है कि जहाँ और पात्र लाखों खर्च करते और तरह तरह के हथकण्डे अपनाते हैं, लोगों की जी हजूरी करते हैं और पैसा ख़र्च करके फुलझरी के चरित्र हनन की असफल कोशिश करते हैं, वहीं फुलझरी केवल अपनी क्रान्तिकारी चेतना, सच्चाई और संघर्षशीलता के बलपर परिणाम में नम्बर दो पर स्थान पाती है। जबकि इतना खर्च और ठाकुर के सपोर्ट के बाद भी जग्गू मात्र सात वोट से जीतता है। कहानी की यह परिणति दरअसल कहानीकार के हृदय में क्रान्तिकारी वामपंथ के प्रति आन्तरिक संवेदना तथा उसकी अन्तिम जीत के प्रति उनके विश्वास को ही अभिव्यक्त करती है। यहीं पर यह कहानी यह उम्मीद भी जगाती है कि आने वाले भविष्य में शिवमूर्ति आँचलिकता का कलेवर तोड़कर राष्ट्रीय जनसंघर्षों के क्रान्तिकारी परिदृश्य को भी अपनी कलम से उसी तीव्र अनुभूति के साथ अभिव्यक्त करेंगे, जिससे वे अब तक की संवेदनाओं को ज़ुबान देते आये हैं, तथा घीसू-माधो की उस पीढ़ी को अपनी कहानियों में सजाएँगे जो एक नयी दुनिया बसाने का, एक नएँ प्यार का अंकुर रोपने का, एक नये तन्त्र की स्थापना का सपना लेकर कुर्बानियाँ दे रहे हैं।

'नन्हें दोस्त के नाम' कविता-संग्रह प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ निरन्तर प्रकाशित।
फिलहाल न्याय विभाग में कार्यरत।
सम्पर्क : 'आयाम' 262 जे/1, लेन नं.- 4
बैंकर्स कॉलोनी परमानतपुर, जौनपुर (उ.प्र.), पिन-222002
मोबाइल : 09838201907

प्रांजल धर

संवेदनात्मक सघनता का सूक्ष्म आख्यान

जो कहानियाँ हमें हमारी दैनंदिन समस्याओं से रू-ब-रू कराती हैं, हमें यथार्थ के तीखे कोणों का निदर्शन कराती हैं और कहने की अनोखी शैली से लैस होती हैं, वे निश्चित ही मर्मवेधी कहानियाँ होती हैं। कथा साहित्य में अपनी निराली पहचान रखने वाले शिवमूर्ति जी पर यह बात पूरी तरह लागू होती है कि वे अपने पाठकों का मन जीत लेते हैं। शायद इसलिए क्योंकि शिवमूर्ति की ज्यादातर रचनाएँ उनकी अपनी असली रचनाओं की तरह हमारे सामने आती हैं।

मुझे याद है कि रवीन्द्र कालिया ने आज से साढ़े पाँच साल पहले सन् 2008 की जनवरी में 'नया ज्ञानोदय' का एक बेहद खूबसूरत अंक निकाला था जिसमें शिवमूर्ति जी पर ढेर सारी सामग्री थी। उसमें कथाकार शिवमूर्ति से की गयी एक बातचीत भी थी और उनका सम्पूर्ण उपन्यास 'आखिरी छलाँग' भी उसी अंक में प्रकाशित हुआ था। गजब का उपन्यास था वह। उसमें इस उपन्यास की रचना प्रक्रिया पर लिखते हुए स्वयं शिवमूर्ति ने बताया था कि ''जो सज्जन मुझसे सलाह लेने आए थे, उन्हें मैं क्या सलाह देता? बेटियों के ब्याह का संकट तो मैं खुद भी झेल रहा था। जिसके दरवाजे जाइये, वही दुरदुराता है। बेटे की पढ़ाई भी जरूरी थी। खेत भी बेचने से बचाना था। लेकिन कैसे?'' किसानों के जनजीवन से जुड़े ऐसे संकट को इस उपन्यास का 'बीज' बताया था शिवमूर्ति ने। तमाम छोटी-छोटी विपत्तियाँ खेती-किसानी से जुड़े लोगों को किस तरह अपने मकड़जाल में लपेटती चली जाती हैं, यह हमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तौर पर शिवमूर्ति की अनेक संस्कृति में दिखता है। पर शिवमूर्ति की कहानियाँ सिर्फ इतना ही नहीं करतीं-कहतीं, वे जटिल और उलझाऊ यथार्थ को समय के सापेक्ष कुछ इस तरह प्रस्तुत करती हैं कि रचना में सार्थकता और शाश्वतता के साथ-साथ सामयिकता और समाचारीयता के द्वन्द्वात्मक तत्वों

का संधान उपोत्पाद की शक्ल में होता चला जाता है।

कम से कम दो घटनाएँ हैं मेरे जीवन की, जो शिवमूर्ति जी की कहानियों और उनके रचना-संसार से जुड़ती हैं। पहली तो यह कि एक बार रवीन्द्र कालिया का एक बातचीतनुमा साक्षात्कार लेते हुए मुझे शिवमूर्ति जी की कहानी 'सिरी उपमा जोग' के बारे में कुछ ऐसा पता चला जिसे हम आमतौर पर भोक्ता का सत्य या साक्षी का सत्य कहकर खाँचे में बाँध दिया करते हैं। छह-सात साल पहले की बात है। कालिया जी ने बताया कि एक बार इलाहाबाद में शिवमूर्ति अपनी इस पुरस्कृत कहानी 'सिरी उपमा जोग' का पाठ कर रहे थे। और पाठ करते-करते वे बहुत ही ज्यादा भावुक हो गये, फिर कहानी पाठ में थोड़ी भावनात्मक बाधा आई और पानी-वानी लाकर शिवमूर्ति को पिलाकर नॉर्मल किया गया ताकि वे अपना पाठ आगे जारी रख सकें। मुझे अच्छी तरह याद है कि कालिया जी ने ये बातें बताते हुए बहुत गहरी साँस लेते हुए कहा था, ''अब कहाँ वैसा कोई कहानी पाठ होता है!'' बहुत गहरा अर्थ था इस वाक्य का, क्योंकि जिसने भी 'सिरी उपमा जोग' को पढ़ा है, उसके मन पर वैसा कुछ जरूर गुजरा होगा जो आमतौर पर नहीं गुजरा करता। यह कहानी पाक्षिक पत्रिका 'सारिका' द्वारा आयोजित युवा लेखन प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुई थी जिसे बाद में 'सारिका' के दिसम्बर 1984 के द्वितीय पक्ष में प्रकाशित किया गया था।

'सिरी उपमा जोग' में मानवीय तनाव की एक तीक्ष्णता है, इसका एक पूरा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। तमाम लोग जानते हैं कि किस तरह स्थितियों के आगे समर्पण करके आदमी दूसरी शादी करने को विवश हो जाता है, किसी निर्दोष को दण्डित करने की दिशा में आगे बढ़ जाता है। कहानी में नायक की एक पत्नी गाँव में रहती है और दूसरी मेम शहर में। पहली पत्नी से पैदा हुआ बच्चा नायक के बँगले पर आता है। बाहर बैठा रहता है। उस बच्चे के सन्दर्भ में शहरी मेम कहती है, ''पहले यह बताइये, वह है कौन? ...उस चुड़ैल की औलाद तो नहीं, जिसे आप गाँव का राज-पाट दे आए हैं? ऐसा हुआ तो खबरदार, जो उसे गेट के अन्दर भी लाए, खून पी जाऊँगी!'' 'सिरी उपमा जोग' की समापन की दशाएँ देखिए - ''नायक साहब का रक्तचाप बढ़ जाता है, वे चुपचाप सोफे पर निढाल पड़ जाते हैं, बाहर फागुनी जाड़ा बढ़ता जा रहा है। सबेरे उठकर वे देखते हैं - चबूतरे पर 'गाँव' नहीं है।''

हालाँकि इस पहली घटना के पहले मैंने 'सिरी उपमा जोग' को पढ़ रखा था, लेकिन मैंने इसके बाद उसे तीन-चार बार और पढ़ा। महसूस किया कि छोटी कहानी लिखना कितना चुनौतीपूर्ण काम है। और ऐसी छोटी कहानी जो हमारे पूरे आर्थिक-सामाजिक और समाजशास्त्रीय पहलू को अपने भीतर समाहित कर सके! एक तरफ अर्दलियों और जीप से लैस ए.डी.एम. साहब का वर्तमान जगत है, दूसरी तरफ उनके गाँव वाला महुए का पेड़ जिसकी जड़ पर बैठकर वे सबेरे से शाम तक 'कम्पटीशन' की तैयारी करते थे। एक तरफ वो गाँव वाली पत्नी - दीनता की मूर्ति, अति परिश्रम-कुपोषण और पति की निष्ठुरता से सूखा शरीर, गरीबी के मार से पस्त। दूसरी तरफ शहर वाली मेम। सोचने वाली बात

है कि आज तो फेसबुक जैसे तमाम संचार माध्यम भी विकसित हो गये हैं, फिर क्यों आज ऐसी कहानियाँ देखने-पढ़ने को नहीं मिलतीं!

दूसरी घटना यह है कि चित्र मुद्गल से एक बार मेरी बहुत लम्बी बात हुई शिवमूर्ति के समस्त रचना-संसार पर। चित्रा जी ने इतने गहरे और आकर्षक तरीके से अपनी बातें रखीं कि क्या कहूँ! वे बहुत पढ़ती हैं, निरन्तर पढ़ती हैं, अद्यतन सूचनाओं से लैस हैं। मुझे बहुत कुछ सीखने को भी मिला। उन्होंने शिवमूर्ति के स्त्री पात्रों के संघर्षों और उनकी तीक्ष्णता पर बहुत सटीक कहा। स्त्री पात्रों मसलन- 'तिरियाचरित्तर' की छम्मकछल्लो भी एक नायिका है जो ईंट के भट्ठे पर काम करती है। बेशक यहाँ ईंट के भट्ठे के माहौल का जीवन्त खाका खींचा गया है। बचपन में शादियाँ हो जाती हैं और पति पैसे कमाने के लिए परदेस चला जाता है। ससुर अपनी पतोहू पर अपनी कुदृष्ट डालता है। उसे नैतिकता की भी कोई परवाह नहीं है। गाँव-देहात में दलित समाज की महिला को लेकर तमाम विसंगतियों को रूपायित करने का सराहनीय साहस शिवमूर्ति ने किया है। यहाँ यह बात सामने आती है कि चारित्रिक पतन सवर्णों के साथ-साथ निम्नवर्ग में भी मौजूद है।

जिस तरह रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' पर राजकपूर के नायकत्व में 'तीसरी कसम' नाम की एक शानदार फिल्म बनी थी, उसी तरह शिवमूर्ति की कहानी 'तिरियाचरित्तर' पर भी वासु चटर्जी ने एक फिल्म बनायी थी। अटल बिहारी वाजपेयी जब प्रधानमन्त्री बने थे, तब एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था कि उन्हें 'तीसरी कसम' से ज्यादा पसन्द कोई फिल्म नहीं आयी। अगर रेणु या प्रेमचन्द की परम्परा से शिवमूर्ति की तुलना करें तो प्रेमचन्द ने चारित्रिक विसंगतियों को लिया है जो अपनी बुनियादी किस्म में पारम्परिक हैं। रिश्तों की लक्ष्मणरेखा का अतिक्रमण करना एक नाजुक मसला होता है। ऐसे अतिक्रमणों के सन्दर्भ में शिवमूर्ति अलग हो जाते हैं। यह विचलन उचित भी हो सकता है लेकिन गाँव-देहात के दमन और शोषण को उजागर करने वाले कुछ और चित्रों और नजरियों की दरकार है। समय बदला है। उदाहरण के लिए महाजनी सभ्यता तो खत्म हो गई लेकिन क्या आजकल को-आपरेटिव बैंकों द्वारा गाँव-देहात के किसानों और मजदूरों का शोषण नहीं चल रहा है? रेणु के 'मैला आँचल' में हमें तमाम तरीके के शोषण एक साथ दिखते हैं, धर्म द्वारा किया जा रहा शोषण, मठों द्वारा किया जा रहा शोषण तथा समाज, सूदखोरों, विचारधारा और राजनीति द्वारा किया जा रहा शोषण भी। इतना ही नहीं, और भी कई किस्म के जटिल शोषण को रेणु ने उजागर किया है। परम्परा की बात करें तो, जहाँ तक 'सिरी उपमा जोग' जैसी कहानी का सम्बन्ध है, वह प्रेमचन्द के बाद की कहानी है। चित्रा मुद्गल की राय थी कि मैं तो कहूँगी कि 'सिरी उपमा जोग' शिवमूर्ति की असली कहानी है जहाँ प्रेमचन्द की परम्परा विकसित होती है। विकसित इसलिए क्योंकि कोई भी परम्परा जड़ नहीं होती, उसमें निरन्तरता के साथ-साथ परिवर्तन के तत्व भी समाहित रहते ही हैं। 'सिरी उपमा जोग' में गोबर पाथने वाली, गाँव की, एक महिला का पति नौकरशाह हो जाता है और बाद में सोचता है कि मैं अपनी इस देहाती पत्नी को अपने साथ भला कैसे रखूँ ? यह असली यथार्थ को बयाँ करने वाली

कहानी है जिसमें शिवमूर्ति ने अपनी सर्जना की ऊँचाइयों को स्पर्श किया है। उन्होंने बताया, ''मुझे याद है, यह सन् उन्नीस सौ छियासी की बात है। मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एक नाट्य-समारोह में गयी थी और वहाँ मेरी मुलाकात छात्रसंघ के एक नेता से हुई थी। उनका कहना था कि जो लोग सिविल सेवा परीक्षाओं की तैयारियाँ कर रहे होते हैं, उनमें से ज्यादातर यहाँ अपना शादी-ब्याह कर लेते हैं, चाहे उनकी शादी पहले से हो चुकी हो या नहीं। इन्जीनियरिंग और मेडिकल की विशेषज्ञता की पढ़ाई करने वाले ज्यादातर छात्रें का जीवन इतना आगे बढ़ चुका होता है कि वे अपनी ग्रामीण पत्नियों को बहुत पीछे छोड़ चुके होते हैं।"

आज भी 'इस्पात का चौखटा' कही जाने वाली सिविल सेवाओं के लोग भ्रान्त श्रेष्ठत्व के जिस मिथ्याभिमान से ग्रसित रहते हैं, उसे बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। ज्याँ जैक्स रूसो की लोक सम्प्रभुता और जॉन लॉक के लोकसेवकों वाले कितने ही सिद्धान्त ताक पर रख दिये जाते हैं। नौकरी जैसी मामूली चीज को हमारे सामन्तवादी समाज में जिन्दगी से भी बड़ा बना दिया जाता है क्योंकि वह जीविका के साधन की बजाय तथाकथित स्टेटस का प्रतीक बन जाती है। फिर कैसे कोई कबीर पैदा हो? खैर, शिवमूर्ति की एक और कहानी है जिसकी काफी चर्चा हुई है और वह है 'भरतनाट्यम'। हम देखते हैं कि 'तिरियाचरित्तर' का ससुर 'भरतनाट्यम' में आ चुका होता है। 'भरतनाट्यम' बाद की कहानी है। यह समय की बेहद संक्षिप्त यात्रा और उसकी संवेदनात्मक सघनता का सूक्ष्म आख्यान है। इसमें एक बहू अपने पति को छोड़कर एक दर्जी के साथ भाग जाती है। तब बहू का ससुर अपने बेटे से कहता है कि अगर तुझसे नहीं सँभलती थी, तो मुझे बता दिया होता। हमें ध्यान रखना चाहिए कि ग्रामीण परिवेश पर लिखी गयी हर चरित्र प्रधान कहानी प्रेमचन्द की परम्परा की ही हो, यह आवश्यक नहीं है। वास्तव में जिस चीज पर जोर देने की जरूरत है, वह प्रगतिशील नजरिया है और यह शिवमूर्ति में मौजूद है।

युवा कवि तथा मीडिया विश्लेषक। विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर आलेख तथा स्तम्भ लेखन। कविता के लिए प्रतिष्ठित 'भारत भूषण अग्रवाल' पुरस्कार से सम्मानित।
सम्पर्क : 2710, भूतल, डॉ. मुखर्जी नगर दिल्ली-110009
मोबाइल : 09990665881
ईमेल : pranjaldhar@gmail.com

क्षमा शंकर पाण्डेय

आपबीती और जगबीती

'हँस' के अगस्त 2006 में प्रकाशित एक टिप्पणी में कथाकार शिवमूर्ति ने लिखा था कि, ''लेखक भी खरपतवार की तरह मिट्टी की ही उपज होता है, जिस परिवेश में वह पैदा होता है, जिसमें वह पलता-बढ़ता है, वही उसका वर्ण्य विषय बनता है, वहीं से वह अपनी प्राथमिकताएँ तय करता है।'' तद्भव अंक–24, अक्टूबर 2011 में प्रकाशित 'शिवमूर्ति के आख्यान 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर' को पढ़ते हुए यह कथन पूरी तरह से सही प्रतीत होता है। जनवरी-मार्च 2011 में प्रकाशित 'मंच' के शिवमूर्ति विशेषांक में यह कथा बीज रूप में या कि कहें बहुलांश में पृ. 180-181 पर विद्यमान है। यह अंश 'समय की असली स्रष्टा है' शीर्षक से लिखित और 'कथादेश' अगस्त, सितम्बर-अक्टूबर 2003 से ली गई शिवमूर्ति की अपनी आत्मकथा या कहें रचना-प्रक्रिया पर लिखित आलेख से लिया गया है। यह पूरा अंश 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर' की रीढ़ ही नहीं है अपितु शब्दशः उपस्थित है यथा, ''क्या उन्होंने पहली बार अपने आने की पूर्व सूचना मामा को दी होगी। यदि नहीं तो पहली बार मामा के माचे पर चढ़ कर फों-फों करके सोते मामा की नाक दबा कर जगाया होगा तो मामा की क्या प्रतिक्रिया रही होगी? जरूर उनका हाथ सबसे पहले अपनी लाठी पर गया होगा।'' (तद्भव पृ. 59) तथा ''पता नहीं पहली बार आने के पहले मामी ने मामा को इसकी पूर्व सूचना दी थी या नहीं? दी होगी तब तो मामा की आँखों में नींद नहीं रही होगी। अन्यथा जब माचे पर चढ़ कर मामी ने खर्राटा लेते मामा को पहली बार नाक दबा कर जगाया होगा तो...मामा का हाथ सबसे पहले बगल में रखी लाठी पर गया होगा।'' (मंच पृ.–181) आशय यह कि 2003 में दर्ज की गई स्मृति और 2011 में लिखित आख्यान में शब्दों का हेर-फेर भले हो पर विवरण और वर्णन में अद्भुत साम्य है। इन्हीं मामा की कथा का विस्तार 'ख्वाजा! ओर मेरे पीर' में लेखक का बयान है कि,

''नानी और मामा से मिला स्नेह स्मृति-पटल से मिट जाए तो मैं कितना अकिंचन हो जाऊँगा। जबकि न नानी मेरी सगी थीं न मामा मेरे सगे मामा।'' (मंच, पृ. 181)। यह स्वीकार करना चाहिए कि कहानी की रचना में स्मृति एक अनिवार्य तत्व है, जो जितनी आत्मीय होती है। कहानी उतनी ही प्रभावी।

जिन्दगी के अभावों से जूझते, दुःधर्ष जिजीविषा वाले, संघर्षशील पात्रों की कथा है 'ख्वाजा! ओ मेरे पीर'। दुःखी और संघर्षशील व्यक्ति ही ऐसे लोगों का दुःख पहचान पाता है जो उसी के समान हों। कहते हैं कि दिल को दिल से राह और राहत होती है। यही कारण है कि रोजी-रोटी की तलाश में अमरनेर गये मामा को विधवा आमिना, जो रेल के नीचे से गिरा हुआ अधजला कोयला बीन कर बेचती थी, याद रह जाती है। जिसका गाया गीत मामा ने कथा-वाचक को सुनाया कि–

केथुआ से छाया मक्का मदीना,
केथुआ से छाया अजमेर।
ख्वाजा ओ मेरे पीर।

इस गीत के साथ मामा को उसका संघर्ष, स्वभाव और तीन महीने तक रोटी सेंकना सब याद आता है। प्रश्न यह है कि यही गीत उम्र के चौथे पन में पहुँचे मामा को क्यों याद आता है? क्या अपने संघर्ष में ईश्वरीय सत्ता से सम्बल पाने के लिए या अपनी खानाबदोश जिन्दगी के यथार्थ से टकराते हुए ईश्वर से कोई प्रश्न? फिलहाल गीत की अन्तिम पंक्ति ही उस आख्यान का शीर्षक बनती है, जिसमें अपने-अपने वचन से बँधे और चुपचाप बिना शिकायत के कर्त्तव्य निर्वाह करते दम्पति की संघर्ष कथा विन्यस्त है। इसी के साथ जुड़े हुए हैं समय, समाज, प्रकृति और परिवर्तन के धागे जो लेखक का पक्ष तो रखते ही हैं, समय और समाज की सच्चाइयों से भी रूबरू कराते हैं। इस आख्यान में लेखक ने केवल आस-पास के विश्वसनीय चरित्रों को उठाया है। यहाँ तक कि लोकगायक चैतू भी चैतू मल्लाह के रूप में विद्यमान है जिसे मामा और मामी के रात्रि-मिलन और मामी के आवागमन का एकमात्र चश्मदीद गवाह चैतू (तद्भव पृ.61) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह वही चैतू है। जिसके बारे में 16-30 नवम्बर 1994 के समकालीन जनमत में शिवमूर्ति ने लिखा कि, ''लगभग एक दशक पहले मेरे क्षेत्र में चैतू नाम के एक दलित लोकगायक का उदय हुआ। अपने भाषणों और गीतों के माध्यम से पिछले एक दशक में इस अकेले एक आदमी ने दलित उभार का जितना काम किया उतना अब तक कोई बड़े से बड़ा संगठन भी शायद ही कर सका हो।'' मामा-मामी की प्रणय कथा को दन्त कथा बनाने वाला यह चैतू मल्लाह ही है, जो कई वर्षों तक उनके अभिसार और मान मनुहार की कहानी सुनाता रहा। जरूरत के हिसाब से चरित्रों के कार्यकलाप में थोड़ी-बहुत फेर बदल है। घर जमाई बनने की शर्त पर हुई मामा की शादी मरते हुए पिता को दिए वचन के कारण वांछित परिणति तक नहीं पहुँची। मामा अपने परिवार को देखते रहे और मामी वृद्ध माता-पिता की सेवा करती हुई अपने परिवार को। दोनों

का मिलना सिवान में माचे पर होता रहा जिसमें पहल मामी ने ही की। कर्त्तव्यनिष्ठ मामी की भावमूर्ति गढ़ते हुए लेखक लिखता है, ''माँ-बाप की सेवा भी जरूरी थी तथा पति का सानिध्य तथा सन्तति वृद्धि भी। मामी न किस जिम्मेदारी से भागना चाहती थीं न किसी जरूरत से वंचित रहना चाहती थीं।'' (तद्भव पृ. 59) ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ और जुझारू दम्पति जिस परिणति को पहुँचते हैं, कहानी वहाँ आकर घर-घर की कहानी बन जाती है। संयुक्त परिवारों के टूटने पर परिवार के सुख-दुख के लिए स्वयं को खपा देने वाले वृद्धों की नियति को यह आख्यान बड़ी बेबाकी से बयान करता है। मामा का भोजन अन्तिम समय में जहाँ पन्द्रह परिवारों के जिम्मे है वह भी एक जून, वहीं मामी को उनकी ही सन्ततियों द्वारा घर से बाहर बरामदे में टाटी लगाकर रहने और अपना भोजन खुद बनाने के लिए बाध्य किया जाता है। रास-रंग, पुरुषार्थ से भरे ''तोहरी नजरिया मा भाला'' गाने वाले मामा अन्त में यह डेढ़ताल सुनाते हैं–

''सब दिन बसंत जग थिर न रहै
आवत पुनि जात चला रे...
पपिहरा प्या...रे...।''

यह पूरा आख्यान एक तरह से निःस्वार्थ भाव से बिना किसी अपेक्षा के परिवार के लिए समर्पित वृद्ध दम्पति की त्रासदी है।

कथा के विस्तार में सिमटी हैं विकास के खोखले दावों की सच्चाइयाँ, जहाँ मजबूर होकर किसान का बेटा मजदूर होने को बाध्य होता है। खेती किसानी की सिमटती सुविधाएँ और विकलाँग विकास दोनों ही उसे सता रहे हैं। कथावाचक के यह पूछने पर कि ''दिया बाती नहीं करेंगे क्या? साँझ हो गई। उत्तर मिलता है ''दिया बाती का रिवाज खत्म हो गया।'' क्यों? के उत्तर में जो कुछ कहा जाता है वह अभावग्रस्त गाँवों की कहानी है, यथा ''मिट्टी का तेल ही नहीं मिलता। मील भर दूर का कोटेदार है। जब तक पता चले कि बँट रहा है, पहुँचिए, तब तक कह देता है कि खत्म हो गया। कभी मौके से पहुँच गये तो दिनभर का अकाज करने के बाद लीटर आध लीटर देता है, वह भी दो महीने में एक बार। तो मिट्टी का तेल लोग देशी घी से ज्यादा सँभाल कर खर्च करते हैं। खाते समय जरा देर के लिए जलाते हैं फिर बुझा देते हैं।'' (तद्भव पृ. 67) इसी के साथ जुड़ा सवाल आता है कि बच्चे पढ़ते कैसे हैं? या उन्हें स्कूल क्यों नहीं भेजा जाता? इसके उत्तर में जो तथ्य सामने आता है वह प्रारम्भिक शिक्षा की पूरी पोली खोल देता है। शिक्षा, स्वास्थ्य और सुविधाओं के लिए खर्च का ढिंढोरा पीटने वाली सरकार के हर प्रयास किस कदर नाकारा हो रहे हैं यह इस प्रसंग से स्पष्ट है यथा, ''स्कूल तो तब जाएँ जब कोई पढ़ाने वाला हो। एक ही मास्टर है। उसे अपनी आटा चक्की चलाने से ही फुर्सत नहीं है। महीने में तीन-चार दिन आता है।... ऐसा? तो उसकी शिकायत कर के क्या उखाड़ लेंगे?'' (तद्भव पृ. 67) ऐसे माहौल में जहाँ सुविधा न हो, शिक्षा न हो, खेती राम-भरोसे हो किसान का बेटा गाँव छोड़ कर शहर में दिहाड़ी न कमाए तो क्या करे? बढ़ती हुई

बेरोजगारी ने भी शिक्षा के पारम्परिक स्वरूप से विमुख ही किया है। तभी तो गाँव के लोग कहते हैं, ''क्या करेंगे पढ़-लिख कर? नौकरी-चाकरी तो कहीं मिलनी नहीं। शहर चले जाते हैं। चौदह-पन्द्रह साल की उमर में सौ रुपया रोज दिहाड़ी कमा कर ला रहे हैं। घर का खर्चा चल रहा है।'' (तद्भव पृ. 67) यह पूरा प्रसंग गाँवों के बदलाव की असलियत को सामने लाने वाला है।

रिश्तों और सम्बन्धों के टूटने, भावों और रस के स्त्रोत के सूखने तथा हरियाली के और मन के विस्तार के सिमटने की कहानी भी है 'ख्वाजा ओ मेरे पीर'। बदलता हुआ नया गाँव न तीन में है न तेरह में बल्कि आधा-तीतर आधा बटेर की स्थिति में है। इस गाँव का एक चित्र मामी के गाँव में मामा को लेकर जाता हुआ वाचक उकेरता है, ''एक पतला खंडजा गाँव में घुस रहा था। लगभग सारे कच्चे-पक्के घरों पर डी.टी. एच. की डिश लगी थी। गाँव के रास्ते बदल गए थे। असंख्य झोपड़ियाँ उग थी। कुत्तों का झुण्ड गाँव के बाहर से ही भौंकते हुए जीप के पीछे लग गया। खण्डजे पर कहीं बकरी बँधी थी कहीं खूँटा गड़ा था।'' (तद्भव पृ. 66) इसके बरक्स मामा के गाँव, ''पेड़ों की जड़ें मिट्टी बह जाने के कारण बाहर निकल आयी थी। वह पुराना घर जिसके ओसारे और कोठरियों से मेरा परिचय था, खड़हर हो चुका था। सिर्फ अधगिरी नंगी दीवारें खड़ी थी। अन्दर झाड़ियाँ उग आयी थी। इस खड़हर के तीनों तरफ आठ-दस, मिट्टी की दीवार वाले खपड़ैल और चार-पाँच फूस की छाजन और रहठे वाले झोपड़े उग आए थे। बीच में दुआर के नाम पर ढाई तीन सौ गज जमीन खाली थी।'' (तद्भव पृ. 64) बढ़ती हुई आबादी अपनी साधनहीनता में कैसे व्यवस्थित और प्रसरित होती है, इसका चित्रात्मक वर्णन कहानी में हुआ है। इस आख्यान में गाँव का वह जीवन चित्रित किया गया है। जहाँ यन्त्रों का प्रवेश न्यूनतम है। यथा ''तब रबी की मँड़ाई बैलों से होती थी। गेहूँ की अधसीझी पयार पर हम लोग कथरी बिछा कर लेटे थे।'' घर का मुखिया खेतों की रखवाली के चलते खेतों में ही सोता था। ''मामा की रातें पूरे वर्ष उनके माचे पर ही कटती। माचा चलायमान था। जाड़े और गर्मी में वह पेड़ के नीचे आ जाता और वर्षा में, जब मक्का और फूट (ककड़ी) खाने का मौसम होता तो उचास के खेतों के बीच चला जाता। माचे पर दैनिक जरूरत की सारी चीजों की व्यवस्था रहती। छप्पर में और माचे की थूनियों के सहारे, चबेना का झोला, मट्ठा और पानी वाले मिट्टी के बर्तन लटके होते। सुगन्धित तम्बाकू की मटकी और हुक्का लटका होता। नीचे की बोरसी में आग जिया कर ढँकी होती।'' (तद्भव पृ. 55) खेती की बदलती हुई व्यवस्था के चलते गाँवों में भी अब यह दृश्य दुर्लभ होता जा रहा है। इसी तरह की एक चर्चा 'मकरा' अन्न की है, जो जैव विविधता की चिन्ता में दुबले होते जा रहे लोगों के लिए भी अनचीन्हा है। कथावाचक के यह पूछने पर कि, ''मकरा कैसा होता था मामा? मैंने कभी मकरा नहीं खाया।'' के उत्तर में मामा जो विवरण देते हैं वह मकरा से हमारी पहचान तो कराता ही है किसानों के खेत से लुप्त हो रहे तमाम अन्नों की भी चर्चा करता है यथा, ''मकरा सरसों से एक चौथाई छोटा काले रंग का अन्न होता है भैने। अब गेहूँ धान इतना पैदा हो जाता है

कि मकरा बोने की जरूरत नहीं रही। पहले जब अन्न की कमी रहती थी तो जल्दी पकने वाले कोदो, काकुन, साँवा आदि भुखमरी में जीवनदाता बनते थे। मकरा दो ढाई महीने में भादों में पक जाता और इसके चलते आधा गाँव उपवास करने से बच जाता था। इसे चाहे जितना कूटिए, पीटिए नम मौसम के कारण इसकी बाली में अन्न के कुछ दाने बचे ही रह जाते थे। फिर इनमें छिपे दानों को वे औरतें निकालती थीं जिनके पास मजदूरी के अलावा जीविका का कोई आधार नहीं होता था।'' (तद्भव पृ. 57-58) आशय यह कि आख्यान अपने विस्तार में ग्रामीण जीवन की उन तमाम भूली-बिसरी बातों से परिचित कराता है, जिनका जानना परम्परा से पहचान के लिए आवश्यक है। इसी तरह का एक परिचय नार-खोर का है। गाँवों में आज भी नार-खोर का युग्म प्रयुक्त होता है, पर इनके स्वरूप की ठीक-ठीक पहचान आज गाँव में रहने वाले के लिए भी मुश्किल ही है। रचनाकार इस आख्यान में इस भेद को खोलता है यथा, ''जंगल और ऊसर के बीच बहता वह नाला बरसात में छोटी-मोटी नदी बन जाता। जाड़े में पानी घटता तो फिर नाला बन जाता फिर गर्मी के चार-पाँच महीने सूख कर 'खोर' हो जाता।'' (तद्भव पृ. 61) ये सारे विवरण चित्र मिल कर आख्यान को जीवन्त और चाक्षुष बनाते हैं।

शिवमूर्ति की किस्सागोई की यह बड़ी विशेषता है कि वहाँ कथा केवल चरित्रों और घटनाओं के माध्यम से ही आगे नहीं बढ़ती, बल्कि समूचे परिवेश का उसमें विशिष्ट योगदान होता है। वहाँ चरित्र और घटनाएँ तो बोलती ही हैं, परिवेश भी कुछ न कहते हुए भी बहुत कुछ कहता है। प्रस्तुत आख्यान में समूचा परिवेश एक पिछड़े हुए अवध क्षेत्र के गाँव का है, जहाँ स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी व्यक्ति छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए छछनता है; और जिन्दगी जीने के लिए विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता है। मामा और मामी की कहानी केवल व्यक्ति-चित्र या व्यक्तिकथा नहीं है। यह गाँवों में अपने बनाये सपनों के टूटने की कहानी भी है। व्यक्ति हित के सामने वृहत्तर हित गौण होते जा रहे हैं। जिनकी आँखों में रोशनी के लिए खुद को होम कर दिया पूर्व पीढ़ी ने वह निरन्तर अनादर और उपेक्षा की ही शिकार रही है। जिन लोगों के लिए न अपने सुख को सुख समझा, न अपने जीवन को जीवन, वे या तो मुँह मोड़ कर चले गए या फिर अपने परिचय वृत्त को निरन्तर सीमित करते चले गए। अपने पति से अलग मायके में रह रही मामी के हृदय का दर्द अपने जीवन की त्रासदी बयान करते हुए झलक उठता है कि, ''बिना मर्द का परिवार बेसहारा होता है। मुझे सहारे की जरूरत थी। पति का सहारा नहीं मिला तो बेटे के सहारे की आस में अँधेरी उजेली रात में दो कोस बीहड़ पार करके उनके पास पहुँचती रही। अपनी पसन्द के किसी भी आदमी से बेटा पाने की राह दुनिया ने रूँध न रखी होती तो मैं उतनी दूर दौड़ कर क्यों जाती।'' (तद्भव पृ. 60) यह कथन स्त्री-जीवन की त्रासदी का बयान है। यही मामी जब पुत्रों की पत्नियों और बहुओं द्वारा उपेक्षित होती हैं तो उनकी पीड़ा सिर्फ अनुभव की जा सकती है, कहा नहीं जा सकता। पुरुष पात्रों की कथा कहते हुए भी विभिन्न स्त्री पात्र शिवमूर्ति की संवेदना गहरे से पाते रहे हैं, चाहे वे संकेत में हों या विस्तार में। इस आख्यान में भी नानी, मामी, आमिना, उतरहिया मामी आदि अनेक स्त्री पात्र हैं, जो जीवन और रस से परिपूर्ण

हैं। गड़ही से मिट्टी ढोने वाली, रात के समय लाठी लेकर बीहड़ रास्ता तय कर पति से मिलने जाने वाली नेह छोह से पूर्ण मामी तो हैं ही केवल प्रासंगिक चर्चा में आई अमीना अपने संक्षिप्त विवरण में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी आत्मीय स्मृति मामा के जीवन के कोने में बराबर धड़कती है। यह आख्यान पारिवारिक विघटन का आख्यान तो है ही, स्मृति कथा भी है। जिन स्मृतियों ने कथावाचक को जीवन के किसी भी क्षण में समृद्ध किया है, उनका एक कोलाज भी है यह आख्यान।

अपनी प्रकृति के अनुरूप ग्राम जीवन का चित्रण करते हुए शिवमूर्ति ने अनेक शब्दों का उद्धार किया है। पदी, मकरा, मछली पकड़ने का पहरा (झाँपी), पयरी, खादर जैसे अनेक शब्द इसके उदाहरण है। मामी का मजाक और उनके बहू द्वारा उम्रदराज मामा के ऊपर फागुन में विदा होते समय रात में रंग डालना आदि ग्रामीण जीवन की गहन पहचान के साक्ष्य हैं, जिनमें हँसी-मजाक, आँसू, श्रम, संघर्ष, रीति-रिवाज सब बड़ी कुशलता से उभरे हैं। शिवमूर्ति का यह आख्यान भले ही कोई वैचारिक प्रतिमान न प्रस्तुत करता हो, न किसी विमर्श में सक्रिय और मुखर भागीदारी करता हो पर यह आपबीती और जगबीती के ताने-बाने से बुनी ऐसी चादर है जो विघटन, विखण्डन, विलोपन और प्रदूषण वाले समय में जिन्दगी में मूल्यवान तत्त्वों को बचा लेने का आग्रह करती है।

तकरीबन आधा दर्जन आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित। 'मुक्तिबोध की काव्य भाषा', 'तुलसीदास', 'शताब्दी बदल रही है', 'उग्र-विमर्श और सन्दर्भ 1857' उल्लेखनीय पुस्तकें। फिलहाल काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत।

सम्पर्क : काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

ज्ञानपुर, संतरविदास नगर, भदोही, उ.प्र.

मोबाइल : 09450315468

ई–मेल : Drkspandey@rediffmail.com

''शिवमूर्ति ने ऐतिहासिक दौर के नये और पुराने किसान की स्थितियों और बदलती हुई मानसिकता के पराचर–बन्धन या तनाव को 'आखिरी छलाँग' में दिखाकर एक दस्तावेज भी तैयार किया है। पहलवान इस पराचर–भेदन, संश्लेष, अन्तःद्वन्द्व का प्रतीक पात्र हैं। पहलवान होरी से ज्यादा सजग, खाते–पीते, प्रबुद्ध और इज्जतदार बल्कि प्रतिष्ठित व्यक्तित्व के किसान–खेतिहर हैं।...'आखिरी छलाँग' बेहद पठनीय कथा कृति तो है ही, वह किसानी जीवन की समस्याओं पर विचार करने का निमंत्रण भी देती है। देसी भाषा की लय इस रचना का सबसे मोहक पक्ष है। समाजशास्त्री साहित्य से अपनी जानकारी नहीं बढ़ाते। 'आखिरी छलाँग' जैसी किताब पढ़ें तो उनका समाजशास्त्रीय अध्ययन और पुष्ट होगा।

आखिरी छलाँग पर मंच, जनवरी-मार्च, 2013, डा. विश्वनाथ त्रिपाठी

निशा नाग

अमानवीय राजनीति का विरोध बनाम 'कसाईबाड़ा'

धूमिल ने कभी अपनी कविता में प्रश्न उठाया था—'समझदार चुप और चीख के बीच अन्तर क्या है? उठे हुए हाथ, तनी हुई मुठ्ठी और नारे - जैसे प्रत्यक्ष विरोध के बरक्स 'कसाईबाड़ा' अमानवीय स्थितियों को उघाड़ कर रख देने वाली एक ऐसी रचना है, जिसे पढ़कर लगता कि यहाँ तो रोजमर्रा के संसार में घटने वाली वो घटनाएँ हैं, जिनकी रिपोर्टिंग एक विशेष अतिनाटकीय शैली में हम अब अक्सर सुनने लगे हैं। मीडिया प्रधान इस युग में जहाँ राजनीति और सिर्फ राजनीति ही केन्द्र में आ गयी है। जहाँ अमानवीय घटनाएँ भी खबरें बनकर मनोरंजन का पर्याय बन गयीं हैं। वहाँ 'कसाईबाडा' जैसी रचना अपने वृतातों में ईमानदार बयान करते हुए भीतर तक कुछ ऐसा प्रतिसंसार रचती है, जो हमें एक खास तरह की उद्विगनता से भर देता है। अमानवीय स्थितियों से लड़ने की समझ के साथ एक जज्बा उभरता है कि कब तक यही हालत रहेगी? वास्तव में 'कसाईबाडा' इस सम्पूर्ण मानवीय संसार में राजनीति के अमानवीय होते व्यवहार पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न है। जहाँ सतत् बड़ी मछली छोटी को निगलने का प्रयत्न कर रही है। और छोटी मछली अभिशप्त है इस अमानवीय संसार में मरने के लिए। चाहे जो भी हो उसकी नियति यही है कि वह या तो एक के काँटे में अटके या दूसरे के। यहाँ जो चुस्त है, चालाक है, शातिर है, बाजी उसी के हाथ है। साधारणता - मासूमियत - सीधापन - ईमानदारी का कोई मोल नहीं। 'कौन धौं पाटी पढ़े हो लला' की तरह राजनीति की पाटी को पढ़ समझ लेने वाला केवल लेना जानता है, देना कुछ नहीं। वह केवल अपनी चाँदी काटता है। उसकी समझदारी केवल इसमें है कि वह अपना सत्ता स्वार्थ बनाए रखे, चाहे इसके लिए उसे कितनी ही शतरंज की बिसातें बिछाने पड़े। और बिसात भी ऐसी जिसमें शह और मात दोनों उसी के हाथ कुछ इसी तर्जे बयाँ पर जिसकी लाठी उसकी भैंस।

'कसाईबाडा' शिवमूर्ति की प्रतिनिधि कहानियों में से एक है, अपने कथ्य में चुस्त, तंज लिए हुए। प्रेमचन्द और रेणु दोनों से ही शिवमूर्ति की तुलना अक्सर की जाती रही है। यह केवल इसलिए नहीं कि दोनों का कर्मक्षेत्र या कहूँ की लेखन क्षेत्र गाँव रहे बल्कि शायद इसलिए कि दोनों की अनुभव प्रधान अभिव्यक्तियाँ अपना ईमानदार बयान कथा साहित्य के माध्यम से हमारे सामने रखती हैं। यहाँ स्पष्ट है कि भारतीय ग्रामीण चित्रण और ब्योरों को जिस अंदाज में शिवमूर्ति ने चुना है वह प्रेमचंद की तरह का ही लगता है। हालाँकि प्रेमचन्द का अनुसरण या दोहराव यहाँ नहीं है और यहाँ हो भी नहीं सकता था क्योंकि प्रेमचन्द के गाँव अब बदल गये हैं। सम्पूर्ण परिवेश में आए बदलाव ने गाँवों को; उनके नैतिक मूल्यों को उसी तरह आहत किया है, जैसे पूँजीवादी इस व्यवस्था ने आम आदमी को। महानगरों में आम आदमी केवल अनाम अरूप उपभोक्ता बनकर रह गया है तो गाँवों में वह इस भयंकर व्यवस्था का शिकार है, अन्न उपजाकर भी भूखा मरने को मजबूर है, वह केवल एक मोहरा है। भूमंडलीकरण बाजारवाद का शिकार यहाँ आदमी अमानवीय राजनीति का एक प्यादा है। छुरी चाहे खरबूजे पर गिरे या खरबूजा छुरी पर कटना उसे ही है। प्रेमचन्द का गाँव शिवमूर्ति का गाँव नहीं है। सत्ता संरचना और ग्रामीण समाज दोनों बदल गए हैं। गरीबी तथा जहालत और बढ़े हैं। नैतिक मूल्य समाप्त प्रायः हैं। यथार्थ केवल एक ही तरह का नहीं होता, उसके अनेक रूप होते हैं, उन यथार्थ के फैले हुए रूपों में रचनाकार अपना जिया हुआ अनुभव यथार्थ रूप में रचना में पुनः रचता है। प्रेमचन्द के समय आदर्श भी सत्य था, जिसका कोई मोल वर्तमान युग में नहीं है! आज तो गाँधी टोपी की कश्ती पर कलयुग सवार है। बकौल नागार्जुन एम.एल.ए. बनने का सपना पालते ही लीडरी का शौक चर्राने लगता है। 'कार और गगन विहार के सपने' दिखने लगते हैं और अपने इन सपनों को पूरा करने के लिए राजनीति से जुडा व्यक्ति कहीं तक भी जा सकता है। रेणु का समय स्वतन्त्रता के बाद का है, जिसमें आदर्श की हत्या हो चुकी है (बावनदास की हत्या की तरह!); फिर भी कहीं कुछ शेष था जो डॉ. प्रशांत के माध्यम से दिखाई देता है। परन्तु शिवमूर्ति के पास तो वह पतवार भी नहीं। अतः नैया डूबे नहीं तो कैसे? इसीलिए शनीचरी की हत्या में अनेक अनुगूजें 'कसाईबाडा' में सुनाई पड़ती हैं। रामराज में रावण नंगा होकर नाच रहा है—यह तो छठे दशक में ही दिखाई देने लगा था किन्तु अब स्थिति इतनी भयावह हो गयी है कि, राजनीति से जुड़ा महत्त्वकांक्षी इंसान कसाई में तब्दील हो गया है और सम्पूर्ण परिवेश या गाँव कसाईबाड़े में परिवर्तित हो गया है। यह आज का युग सत्य है।

'कसाईबाड़ा' कहानी में गाँव में बिजली की तरह यह खबर फैलती है कि शनिचरी अनशन पर बैठ गई है, ठीक इसी तरह जिस तरह रेणु के 'मैला आँचल' की शुरुआत एक अफवाह से होती है और धीरे-धीरे स्थितियाँ पाठक के सामने खुलती हैं। शनीचरी को अनशन पर बैठाने वाले लीडरजी गाँधीजी की बात करते हैं और साथ ही गाँधीजी का फोटो शनीचरी को सौपते हुए कहते हैं गाँधीजी का नाम लो अत्याचारी का या तो नाश होगा या हृदय परिवर्तन। पर सच है कि शनीचरी का ही नाश या अन्त होता है।

यहाँ शनीचरी की जगह कोई शनीचर भी होता तो भी कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था क्योंकि सत्ता की बिसात पर मरता यही हाशिए पर खड़ा व्यक्ति है। खैर प्रधान ने उसकी बेटी तथा गाँव की अन्य लड़कियों को बिना दहेज के आदर्श विवाह के नाम पर बेचकर और ट्रेफिकिंग या देह व्यापार में झौंककर एक और वाह-वाही बटोरी है और दूसरी ओर पैसा बनाया है जिसका का उपयोग वह ट्यूबवेल लगवाकर और घर के कमरों पर लिंटर डलवाकर रहा है और साथ ही अफसोस भी कर रहा है 'बड़ा माल तो बड़े लोग हड़प गए उसके हिस्से थोड़ा-सा माल और बदनामी आई है।'

कहानी में प्रधानजी, लीडरजी, दरोगाजी तीनों पात्र एकरेखीय हैं। एक के हाथ में प्रधानी की सत्ता है, दूसरा सत्ता पाना चाहता है तो तीसरा उस सत्ता का व्यवस्थापक है; सत्ता की इस संरचना का क्रूरतम प्रतीक है। यहाँ अनायास नहीं है कि प्रधानजी और लीडरजी दोनों ही दरोगा के पास पहुँचते हैं 'एक गाँव की बेटियों को बेचने की खबर फैलने के बाद अपनी बेगुनाही साबित करने के लिए' या इस आई हुई समस्या से पार पाने के लिए। और दूसरा (जो अब सत्ता का दावेदार है) अतः अपनी गोट पक्की करने के लिए और दरोगाजी प्रधान के यहाँ वन मुर्गियों का शिकार करने के लिए परधान से जबरन की मेहमान नवाजी स्वीकार करने के बाद, खाना खाते हैं लीडर के यहाँ। उनके लिए दोनों ही उनके मुनाफे का स्रोत हैं और दोनों में कोई फर्क नहीं। मुक्तिबोध ने कभी कहा था -'चक्र से चक्र है लगा हुआ।' यहाँ भी इस अमानवीय तन्त्र को चलाने वाले कल-पुरजे कैसे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं यह साफ हो जाता है। दरोगा जी दोनों को एक ही तरह की धमकी देते हैं—लीडर जी को वे कहते हैं कि वे सी.आई डी. की रिपोर्ट में नक्सलपंथी एनाकर्किस्ट टेरिरिस्ट साबित हुए हैं; जिसकी रिपोर्ट उनके पास है तो दूसरी ओर प्रधानजी को बेटियों को देह व्यापार में झौंकने की धमकी देते हैं। और इस तरह वो दोनों से ही फायदा उठाते हैं। वह लीडरजी को दबाना चाहते हैं पर लीडरजी बूमरैंग की तरह उनका वार वापिस पलटते हैं और दबते नहीं पर बाहर आते ही डायरी में नोट करते हैं - मिनिस्टर होते ही सबसे पहले इस दरोगा से हिसाब चुकाना होगा। गाली दी है—मुझे नहीं मेरी टोपी को पर सच है कि टोपी को आहत तो स्वयं उन्होंने ही किया है। दरोगा ने तो चवन्नी की टोपी ही कहा था। जिस गाँधी के नाम पर गाँवों में लोकगीत गाए जाते थे 'चली चवन्नी चाँदी की जय बोलो महात्मा गाँधी की' और जिनकी टोपी स्वतन्त्रता संग्राम की पोशाक का जरूरी अंग रही। उन्हीं गाँधीजी की टोपी को यह इज्जत किसने बख्शी है देश-सेवा अब सत्ता प्राप्त करने का नाम है और सत्ता व कुकर्म एक ही सिक्के के दो पहलू बन गए हैं। यह सब जानते हैं। परधान और लीडर दोनों सत्ता की होड़ में शामिल हैं। परधान खिरोधार सिंह उर्फ के. डी. सिंह को हराकर लीडरजी गाँव की लीडरी से मुख्यमंत्री बनने का स्वप्न पाले हुए हैं। तो प्रधानजी इसी प्रधानी को बनाए रखने के लिए सामूहिक विवाह का ढंग रचते हुए गाँव की बेटियों को बेच खाते हैं। लीडर ने शनीचरी को न्याय दिलाने की बात कहकर संघर्ष करने में तत्परता तो दिखाई है पर दरोगाजी के कहने पर की 'बुढिया को क्या अनशन कराकर ही मार डालोगे' से

स्थिति स्पष्ट हो जाती। लीडरजी यानी वर्तमान में स्कूल मास्टर रामबुझावन सिंह (जिन्हें अब मिनिस्टरी पानी है और स्कूल मास्टरी उन्हें गले का मैल लगने लगी है जिसे वह जल्दी से जल्दी छुड़ाना चाहते हैं) कहते हैं 'वह तो जरूरी है पांडेजी, हर आदमी को अपने ढंग से प्रोटेस्ट का राइट है। मेरे पॉलिटिकल प्रोस्पेक्ट पर भी तो गौर कीजिए। परधानी के इलैक्शन में मेरी एकमात्र गोट भी तो वही है'। शनिचरी लीडरजी के लिए परधानी की फिल्ड अतियार करने का माध्यम है। यह छोटे से गाँव की बडी राजनीति का असली चेहरा है, जहाँ आम आदमी की भागीदारी के दो रूप हैं—एक प्रधान और लीडर वाला। तो दूसरा शनीचरी वाला। जो केवल इसी सत्ता के लिए सलीब पर चढ़ाई जाती है। हालाँकि कहानी में वह परधान और उसके बेटे के दो पुतले बनाकर पेड़ पर फाँसी देती हैं। और फैंटेसी में उन्हें मारकर अपने मन का आक्रोश निकालती है।

कहानी में अधरंगी का चरित्र एक अलग कँट्रास्ट लिए हुए है। वह अपाहिज है, आधा पागल है और इस राजनीति के क्रूरतम रूप को जानता-पहचानता ही नहीं है बल्कि उसके खिलाफ बोलता भी है। सत्ता के इस क्रूरतम रूप को समझने के बाद व्यक्ति का सामान्य रह पाना सम्भव ही नहीं है। यदि अध्ययन किया जाए तो ऐसे पागलों की उपस्थिति साहित्य में एक बड़ी संख्या में रही है जो अच्छे-अच्छों की बोलती बंद करने में समर्थ हैं। चाहे वह मुक्तिबोध का 'अँधेरे में' गीत गाता पागल हो या रेणु का लबार, अथवा रागदरबारी का लंगड, ये वे लोग हैं जो अपने दम पर सत्ता का विरोध करते हैं। यहाँ अधरंगी ही सही मायनों में शनीचरी का सच्चा हितैषी है। और वही उसका अंतिम संस्कार भी करता है। वही शनीचरी के लूप लगाने की बात पर दरोगा के मुँह पर कहता है 'कितनी शनीचरियों के लूप लगवाओगे दरोगासाहेब, जब तक परधानजी की जवानी गर्म है। लूप लगवाना है तो परधान के लगवाओ' और मार खाने पर कहता है 'आदमी का शिकार करके पेट नहीं भरा तो चिरई का शिकार करके नहीं भरेगा दरोगा बाबू ?' कहानी में शनीचरी और परधान के अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न उसी पुत्री को परधान ने ही बेच खाया है। जिसके बारे में वह कहती है 'हुजूर पैदा तो इन्हीं परधानजी ने किया था। हमें पूछे का मौका भी नहीं नहीं दिए। हमारे आदमीजी तो तब परदेस गए रहे। प्रकारांतर से दरोगा परधानजी से कहते हैं 'लड़कियों के मामले में आप बुरी तरह से इंवाल्व हो चुके हैं। दूसरे आपने बलात्कार भी किया है' अधरंगी को लीडर की नस्ल का पता तो बहुत पहले से था, लेकिन शनीचरी के कारण चुप था, पर जब दरोगा ने उसके और शनीचरी के साथ जानवर से भी बुरा व्यवहार किया तो उसी को लीडर ने कलिया गोस उअर दारू नमें दुबो दिया तो वो चुप्प कैसे रहे?' वही शनीचरी को कहता है 'कोई नहीं आएगा काकी हमारी मदद करने न परधानमंत्री, न मुखमंतरी। न भगवान न भगौती। हम खुद अत्याचारी को सजा देंगे।' यहाँ वह संघर्ष चेतना है जो पागल कहे जाने वाले अधरंगी को मानवीय बनाती है। वह गाँव भर में गाता है 'लिडरा के नकिया कटाई जाए थानेदरवा के बरदी उतारी जाए परधानवा के फाँसी चढ़ाई जाए...'

कहानी में संरचना या अभिव्यक्ति के स्तर पर कोई जटिलता नहीं है। कहानी सीधे-सीधे

ब्योरों या घटनाओं को लेकर चलती है। हम सबका जाना पहचाना यथार्थ यहाँ है जो हैरान नहीं करता पर हमें उद्वेलित जरूर करता है। छोटे-छोटे ब्योरों से यथार्थ का विस्तार होता है। शनीचरी कहती है 'अन्याय कै हद होत है तो धरती फाटि जात है अधरंगी बेटवा'। इन सनातनी विचारों के साथ जीने वाला सादा सरल अन्तयजन किस मानसिकता और सरलता के साथ जी रहा है, यहाँ इस साधारण से वाक्य से स्पष्ट है। दूसरी ओर शातिर राजनीति में सक्रिय लोग हैं जिन्हें परमार्थ का कोई डर नहीं, केवल स्वार्थ ही जिनका साध्य है। परंतु यहाँ धरती फटती नहीं बल्कि शनीचरी के हिस्से की दो बीघा जमीन भी लीडर धोखे से धरवा लेता है और कहानी के अन्त में बेशर्मी से कहता है—'मैं नहीं लेता तो परधान ले लेता, किसी न किसी ने तो लेनी ही थी।' कहानी का सम्वाद इसे पठनीय बनाता है और दृश्यमान भी। इस कहानी पर सफल नाटक मंचित हुए हैं और फिल्म भी बन चुकी है। इन ब्योरों में पूरा विस्तृत संसार है।

शनीचरी के अलावा कहानी की अन्य तीन स्त्री पात्र हैं। तीनों ही पुरुष प्रधान सत्ता का शिकार है। तीनों ही अनपढ हैं। दरोगाइन व्यवहार कुशल है। घर आए मेहमान (लीडरजी) के आगे जब पति का पलड़ा कमजोर देखती है तो परंपरागत नारी की बुद्धि से लीडरजी को चाय पकौड़े खिलाकर पति को सपोर्ट देती है। और दरोगा जी मन ही मन साष्टांग प्रणाम करते हैं—'धन्न हो दरोगाईन। क्या हुआ जो पढ़ी लिखी नहीं है। पर वक्त की नब्ज पहचानती है।' परधानिन शनीचरी के अनशन पर बैठने और दिन-रात कोसने से उद्विग्न है। ठीक प्रेमचंद की कहानी 'गरीब की हाय' की तरह शनीचरी द्वार पर बैठ कर कोसने देती है और परधानिन कहती है—'ई गाँव लंका है। इहाँ रावन दहन होवेगा। रावन तू ही हो। लिडर बना है भिभिखन. ..अब हम अही घरे माँ ना रहब आपन बेटवा लीए केव भीखकौरा माँगब। मुला----परधान पत्नी के हाथों यह कहकर दूध पिलवाता है कि शनीचरी अनशन तोड़ दे तो ठंडे दिमाग से दो चार दिन में शनीचरी की बेटी को ढूँढकर ला देगा। वह परधानिन के हाथों दूध में मिलाकर शनीचरी को जहर दे देता है तो इस तरह परधान एक तीर से दो शिकार करता है—एक ओर शनीचरी से छुटकारा दूसरी ओर पत्नी का मुँह बंद रखने की तरकीब कि—तुमने ही कुछ दे दिया होगा तभी मर गई। परधानिन भी उसकी की कूटनीति का शिकार बनती है। इसी तरह लीडराईन लीडर जी को अनपढ़, गँवार और एम.एल.ए. फ्लैटस में रहने लायक नहीं लगती है पर जब दरोगाजी उनके घर आते उसी के हाथ का मीट खाकर तारीफ करते हैं—'पढ़ी लिखी नहीं तो क्या, मीट ए-वन बनाती है फूलकुमारी। पति का साथ देने के बावजूद ये वे औरतें हैं जिनके अन्दर अभी तक मानवीयता है इसीलिए वह कुफार सुनकर पति से प्रश्न करती है कि क्या उसने शनीचरी की जमीन ली है। शनीचरी एक वृहत्तर सामाजिक परिवेश रचती है पर व्यथा सबकी एक ही है—ताकत के इस खेल में शिकार होना। भले ही रूप अलग-अलग हो। लीडराईन का आक्रोश अन्त में सत्तालोलुप लोगों के चरित्र और इस संपूर्ण परिवेश पर सार्थक टिप्पणी है, जो क्रमशः कसाई और कसाईबाड़ा में बदल गया है। बुद्ध काल से मात्र डेढ़ अगुँल प्रज्ञावाली हैं वही स्त्री इस सबका विरोध करने दम रखती है। गाँव की समस्त विद्रूपताओं को लोकमुहावरों और भाषा के साथ उजागर करती है हालाँकि

ब्यौरे और घटनाएँ सुचिंतित रूप से पिरोए गए हैं। लेखक जिन ब्योरों को देता है, उससे पहले वह कुछ न कुछ ऐसा ऐसा प्रछन्न रचना है जो बाद में जाकर खुलता है और उसी के माध्यम से छोटे-छोटे के मध्य कहानी का कथारस घुलता जाता है, लेकिन वह हमें परंपरागत अंदाज में नहीं बल्कि सम्वादों के माध्यम से विद्रूप यथार्थ का एहसास कराती है।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख, कविता, कहानी प्रकाशित।
दिल्ली विश्वविद्यालय के मिराण्डा हाउस के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक।
सम्पर्क : 1-सी, पॉकेट-एफ, एम.आई.जी. फ्लैट,
हरिनगर, नई दिल्ली
मोबाइल : 9810790680

'तिरिया चरित्तर' की विमली से उसका ही ससुर अमानवीय व्यवहार करता है और जीवन भर के लिए उसके चरित्र ही नहीं माथे पर भी दाग टाँक देता है। 'अकाल दण्ड' की सुरजी या फिर केशर कस्तूरी की केशर, इनके साथ जो कुछ भी घटित होता है वे समान के क्रूर विकृतियाँ है, जिन्हें शिवमूर्ति यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं। और यह सब आजादी के बाद के भारतीय गाँव की कहानियाँ है, जहाँ विकास के नाम पर गाँव का दोहन तो हुआ ही, लेकिन निचली पायदान पर खड़ा व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रह पाता है। जीवन इतना विषाक्त हो जाता है कि साधारण जन के लिए साँस लेना भी दूभर है। पंचायती राज के नाम पर स्त्रियों और दलितों का शोषण आम बात हो गयी है। जिसे शिवमूर्ति अपनी कहानियों में पुरजोर ढंग से उठाते हैं।

–ओमप्रकाश वाल्मीकि, साभार 'लमही'

विभा नायक

भावशून्यता और स्वार्थ का प्रपंच

आधुनिक कथाकारों में शिवमूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। केवल आठ कहानियाँ लिखकर ही उन्होंने वह मुकाम हासिल किया है कि उन्हें छोड़कर वर्तमान कहानी चर्चा अधूरी है। समाज, राजनीति, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और वर्तमान स्थितियों में जीवन के बदलते प्रतिमानों पर इन्होंने बड़ी खूबसूरती से कलम चलाई है। यथार्थ की तल्ख़ी इनकी कहानियों में इस तरह समाई है कि पाठक वर्तमान समाज और स्थितियों के विषय में सोचने पर विवश हो जाता है।

शिवमूर्ति की कहानी 'सिरी उपमा जोग' एक ख़ास तड़प की कहानी है जो ग्राम्य से नव-शहराती बने और बनने की प्रक्रिया में जुटे समाज की असलियत उघाड़कर रख देती है कि किस तरह आज का युवा सफल होने, आगे बढ़ने के लिए अपने-अपनों की भावनाओं से खेलता है। उसका अपना परिवार उसकी पत्नी जी तोड़ मेहनत कर उसे बड़ा आदमी बनाने, उसके सपनों को पूरा करने में मदद करते हैं पर विडम्बना यह है कि बड़ा और शहराती आदमी बन जाने के बाद पुरुष को अपने ही परिवार में अपनी ही पत्नी में ग्राम्यता की गंध आने लगती है और एक दिन वो सब कुछ छोड़ अपनी पत्नी का त्याग, समर्पण और प्रेम यहाँ तक कि अपने मासूम बच्चों तक को भुलाकर शहर में अपनी एक नयी दुनिया बसा लेता है।

दरअसल वर्तमान दौर में आदमी आगे बढ़ने की फ़िक्र में अपनी आदमियत से ही समझौता करता जाता है। उन्नति की महत्त्वाकांक्षा के साथ शहरी और सभ्य कहलाने की ललक में अपनी ज़मीन और अपनी मिट्टी से ही अलग होता जाता है। यही कारण है कि अपने-अपनों को ठगकर, उन्हें धोखा देकर वह वर्तमान सामाजिक स्थितियों के अनुकूल सफल और सभ्य तो कहलाने लगता है पर इस प्रक्रिया में भावनाओं से शून्य और हृदय

से जड़ होकर वह आदमी तो क्या पूरा मनुष्य भी नहीं रह पाता। इसके साथ ही यह कहानी मर्द और औरत के व्यक्तित्व के अलग-अलग पक्षों को भी उजागर करती है। एक ओर प्रेम, समर्पण और सम्वेदना के माध्यम से औरत के प्रेम और त्याग का उत्कर्ष है तो दूसरी ओर पुरुष के रूप में निजी स्वार्थ के लिए भावनाओं और समर्पण के मनमाने प्रयोग और हृदय के सरल भावों की उपेक्षा की सारी हदें पार करने की बयानगी भी है, जो लेखक ने पूरी तल्ख़ी और सच्चाई के साथ अपनी कहानी में उभारी है।

शिवमूर्ति की ख़ास बात है कि बेहद सहज ढंग से वे कहना शुरू करते हैं इसीलिए जो भी कहते हैं वो गहरा असर करती है। यहाँ भी सब कुछ बेहद सहज क़िस्म का है। कम-से-कम देखने में सहज ज़रूर लगता है। कहानी की शुरुआत घण्टी की किर्र-किर्र से होती है। दरअसल यह किर्र-किर्र केवल घंटी की नहीं है बल्कि सम्बन्धों में आई करकराहट है जो शुरू से आख़िर तक कहानी में एक जबर्दस्त तड़प के रूप में व्याप्त रहती है। बड़े साहब यानी कलक्टर साहब से मिलने के लिए लोगों की एक लम्बी क़तार इन्तज़ार में है। सहज है। इस क़तार में एक बच्चा जिसकी उम्र क़रीब दस-ग्यारह साल है, भी इंतज़ार में है। यहाँ तक भी ठीक है। धूल-धूसरित मुरझाया चेहरा और मैले-कुचैले कपड़े उसके देहाती होने को पुख्ता कर रहे हैं। पर फिर भी शहराती क़िस्म के साहब से मिलने में कोई झिझक नहीं। बल्कि अर्दली से वह बार-बार ज़िद करता है कि वह साहब से अकेले मिलना चाहता है। यहाँ तक भी कोई दिक्क़त नहीं। अर्दली है कि बच्चा समझकर उसे हर बार झिड़क देता है। पर बच्चा मानता नहीं है। लगातार एक ही रट कि साहब से अकेले मिलने दो। पर इतने बड़े साहब से मिलना भी तो आसान नहीं। तो अर्दली भी कैसे हामी भर दे। इतने में एक बार और घंटी की किर्र-किर्र होती है और साहेब अर्दली को आदेश देते हैं कि जितने लोग हैं उन सबको एक साथ अंदर भेज दो। इन्तज़ार कर रहे लोग एक साथ अन्दर चले जाते हैं। पर अर्दली के लाख कहने पर भी बच्चा अन्दर नहीं जाता और न ही अपने हाथ में ली हुई, आटे की लेई से चिपकी चिट्ठी तक ही अर्दली का हाथ पहुँचने देता है। उसकी गुहार यही है कि साहब से अकेले मिलना चाहता है।

यह चिट्ठी एक उत्सुकता पैदा करती है कि आख़िर उस देहाती छाप आटे की लेई से चिपकी चिट्ठी में ऐसा क्या है जो किसी और को नहीं दिखाया जा सकता और केवल साहेब के ही लिए है!

ख़ैर... कुछ देर बाद साहेब बाहर निकलते हैं और बच्चे पर नज़र पड़ते ही असम्पृक्त भाव से पूछते हैं कि हाँ बोलो बेटे कैसे? बच्चा कुछ भी बोल नहीं पाता तो अर्दली ही कहता है कि साहेब ये अकेले में मिलना चाहता था—मैंने लाख पूछा पर कुछ नहीं बताया। साहब कल का आश्वासन देकर जीप में बैठ जाते हैं और बच्चा कुछ दूर तक जीप के पीछे भागता है और फिर अपने हाथ में पकड़ी चिट्ठी को साहब की तरफ उछाल देता है। चिट्ठी साहब के पास पहुँच जाती है। कहानी में तब एक मोड़ आता है जब कलक्टर साहेब के माथे पर चिट्ठी पढ़कर पसीना चुहचुहा आता है। यहाँ कुछ चुभता सा है कि

आख़िर पसीना क्यों आ गया साहेब को? फिर वही सवाल उठता है कि आख़िर चिट्ठी में ऐसा क्या लिखा है कि साहेब के चेहरे की रंगत बदल गई!

असल कहानी यहीं से शुरू होती है। शहरी सभ्यता और पद के नशे में चूर 'साहब' अन्दर से कितने लिजलिजे और घिनौने किस्म के इन्सान हैं इसका पता यहाँ से चलता है। दूसरों की समस्याओं को दूर करने में मसरूफ कलक्टर साहेब खुद किसी के दुख और तकलीफ का कारण हो सकते हैं, यह क्या कोई सोच भी सकता है? लोगों की सीमेंट, चीनी या लाइसेंस की समस्याएँ तो दूर करना कोई बड़ी बात नहीं, पदासीन हैं। इतने बड़े साहब बन गए हैं तो क्या इतना भी नहीं करेंगे? पर सवाल है कि हृदय पर लगे घावों का कोई भी उपचार है उनके पास? यदि होता तो उस चिट्ठी को पढ़कर साहेब के माथे पर पसीना न आ गया होता! ख़ैर यह पसीना उनके मनुष्य होने को तो साबित कर देता है पर उनकी आदमियत पर प्रश्नचिह्न ज़रूर लगा देता है क्योंकि वो कनखियों से उस बच्चे को देखते ज़रूर हैं जो पीछे छूटते जाते अतीत की तरह उनकी जीप के पीछे भागा था और जैसे अतीत अक्सर वर्तमान में अनधिकृत प्रवेश कर जाता है, न चाहते हुए भी हृदय को हिलोर जाता है, अच्छे-खासे वर्तमान में लिपे-पुते चेहरे को चोर सिद्ध कर जाता है, कुछ उसी तरह से उस बच्चे का चेहरा और वो देहाती चिट्ठी उन पर असर कर गई और साहब की रंगत बदल गई। पर फिर भी हुआ कुछ नहीं। बस एक दिक्कत हुई और वह यह कि अपने लिपे-पुते वर्तमानी चेहरे पर उभर आई चोरी की छाप और रिश्तों को ठगने का सच कैसे छिपाएँ? तभी तो साहेब में इतनी हिम्मत नहीं हैं कि अपने ही खून, धूल-धूसरित अतीत या दूसरे शब्दों में कहें तो अपने उस देहाती बच्चे को सीने से लगा लें। उसकी माँ यानी अपनी पहली पत्नी की राज़ी-खुशी के बारे में सवाल करें। पर नहीं यह सब नहीं। और होगा भी क्यों, जब भाव ही नहीं रहे तो सम्बन्ध कैसा और कैसे सवाल? भाव और सम्बन्ध का तो प्रश्न ही नहीं, असल तो समस्य है और समस्या भी यह कि अब तक जिस रहस्य पर परदा डाले रहे वो उठ गया तो। उस बच्चे ने कहीं किसी से कुछ कह दिया तो? कहीं वो पीछा तो नहीं कर रहा? उफ्!!! दरअसल पसीना इसी डर से आया हैं। सफल और सभ्य बनने की प्रक्रिया किसी के सामने उजागर न हो जाए। यदि उजागर हो गई तो अपना दोगला चरित्र लेकर कहाँ जाएंगे साहेब। आगे बढ़ चुका क़दम पीछे कब लौटा है जो साहेब लौटते और मान लीजिए लौट भी आते तो आगे जो कर आए हैं उसका क्या? शायद इसीलिए अपने अतीत के लिए कोई विचार साहब के दिमाग़ को विचलित नहीं करता। साहब बनने की प्रक्रिया में वे अपनी भावनाओं और सम्वेदनाओं को पहले ही त्याग चुके हैं। उनका ओढ़ा हुआ शहराती चोला उन्हें इस बात के लिए क़तई छूट नहीं देता कि वो अपने असली रूप में आएँ, कुछ देर के लिए ही सही।

कहानी में यहीं से यह रहस्य भी खुलता है कि दरअसल वो बच्चा एक साहब से नहीं बल्कि अपने पिता से मिलने के लिए अपनी बारी का इन्तज़ार कर रहा था, क्या विडम्बना है और उससे भी बड़ी विडंबना यह कि उसका बाप उसे पहचानता तक नहीं

क्योंकि साहेब बनने के बाद उसने गाँव-देहात, अपनी देहाती बीवी और अपने बच्चों को वैसे ही छोड़ दिया जैसे सुबह होने पर आँखें रात के देखे हुए सपने को छोड़ देती हैं और फिर जो कुछ छोड़ दिया है, वापस उसकी ओर लौटने की क्या तुक और क्या ज़रूरत?

ऐसा नहीं है कि कहानी के पुरुष पात्र ने केवल अपनी पहली बीवी और बच्चों को ही धोखा दिया है। दरअसल उसने अपने से जुड़े हर एक व्यक्ति को धोखा दिया है। उसने अपने आस-पास भ्रम और झूठ का ऐसा मायाजाल बना रखा है जिससे निकलना बहुत मुश्किल है। उसकी दूसरी पत्नी सब कुछ जानते बूझते हुए भी, कसमसाकर रह जाती है, झूठ बोलकर, शादी-शुदा होते हुए भी खुद को कुँआरा बताकर उससे शादी रचाने वाले अपने धोखेबाज़ पति को छोड़ नहीं पाती और सारा गुस्सा उसकी पहली पत्नी के लिए अपशब्द बोलकर निकाल देती है। उधर पहली पत्नी भी क्या करे। जानती है कि उसके पति उसके प्रेम और समर्पण का अपने मतलब के लिए इस्तेमाल किया है। उससे झूठ बोलकर दूसरी शादी रचाई है। लेकिन इसके बावजूद भी वह अपने मन को अपने धोखेबाज़ पति से मुक्त नहीं कर पाई। बल्कि विडम्बना तो यह है कि वह अब भी उसके लिए 'सर्व सिरी उपमा जोग है'। वह अब भी खुद को अपने धोखेबाज़ पति के चरणों की दासी के रूप में ही देखती है।

लेकिन इन दोनों ही औरतों में एक ख़ास क़िस्म की समानता है। और दरअसल यह समानता नहीं औरत की ख़ास विशेषता है। और वह विशेषता यह है कि औरत एक बार जिससे प्रेम करती है, ताउम्र उसे मन में संजोकर रखती है। भले ही वह उसके साथ कैसा ही व्यवहार क्यों न करे। उसे धोखा ही क्यों न दे। पर औरत के लिए पति पति है। सर्व सिरी उपमा जोग है। यही भाव जिसका महत्त्व पुरुष कभी भी नहीं समझता, भारतीय संस्कृति के रूप में औरत का संस्कार है। औरत चाहे आधुनिक हो या पुरातन पंथी, शहरी हो या देहाती, पुरुष के प्रति अपने आत्म के समर्पण का भाव उसे ताउम्र पुरुष से अलग नहीं होने देता। किंतु विडंबना यह है कि पुरुष के लिए स्त्री की इन भावनाओं का, आत्म का आत्म के सहज समर्पण का कोई अर्थ नहीं है। यही कारण है कि वह औरत की भावनाओं को रौंदते हुए एक नई तलाश के लिए तत्पर रहता है। यही विशेषता इस कहानी के प्रमुख पात्र की है।

शिवमूर्ति की यह कहानी गाँव और शहर के बढ़ते अन्तराल की भी कहानी है। गाँव में रहना या गाँव से सम्बद्ध होना जैसे असभ्य होना है, असभ्य कहलाना है। गाँव से शहर पहुंचे व्यक्ति के लिए गाँव एक कुण्ठा से अधिक नहीं रह जाता, जिससे वह जल्द से जल्द मुक्त हो जाना चाहता है। वह भूल जाता है कि आज वह जो कुछ भी है, गाँव और गाँव के सम्बन्धों के कारण ही है। किंतु सभ्य और शहराती बनने की धुन, सभ्यता की चमक-दमक उसे गाँव की तरफ मुड़कर देखने नहीं देती। जिस गाँव में वो पैदा हुआ। बड़ा हुआ। ज़िंदगी का महत्त्वपूर्ण समय जहाँ गुज़ारा वही उसे एक ऐसी उबाऊ चीज़ लगता है, जिससे वह पीछा छुड़ा लेना चाहता है। हर रिश्ता हर सम्बन्ध समाप्त कर लेना चाहता है। लेकिन रिश्ते यूँ ही समाप्त नहीं होते, कहीं न कहीं टकरा ही जाते

हैं, चाहे उनसे भागने का जितना ही प्रयास क्यों न किया जाए।

वर्तमान भौतिकवादी संस्कृति में इस तरह की कहानी कोई कल्पना नहीं है बल्कि कटु सत्य है। अच्छी नौकरी की तलाश में गाँव से शहर की ओर पलायन ने इस तरह की स्थितियों को भी पैदा किया है। गाँव के लड़के को शहर में अच्छा पद और रुतबा मिलने के बाद अपना ही गाँव अखरने लगता है और गाँव उसका ठीक वैसे ही अतीत बन जाता है जैसे कहानी के साहब का।

इन सब स्थितियों के साथ यह कहानी हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है जो आदमी को केवल अपने विषय में सोचने वाला बनाती है। प्रश्न यह भी है कि ऐसी शिक्षा का क्या लाभ जो व्यक्ति को आत्मकेंद्रित और हद दर्ज़े का स्वार्थी बना दे। जो उसके साथ-साथ दूसरों की शांति को भी भंग कर दे! आत्मोत्सर्ग और दूसरों के लिए जीने का भाव तो जैसे अतीत की बातें हो गईं हैं किंतु ऐसी शिक्षा का क्या लाभ जो आदमी को पाषाण हृदय बना दे। कम-से-कम वर्तमान स्थितियों को देखकर तो यही लगता है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था महत्त्वाकांक्षी तो बनाती है पर महत्त्वाकांक्षा की यह अधिकता आदमी को आदमी तो क्या मनुष्यता के पायदान से भी नीचे गिरा देती है। कुल मिलाकर शिवमूर्ति की यह कहानी वर्तमान भौतिकवादी स्थितियों के कारण उत्पन्न हुई भावशून्यता और स्वार्थ के प्रपंच को उजागर करती है।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख तथा कहानियाँ प्रकाशित।
'यौनकर्मी महिलाओं का जीवन और हिन्दी पत्रिकाएँ' पर पी-एचडी.।
दिल्ली विश्वविद्यालय के एक महाविद्यालय में सहायक प्रवक्ता (तदर्थ) के पद पर कार्यरत।
सम्पर्क : फ्लैट नं. 21, डी.ए. फ्लैट,
निमरी कॉलोनी, अशोक बिहार, फेस-IV
दिल्ली-110052
मोबाइल : 09868910426

''शिवमूर्ति में गजब का सम्पादन है। एक–एक पंक्ति में वे जो बात कहते हैं वही दूसरे लोग एक पैराग्राफ में भी नहीं कह पाते। उनके पास सटीक और सार्थक भाषा और चुस्त शैली है।''

–राजेन्द्र यादव, साभार : मंच, सं. सजीव

अनुराग मिश्र

ग्रामीण जीवन का साहित्य

शिवमूर्ति ग्रामीण जीवन के कहानीकार हैं। शिवमूर्ति की कहानियों में जिस ग्रामीण जीवन की समस्याओं का चित्रण किया गया है, वह मूलतः अस्सी के दशक के बाद की है। प्रेमचन्द की रचनाओं से जिस तरह से हम आजादी के पहले के भारतीय ग्रामीण समाज की तस्वीर देख सकते हैं तो रेणु के साहित्य के माध्यम से आजादी के बाद की। हालाँकि यह किसी यूटोपिया के रूप में नहीं कहा जा रहा है बल्कि इसके पीछे मजबूत तथ्य है। रेणु 'मैला आँचल' के माध्यम से न केवल गांधीवाद की प्रासंगिकता के समाप्त होने की बात का यथार्थ वर्णन कर रहे हैं अपितु ग्रामीण समाज में कैसे-कैसे गठजोड़ बने हुए है और बन रहे हैं, उनका भी वर्णन करते हैं। शिवमूर्ति इसी परम्परा के कहानीकार हैं। उनके साहित्य में समस्याएं तो बहुत कुछ प्रेमचन्द के साहित्य की है, लेकिन शिवमूर्ति उनको लेकर एक नई कहानी कहते हैं। उस कहानी में विडम्बना भी है और इस बात का दुख भी शामिल है कि ग्रामीण समाज आज भी उसी हालत में है जैसा प्रेमचन्द के समय में था। प्रेमचन्द ने जिन समस्याओं को अपने साहित्य के माध्यम से दिखाया था वह गाँवों में आज भी किसी न किसी रूप में बनी हुई है। इन समस्याओं में चाहे छुटपन में शादी करने की समस्या हो या गाँव की ऊंची जातियों द्वारा निचली जातियों का शोषण करने का मामला या उनकी बहन-बेटियों के साथ जबरदस्ती करने की बात। यह सारी बातें आज भी किसी न किसी रूप में ग्रामीण समाज में बनी हुई है। अन्तर यदि कुछ हुआ है तो वह है समाज के निम्न वर्ग के लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता को लेकर। शिवमूर्ति की कहानियों के केन्द्र में यह सारी समस्याएँ हैं। 'कसाईबाड़ा' कहानी में गाँव की औरतों को बेचने का जो सिलसिला चल रहा है उसको केन्द्र में रखकर इसकी

वास्तविकता बताई गई है। कसाईबाड़ा की शनीचरी की बेटी सहित गाँव की बहुत सी बेटियों को सामूहिक विवाह के मार्फत गाँव के शहराती दूल्हों को बेच दी गई जो उनसे शहर में धंधा करवाते हैं। सुरजी इसी के खिलाफ गाँव के प्रधान के घर के बाहर अनशन किए बैठी है। अन्न-जल का त्याग कर दिया है। प्रधान को देखते ही चीखते हुए कहती है, ''मोर बिटिया वापस कर दे बेईमनवा, तोरे अंग-अंग से कोढ़ फूटि कै बदर-बदर चूई रे कोढ़िया...'' (कसाईबाड़ा पृ.) गाँव की लीडर जी जो कि गाँव में प्राइमरी स्कूल के मास्टर हैं जब से शनीचरी वाली बात हुई; वह तब से स्कूल से छुट्टी लेकर गाँव भर में घूम-घूमकर प्रधान के खिलाफ माहौल बना रहे हैं। प्रधान इसे लीडर का पैंतरा मात्र मान रहे हैं। ''चुनाव का पैंतरा भांज रहा है साला। मुझे बदनाम करने के लिए शनिचरी को फोड़ा है। देखते नहीं आप लोग, आधी-आधी रात तक शनिचरी की झोपड़ी में घुसा रहता है।'' (कसाईबाड़ा पृ.-10) पूरा गाँव मूक बना हुआ है। इस मूक स्थिति में सारे शामिल हैं। जिनकी बहन बेटियों की शादी इस सामूहिक विवाह समारोह में हुई थी और वह भी जिनकी बहन बेटियाँ अभी अनब्याही हैं। शनीचरी गाँव की औरतों के लिए ईर्ष्या का कारण बनी हुई है। वह सोचती है कि अब खुद कमाना खाना पड़ रहा है तो नाटक करने चली है। वास्तविकता यह है कि प्रधान की इस करतूत के खिलाफ यदि कोई बिना किसी स्वार्थ के शनीचरी के पक्ष में खड़ा दिखाई पड़ रहा है तो वह है अधरंगी। अधरंगी को गाँव में पागल माना जाता है लेकिन गाँव के वह बहुत से समझदार लोगों से ज्यादा समझदार है। वह प्रधान और लीडर दोनों की चालबाजियाँ समझ रहा है। गाँव वालों से कहता घूम रहा है-''परधान और लीडर दोनों गेहुंअन सांप है।'' (कसाईबाड़ा पृ017) वह गाँव भर के जानवर चराकर अपनी जीविका चलाता है लेकिन प्रधान और लीडर के जानवर नहीं चराता, कहता है कि यह दोनों गाँव के राहु और केतु हैं। कहानी जब आगे बढ़ती है तो अधरंगी की सारी बातें सही सिद्ध होती प्रतीत होती है। प्रधान जहाँ गाँव की लड़कियों को बेचकर अपना घर बनवाता है तो लीडर जी शनीचरी का खेत अपने नाम करा लेते हैं। इस बात का गाँव के सब लोगों को पता है, लेकिन कोई भी इन दोनों के खिलाफ कुछ नहीं बोलता है। गाँव के गरीब लोग दोनों ही तरह के लोगों से लुटते हैं। अन्तर बस यह रहता है कि कभी उसे प्रधान जी लूटते हैं जिन्हें लूटने का अधिकार जनता से मिला हुआ है तो कभी लीडर जी; जिनको राजनीति में अपनी महत्वाकांक्षाओं की लम्बी शृंखला पूरी करनी है। लीडर जी अपने को शनीचरी का हितैषी होने का दिखावा करने के नाते उसे लूटते हैं। यही इस व्यवस्था की सच्चाई है। गाँवों की वास्तविकता यह है कि वहाँ के लोगों के लिए प्रधानी का चुनाव सरकारी खैरात लूटने का एक माध्यम मात्र होता है। यह नयी व्यवस्था है जो कि पंचायतीराज के बाद गाँवों में स्थापित हुई है। जिसके पीछे यह उद्देश्य था कि शक्तियों का जितना विकेंद्रीकरण होगा उसी अनुपात में गाँवों का विकास होगा। लेकिन इसका जो उद्देश्य था और जो है उन दोनों ही बातों में बहुत अन्तर पैदा हो गया है। इसी कारण ग्राम प्रधान का चुनाव प्रधान और लीडरजी जैसे

लोगों के लिए अपने स्वार्थ पूरे करने का एक माध्यम हो गया है। कहानीकार इसी विडम्बना दिखाने की कोशिश कर रहा है।

वहीं 'तिरिया चरित्तर' की विमली और 'केशर कस्तूरी' की केशर उस छुटपन में हुए विवाह के कारण घुट-घुटकर जिन्दगी जीने को मजबूर हैं। विमली ने अपने मां-बाप का पेट भरने के लिए दिन-दिन भर भट्टे पर ईंटों की ढुलाई की है और काम करते हुए अपने को बहुत सी वहशी निगाहों से बचाया है। कितने लोग पड़े थे उसके पीछे डरेवर जी, कुइसा बोझवा, विक्रम, खलासी और भी कई लोग। लेकिन उन सबको वह जानती है। इस मामले सिर्फ डरेवर जी की बात और है। एक बार डरेवर जी जब आए थे तो हाथ में पट्टी बांधते-बांधते कुछ मन में विमली ने बाँध लिया था, लेकिन अब वह मन की उस बात को छोड़ देना चाहती है इसलिए वह डरेवर जी से चीज लाने को मना करती है। विल्लर तो यहाँ तक कहता था कि, विमली खान साहब के भट्ठे की 'हेडलाइट' है। (तिरिया चरित्तर पृ. 102) विमली अपनी इज्जत-आबरू बचाते हुए अपने पति सीताराम की छवि की कल्पना करते हुए अपने ससुर के साथ ससुराल चली जाती है, लेकिन वहीं उसे अपना ससुर ही धोखा देता है। ससुर ने इसीलिए विमली को लाने के कितने चक्कर लगाए थे विमली के गाँव के। जबकि विमली का पति कलकत्ता में कमाने गया हुआ था, यह बात विमली और उसके माँ-बाप सबको पता थी। लेकिन इस बात की तो कतई उम्मीद नहीं थी कि विमली का ससुर ही उसके साथ ऐसी नीच हरकत करेगा। इसीलिए जब विमली ने अपने छूटे हुए घर के लिए ससुर के पैर पकड़कर रोई थी तो उसका अर्थ उसके ससुर ने अलग ही लगाया था। ''शुरू-शुरू में तो नई पतोहू जैसा शरम लिहाज था। रीं-रीं करके रोना हम बिटिया बराबर अही। आप बाप बराबर। रो-रोकर पैर छान लेती थी दोनों हाथों से। लगता था अब ढ़ीली पड़ी कि तब।'' (तिरिया चरित्तर पृ. 122-123) लेकिन विमली जब ढीली नहीं पड़ी तो यही बात उसे अखर गई। आज तक विसराम ने जब रात में दारू पीकर विमली के साथ जबरदस्ती करने की कोशिश की तो उसने बहुत जोरदार लात मारी। विसराम जानवरों का डॉक्टर था। आज तक न जाने कितने बैलों साड़ों का पीठ दबाकर बैठा दिया था, लेकिन इस विमली जैसी उदंत बछिया से वह लगभग हार गया था। उसे सोच हो गया था। इसके बावजूद विसराम ने अपने मन की भावनाओं को नियंत्रित नहीं किया। इसी मानसिक उधेड़बुन में एक दिन चोरी से उसको परसाद के सहारे नशा पिला दिया। इसके बाद विमली के साथ उसने दुष्कर्म किया। विमली को इसी बात का सोच है कि उसने जिस आदमी को माफ कर दिया था, उसी ने उसको धोखा दिया। विमली को ''चेतना आते ही रुलाई छूटने लगती है-धोखा! छल! कहाँ-कहाँ से किन-किन खतरों से बचाती आई थी वह पराई अमानत! कितने बीहड़? कितने जंगल? कितने जानवर? कितने शिकारी! और मुकाम तक सुरक्षित पहुंचकर भी लुट गई वह! मेंड़ ही खा गई छल से!...अपनी आन-बान से जीने वाली 'मादा' यहाँ 'मिट्टी' कर दी गई जबरन!....'' (तिरिया चरित्तर पृ. 128-129) विमली सोचती

है– कितना कठिन होता है अपने आप की रक्षा करना बिल्कुल पके आम के पेड़ की रक्षा करने जैसा, लेकिन यह सब बेकार हो गया। उसे अपना ही जीवन व्यर्थ लगने लगता है। मामला इतने पर ही शांत नहीं हो जाता है, पंचायत बैठती है और फिर विमली को तिरिया चरित्तर साबित किया जाता है। विसराम एक पर एक तर्क प्रस्तुत करता है। ''टुकड़े-टुकड़े में किस्से के सिरे निकलते हैं दुखिया विसराम के मुँह से। एक किस्सा हो तो बताए कोई! नैहर में तो इसके पीछे रोज एक किस्सा तैयार होता था। इतने किस्से पीछे छोड़कर आई थी कि बताने लगे तो पूरी रामायण बन जाएगी।'' (तिरिया चरित्तर पृ. 132-134) जीवन और शरीर के प्रति यही व्यर्थता 'अकाल-दंड' कहानी की सुरजी को होती है। सुरजी बहुत सुन्दर है उसकी दप-दप करती देह से उसका पति इतना रीझा रहता था कि जब वह शादी के बाद आई थी तो वह डरेवर जी की मार की बिना परवाह किए उसके पास चला आता था, कहता था तुम मेरी 'पारसमणी' हो। सुरजी सोचती है कि ''यदि एक बार तब झिड़क दिया होता तो आज वह डरेवर बन गया होता। लेकिन झिड़कती भी कैसे? लेकिन आज उसी देह के कारण अकाल में राहत सामग्री बांटने वाला सिकरेटरी पीछे पड़ा हुआ है। 'पारसमणी' है तूं। जिसे छूकर लोहा भी सोना बन जाता है। अपने 'गुन' से वाकिफ नहीं है। मैं तेरा उद्धार करूँगा।''...''तुम्हारी झोपड़ी राशन-पानी से भर देंगे सूरजकली। हम अभी तक 'गरभ-कुँआरे' हैं। तुम्हें गऊदान का पुन्न मिलेगा।'' (अकाल-दंड पृ. 38) लेकिन सुरजी फिर भी जब नहीं मानती तो वह जोर-जबरदस्ती करने की कोशिश करते हैं। सुरजी पहले तो हाथ-पैर जोड़ती है–''हम गरीबन का भी दुनिया मा इज्जत-आबरू के साथ परा रहे देव। हाथ जोड़ित है। चले जाव।'' इस पर भी जब नहीं मानता तो एक सधा वार करती है। लेकिन सुरजी को दुख है अपनी दप-दप करती देह को लेकर। क्या वह अपने पति को धोखा दे सकती है कुछ किलो राहत-सामग्री के लिए, ऐसा वह सोच ही नहीं सकती। सिकरेटरी ने हर जगह की जनाना को देखा जाना था और बहुत से मकरध्वज पैदा किए थे, लेकिन आज यह क्या हुआ? आगे के दोनों दाँत बाहर निकल गए हैं। रंगी बाबू कहते हैं...बिना जोरू-जांता वाले आदमी में थोड़ी बहुत 'फिसलन' तो आ ही जाती है इस उम्र में। जवानी से भी ज्यादा 'भरमाने वाली होती है यह उम्र। लेकिन इस अकाल में राह-बाट में हर जगह घाट ही घाट तो खुले हैं। जहाँ मरजी 'डुबकी' लगा लो। फिर बंधे घाट के पानी में नहाने की चाहत कोई क्यों करे? पराए आँगन में कुएँ में डूब मरने की जिद क्यों करे कोई? (अकाल-दंड पृ. 54) लेकिन सिकरेटरी बाबू कहाँ मानने वाले थे सो सिकरेटरी ने गाँव के रंगी बाबू को (जो राहत सामग्री को बाजार में बेंचकर कमीशनखोरी करते हैं) सुरजी को कैंप कार्यालय में एक बयान के सिलसिले में लाने के लिए तैयार कर लेते हैं। लेकिन वहाँ पहुंचकर भी सुरजी ने सिकरेटरी बाबू की जो गत की उसकी तो किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। सिकरेटरी बाबू खटिया पर पड़े तडप रहे हैं, सुरजी ने उनके शरीर का सबसे नाजुक हिस्सा काटकर अलग कर दिया है। वहीं रंगी बाबू की लड़की ममता सिकरेटरी के कैंप से

खिलखिलाते हुए निकलती है, रंगी बाबू जड़शून्य हो गए हैं। उनको लगता है कि बोरों की दलाली से बहुत कुछ खो गया है। ...रंगी बाबू को लगता है कि चावल और गेहूं के बोरे उन्हें लगातार गूंगा बनाते जा रहे हैं। गूंगा और बहरा दोनों...लेकिन पहले वाली आन-बान और जबान पर मर मिटने का रोग पाल लिया तब तो जिंदगी और भी नर्क बन जायेगी। (अकाल-दंड पृ. 54) दरअसल यह समस्या अपने स्वार्थों को लेकर है। रंगी बाबू गाँव के उस वर्ग से हैं जिन्होंने अपने स्वार्थों के लिए अपना सब कुछ गिरवी रख दिया है। बेटी ममता को सिकरेटरी ने पहले राहत बाँटने वाली लेडी वर्कर बनाया फिर सुपरवाइजर और रंगी बाबू को बोरों की दलाली। एक-एक करके सिकरेटरी ने अपने फायदे के लिए रंगी बाबू को अपनी गिरफ्त में कर लिया और फिर उसके बाद उसने अपने सारे स्वार्थ पूरे किए, रंगी बाबू एक तरह से लाचार हो गए हैं सिकरेटरी के सामने। शिवमूर्ति इस कहानी के माध्यम से केवल अकाल की पीड़ा की विवेचना नहीं कर रहे है बल्कि राहत सामग्री के नाम पर कैसे-कैसे और किस तरह से स्वार्थ पूरे किए जाते हैं इसकी विवेचना भी करते हैं। रंगी बाबू जैसे लोग असहाय हो जाते है जबकि गरीब सुरजी सिकरेटरी से अपना बदला ले लेती है। तिरिया-चरित्तर की विमली अपने ससुर से बदला ले नहीं पाती अपितु वह खुद पंचायत के निर्णय का शिकार होती है। गाँव के पंच उसको 'तिरिया चरित्तर' घोषित करके उसे सिर में दागा देते हैं। यह वही पंचायत है जिसके बारे में प्रेमचन्द ने एक आदर्श छवि प्रस्तुत करते हुए 'पंच-परमेश्वर' जैसी कहानी लिखी थी। कहानी पात्र जुम्मन के माध्यम से कहलवाते हैं- ''...आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठ कर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि कि पंच की जबान से खुदा बोलता है।'' लेकिन आज पंचायत का यह रूप बदल गया है। पंचायत में सिर्फ और सिर्फ विमली के ससुर के तर्कों को सही मान लिया जाता है। गाँव की जो भी औरतें विमली के ससुर बिसराम के बारे में कुछ बोलने का प्रयास करती है तो उनको चुप करा दिया जाता है। जबकि बिसराम के चाल-चलन बहू आने के बाद से बदल गए थे। अपनी जमीन बेचकर गुलछर्रे उड़ा रहा था।'' 'जब से पतोहू का गौना लाया है, विसराम का भाव बढ़ गया है। चाल, ढाल, पहनावा-ओढ़ावा, दाढ़ी-मोछ, सब टिच्च! दो कट्ठा जमीन रेहन रखकर बादशाही खर्च शुरू किया है। दिन भर झोपड़ी के सामने गांजे की महफिल लगा रहा है। एतना ठाट! काहे भाई? देखने वालों को अजगुत-अजगुत लग रहा है। कहीं कोई भेद?...'' (तिरिया चरित्तर पृ. 120) गाँव वालों की नजर में यह बात खटकी भी थी, प्रतिवाद भी किया था। गाँव के लोगों ने कहा था–बिसराम भाई तुम्हारी खटिया दरवाजे पर नहीं दिखाई पड़ती, लेकिन पंचायत में निर्णय लेते समय इन सब बातों को दरकिनार कर दिया गया। समूचे गाँव की नजर में विमली तिरिया चरित्तर बन गई जिसको दंडित करना पंचायत का अधिकार है, नहीं तो समाज में अराजकता पैदा हो जाएगी। आज के दौर में पंचायतों का यह रूप हो गया है। इसका शिकार कभी विमली होती है तो कभी हरियाण की कोई और लड़की।

दरअसल जब भी पंचायतें अपने स्वरूप में दकियानूसी हो जाती है तभी उनमें ऐसी विद्रूपताएं आ जाती है। शिवमूर्ति इन सब चरित्रों के माध्यम से ग्रामीण समाज में हो रहे बदलावों को दिखा रहे हैं, इसलिए शिवमूर्ति के साहित्य के इस संदर्भ में बहुत मायने हैं। शिवमूर्ति अपनी कहानियों के माध्यम से ऐसे ग्रामीण समाज का चित्रण कर रहे हैं जो कि इस आभासी विकास के पैमानों में बहुत ही चमचमाता हुआ नजर आता है लेकिन उसकी वास्तविक सच्चाई कुछ दूसरी है। लिहाजा यह जरूरी हो जाता है कि इस परिदृश्य में विकास के पैमानों की सही से जांच की जाए जिससे ग्रामीण समाज की समस्याओं का वास्तविक समाधान किया जा सके।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलखे तथा समीक्षाएँ प्रकाशित।
सम्पर्क : 538/38 मौसमबाग, गोपाल मोहन हाउसिंग सोसायटी
सीतापुर रोड, लखनऊ-226020
मोबाइल : 09565761218
ईमेल : mishraanurag311@gmail.com

''तिरिया चरित्तर' की विमली जो बड़ी हिम्मत और जतन से स्वयं को अपने अनदेखे पति के लिए सुरक्षित रखती है, अपने ही ससुर के धार्मिक कपट और वासना का शिकार हो, दण्ड भोगती है। किन्तु वह प्रतिरोध भी करती है। यही प्रतिरोध उसे प्रेमचन्द की धनिया, नागार्जुन की उग्रतारा या रांगेय राघव की गदल से जोड़ता है। शिवमूर्ति के कथा–संसार में भिन्न भूमि, चिन्तन आग्रह से उठाए गए 'काफ्का' या 'वो' जैसे कल्परूपक न होकर खौलती–खदबदाती स्थितियों में तपने, झुलसते हाड़–माँस के पात्र हैं।''

–महेश कटारे, साभार 'मंच' सं. संजीव
जनवरी-मार्च, 2011

रानी कुमारी

प्रतिरोधी संस्कृति रचती दलित स्त्रियाँ

प्रत्येक समाज में यथास्थिति से जूझने की अपनी-अपनी संस्कृति होती है। अन्याय, शोषण, भेदभाव के प्रति सबका अपना-अपना विचार होता है। विरोध प्रतिरोध की संस्कृति पर गौर करें तो मौजूदा वैचारिकी में दलित स्त्री ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। दो तरह के स्त्री चरित्र दिखाई पड़ते हैं एक जिन्हें दलित स्त्रियों ने रचा है। दूसरे वो जिन्हें दलित पुरुषों ने रचा है। दलित स्त्री द्वारा रची स्त्री की बानगी अनीता भारती व बजरंग बिहारी तिवारी द्वारा सम्पादित पुस्तकों में देखी जा सकती है। 'यथास्थितिवाद से टकराते हुएः दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानियाँ' तथा इसी कड़ी का 'कविता खण्ड'। दूसरी तरफ पुरुष द्वारा रची दलित स्त्री को देखें तो हमें शिवमूर्ति द्वारा रचित दलित स्त्रियों दिखाई देती हैं।

शिवमूर्ति अवध की जमीन से जुड़े हुए रचनाकार हैं। इन्होंने बहुत कम, पर विशिष्ट लिखा है। ग्रामीण जीवन से जुड़े यथार्थ को अपनी कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मूलरूप से इनका एक ही कहानी-संग्रह है 'केशर-कस्तूरी'। इसमें छः कहानियाँ हैं। शीर्षक से लेकर अन्तर्वस्तु तक में दलित स्त्री रची बसी है। पहली ही कहानी कसाईबाड़ा बेहद प्रसिद्ध है। पाँच हजार से ज्यादा मंचन तथा फिल्म का श्रेय लिये हुए है। इसके अलावा 'तर्पण' 'त्रिशूल' और 'आखिरी' छलाँग' उनके उपन्यास हैं। जातिवादी ग्रामीण राजनीति पर आधारित उपन्यास है 'त्रिशूल'। शिवमूर्ति एक चर्चित लेखक हैं। ''कथाकार शिवमूर्ति की सामर्थ्य का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि न सिर्फ उन्होंने पाठकों को आकर्षित-प्रभावित किया, उनकी कहानियों ने साहित्य जगत में कई बहसों को भी जन्म दिया।''[1]

शिवमूर्ति की कहानियों में स्त्री और 'दलित स्त्री विशेष रूप से विद्यमान हैं। वह

उनकी समस्याओं से पाठक वर्ग को रूबरू कराते हैं। वह पाठक पर ही निर्णय छोड़ देते हैं कि क्या सही है और क्या गलत। समाज में चली आ रही कुरीतियों पर से वह पर्दा हटाते हैं। गाँवों में ऐसी कुरीतियाँ अभी भी चली आ रही हैं। गाँवों की राजनीति बहुत भयानक होती है। राजनीति में विचारधारा नहीं रह गई है। टोपियों का फर्क है। खोपड़ी सब एक सी हैं। दिमाग में शोषण की इच्छा एक-सी है। परिस्थिति चाहे जो हो, गरीबों, दलितों ओर 'स्त्री' को ही भुगतना पड़ता है। 'बाल-विवाह' की समस्या भी एक विकराल रूप धारण कर लेती है। नासमझी में की गई शादी, एक घिनौना रूप लेकर सामने आती है। 'भरत-नाट्यम', 'तिरिया-चरित्तर' और 'केशर-कस्तूरी' कहानियों में बालविवाह का यथार्थ उभरकर आता है।

अभी भी गाँवों में जात-पात के नाम पर छूआछूत होती है। शोषण होता है। दलितों की बहन-बेटियों की इज्जत के साथ खेला जाता है। सिर्फ इसलिए कि वह दलित हैं। शिवमूर्ति की कहानी 'कसाईबाड़ा' और 'अकाल-दण्ड' में भी कुछ ऐसा ही होता है। शहर, गाँवों का शोषण करते हैं और गाँव दलितों का। बाबा साहब आम्बेडकर ने भी कहा था कि दलितों को गाँव छोड़ देना चाहिए। गाँवों में विकास सम्भव नहीं हैं। शहर में छूआछूत है पर गाँवों की तुलना में कम।

'कसाईबाड़ा' शिवमूर्ति की चर्चित कहानी है। कहानी के नाम से ही स्पष्ट है कि जिस तरह कसाई अपने स्वाद के लिए, बेजुबान जानवरों को मार देता है। ठीक उसी तरह गाँव के प्रधान ने आदर्श विवाह के नाम पर सामूहिक इंटरकास्ट मैरिज करवाई है। जिसमें हर एक कन्या-पक्ष हरिजन है। इस सामूहिक विवाह करवाने के पीछे प्रधान की बहुत बड़ी चाल है। एक तरह से भोले भाले गाँव वालों के सामने संत बने रहना और अपनी प्रधानी का परचम लहराना। जबकि इसका दूसरा पक्ष भी है जो काफी दर्दनाक है। जिन लड़कियों की शादी की जाती है। उन्हें शादी के नाम पर मिलता है देह-व्यापार। यह शोषण का नया हथियार है। इस झूठी शादी के कारण गरीब लड़कियों की इज्जत के साथ खिलवाड़ किया जाता है। क्या कोई सोच सकता है कि इस सामूहिक विवाह के पीछे इतनी दर्दनाक कहानी होगी? ''इस पूँजीवाद और ब्राह्मणवादी व्यवस्था में स्त्री उपभोग का सामान बन गई है। पूँजीवाद के युग में बाजार और ब्राह्मणवादी ताकतें उसकी दो छवि गढ़ रहीं हैं। पहली तो वह भारतीय स्त्री की या फिर दूसरी उस आधुनिक स्त्री की जो शराब, सिगरेट पीती हुई कम कपड़ों में दिखाई जाती है। एक मनुष्य से ज्यादा वह एक वस्तु के रूप में बार-बार पेश की जा रही है। इसमें कोई शक नहीं कि पूँजीवादी-सामंतवादी व्यवस्था में औरत की तस्वीर बनाई जाती है। बाजार का पूरा गणित उपभोक्तावादी नज़रिया पैदा करना है और इसको पैदा करने में वह पूरी तरह से सफल हो रहा है।''[2]

लेखक ने यह बताने की कोशिश की है कि पूरे गाँव में एक 'कसाईबाड़ा' चल रहा है। चाहे वो प्रधान हो, लीडर हो या दरोगा। तीनों ही कसाई हैं। छोटी-सी घटना को आधार बनाकर लेखक ने एक बड़े रहस्य का उद्‌घाटन किया है। कहानी में और

भी ऐसी बातें है जैसे दलितों के खिलाफ षड्‌यन्त्र, देह-व्यापार, उच्च पदों पर रहने वाले लोगों का आतंक, भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि। 'कसाईबाड़ा' पूरे देश में चल रहा है। वंचितों से उनके संसाधनों को हड़पा जा रहा है। दलितों का प्रयोग जानवरों की तरह किया जा रहा है। यहाँ दलित स्त्री का बहुस्तरीय शोषण हो रहा है।

'अकाल-दण्ड' कहानी को पढ़ते हुए नागार्जुन की 'अकाल और उसके बाद' कविता की याद आती है। लेकिन अकाल दण्ड अकाल के दौरान जीवन मूल्यों में आ रही गिरावट को दर्ज कराती है। अकाल जैसे फसल, पानी का ही नहीं है बल्कि तथाकथित उच्च वर्गों की संवेदना का भी है। अकाल से हर कोई त्रस्त हैं, पस्त है...चाहे इन्सान हो या जानवर। अकाल और सूखे के कारण पूरा गाँव भूखों मर रहा है। हर तरफ पानी और खाने की समस्या है। जिनके पास पानी और खाना है अगर नहीं है तो जाति के नाम पर पहला हक उनका ही होता है।

अकाल के कारण इतनी ज्यादा दुर्दशा हो गई है कि जब खाने को कुछ नहीं मिला, तो गरीब जानवरों को मार कर अपने खाने का प्रबन्ध कर रहे हैं। डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' में ऐसे 'दारूण दृश्यों' को प्रस्तुत किया है। जो दलित जीवन का अंग रहा है लेखक द्वारा मरे पशु के माँस खाने का वर्णन किया है। तब हमें महसूस होता है कि किस तरह से अमानवीयता की सारी हदें तोड़ता हुआ एक दलित मरे जानवर का माँस खाने को मजबूर होता है। वह न सिर्फ उस माँस को उसी दिन खाता बल्कि आने वाले दिनों के लिए भी सुखा कर सहेज लेता था वहीं कुछ दबदबे वाले और जबरे लोग अपने बैलों के लिए पानी के ड्रम भर रहे हैं जिसका वर्णन कहानी में किया गया है। ''पानी का टैंकर आने पर जो पहले अपने बैलों को पिलाने के लिए बड़े-बड़े ड्रम और 'छोड़' भर लेते हैं, तब गाँव के कमजोर लोगों की बारी आती हैं—अपने लिए गगरा-गगरी भरने की।''[3] कैसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है कि इन्सानों से ज्यादा जानवरों को महत्त्व दिया जा रहा है। दबंगों के जानवर भी दलित जन से ऊपर हैं। अकाल का दण्ड भुगतान स्त्रियों को करना पड़ता है। जहाँ हर कोई भूख-प्यास से तड़प रहा है वहीं सेक्रेटी को किसी की लाज-शर्म नहीं है। सुरजी इसका विरोध करती है। ''सुरजी ने हंसिए से उसकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भागकर अन्धेरे में गुम हो गई है।''[4] सुरजी न केवल बलात्कारी को दण्ड देती है बल्कि उन तथा कथित क्षत्रिय बाबू साहबों को भी उनकी औकात बता देती है। जो समाज के चौधरी बने फिरते हैं। ये चौधरी अपनी बहू-बेटी की लुटती हुई इज्जत को किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो देखते हैं। किन्तु सुरजी विद्रोह और विरोध की एक नई संस्कृति का सृजन करती है।

शिवमूर्ति का कथा साहित्य काफी दृढ़ता से ग्रामीण जीवन और आधुनिक जीवन-मूल्यों के पक्ष में खड़ा नजर आता है। उन्होंने शहरों में आधुनिकता के संकटों को देखने के स्थान पर गाँवों में आधुनिकता के अभाव को देखा। इसी तरह उन्होंने गाँवों को केवल खेतिहर किसान का पर्याप्त समझने के बजाय ग्रामीण संरचना में शामिल कई अन्य पक्षों जैसे स्त्री-जीवन, जातिवाद, सरकारी भ्रष्टाचार और आपसी ईर्ष्या आदि को कथानकों का आधार बनाया।''[5]

शिवमूर्ति की कहानियों में स्त्री-अस्मत और जति का सवाल अहम मुद्दा है। 'सिरी उपमा जोग' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जिसने दो शादियाँ की। जब वह व्यक्ति कुछ नहीं था, जब उसकी ग्रामीण पत्नी ने उसका साथ दिया। उसका हौसला बढ़ाया। पूरे घर की जिम्मेदारी खुद उठाई और खेतीबाड़ी का काम सम्भाला, बस इसलिए कि उसका पति पढ़-लिखकर एक अफसर बन सके। जब वो दिन आ गया तो पति को वह पत्नी जाहिल और गँवारू लगने लगी।

''शिवमूर्ति गाँव के अशिक्षित और जाहिल समझे जाने वाले लोगों से सहानुभूति रखते हैं, जबकि शिक्षा पाकर गाँव से पलायन कर गए लोगों के दो मुँहेपन और बेईमानी को व्यक्त करते हैं।''[6]

शहर में ए.डी.एम. होने के कारण, उसने एक शहरी लड़की से शादी कर ली। लेकिन ए.डी.एम अपने गाँव, घर, परिवेश सबसे बहुत दूर हो गया। 10 साल से वह गाँव नहीं गया। उसकी पत्नी जानती है कि उसके पति ने दूसरी शादी कर ली है। पर अपने भाग्य को वह कोसती नहीं है, उस नियति को स्वीकार करती है। 'लालू' (बेटा) को जब चपरासी के लड़के मारते हैं और उसका खून निकलना शुरू हो जाता है तब भी बेरहम पिता को अपने बेटे पर दया नहीं आती।

पुरुषों की मानसिकता को कटघरे में खड़ा करते हैं शिवमूर्ति। लालू के पिता को अपने बच्चों से कोई हमदर्दी नहीं है। ऐसे स्वार्थी, धूर्त इन्सान अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। पुरुष का सुख, स्त्री का दुर्भाग्य। सभी जातियों, वर्गो में एक समान है। पढ़े लिखे दलितों मे भी अवसरवाद है। इसी को लक्ष्य कर डॉ. अम्बेडकर ने लिखा था कि मुझे सबसे ज्यादा पढ़े लिखे लोगों ने धोखा दिया है। इन पढ़े लिखे दलितों तथा शोषक सवर्णो में कोई अन्तर नहीं है।

'कसाईबाड़ा' 'अकाल-दण्ड' और 'सिरी उपमा जोग' कहानियों में हर रूप से स्त्री दमित है, उसका शोषण हो रहा है। शोषण करने वाले हैं कुछ गाँव के बड़े लोग और कुछ हैं अपने ही परिवार के लोग। इनका कसूर इतना है कि ये गरीब हैं और दलित हैं। 'शिवमूर्ति' की कथाओं-उपन्यासों में अवध की ग्रामीण संस्कृति का बहुरूपी और गहरा अंकन मिलता है जो कहानियों से लोक को विलोपन की मुहिम को अपने बल पर स्थगित भी करता है। पर ग्रामीण जीवन केवल प्रकृति और ऋतुओं पर केन्द्रित न होकर मुख्य रूप से ग्रामीण जनों की कठिन स्थितियों और संघर्षों के माध्यम से व्यक्त होता है।'[7]

भरतनाट्यम, तिरिया चरित्तर और केशर-कस्तूरी तीनों में एक समस्या समान-रूप से विद्यमान है बाल-विवाह। गाँव में फैली भ्राँतियों के कारण स्त्रियों का शोषण किया जाता है। डॉ. आम्बेडकर के नारे 'शिक्षित बनो' को जितना दलितों ने समझा उससे ज्यादा सवर्णों ने। सम्भवत इसीलिए दलितों की शिक्षा पर रोक लगाई गई। उन्हें अवसर ही नहीं दिये गए।

'भरतनाट्यम' में बताया गया है कि भ्रष्टाचार दलित समाज को नाच नचा रहा है। एक जुट परिवार ही इसका सामना कर पाएँगे। यह कहानी गाँवों के बदलते परिवेश

के साथ शिक्षा के पक्ष पर भी प्रकाश डालती है। गाँव के नवयुवक बी.ए., एम.ए. की पढ़ाई पूरी करके सिर्फ बी.एड. या एम.एड. की पढ़ाई ही जानते हैं, उन्हें अन्य प्रतियोगिताओं की जानकारी नहीं होती। लेकिन ''आगे की कड़ी के रूप में केवल बी.एड., एल.टी.या एल.एल.बी. का नाम ही जान पाते हैं। शिक्षा और रोजगार के बीच की कड़ी यू.पी.एस. सी. के बारे में जानकारी देने वाला वहाँ कोई नहीं है।''[8]

इस तरह लेखक ने बेकार नवयुवक के अपने परिवार में टूटने की मनस्थिति का चित्रण किया है। कहानी में लड़का-लड़की के भेदभाव की समस्या को भी उठाया गया है।

'तिरिया चरित्तर' एक प्रसिद्ध कहानी है। इस कहानी पर बासु चटर्जी ने फिल्म बनाई है। कई नाट्य-दलों ने इसे मंच पर प्रस्तुत किया। यह कहानी है विमली की। जो बेटा-बेटी के भेद को भूलकर माँ-बाप के लिए मेहनत-मजदूरी करती है। नौ-दस साल की उम्र में उसने भट्ठे पर काम करना शुरू किया। जिसका विरोध लोगों ने किया। विमली की माँ ने लोगों की एक न सुनी और अपनी बेटी को काम करने दिया। यह एक प्रोग्रेसिव सोच है। बस गाँव वाले इसलिए उसका विरोध करते हैं कि वह एक लड़की है।

'तिरिया चरित्तर' असल में उस पुरुष समाज का 'चरित्तर' उघाड़ती है जो हर सम्भव स्त्री को 'येन केन प्रकारेण' भोग लेना चाहता है। यहाँ तिरिया का चरित्तर तो उत्तम, प्रतिरोधी, जागरूक व संवेदनशील तथा जिम्मेदारियों भरा है। किन्तु उससे जुड़ा पुरुष उसे भोगने भर की लालसा पाले है। वास्तव में पुरुष का चरित्तर बेहद घिनौना, अमर्यादित, कुत्सित व नंगा है। शिवमूर्ति ने विलक्षण वातावरण रचा है। अन्तिम दम तक विमली प्रतिरोध करती है लेकिन नियति वही थी कि 'हजारों ने मिलकर एक को लूट लिया।'

वास्तव में विमली का चरित्र एकनिष्ठ है लेकिन पुरुष वर्ग की कोई निष्ठा नहीं है। पुरुष चरित्र-हीन है। विमली पति के प्रति पूरी ईमानदार है। जबकि उसका ससुर ही उसके साथ बलात्कार करता है। विमली इसका विरोध करती है तो पंचायत उसी के खिलाफ फैसला सुनाती है। और उसके चरित्र पर सवाल उठाती है। कहानी के माध्यम से यह पता चलता है कि 'स्त्री' कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। वरिष्ठ आलोचक वीरेन्द्र मोहन के शब्दों में ''शिवमूर्ति की कहानियों में संयुक्त परिवार और संयुक्त परिवार के विघटन तथा उससे उत्पन्न कारकों की पहचान मिलती है। भरतनाट्यम, सिरी उपमा जोग तथा केशर कस्तूरी में पारिवारिक विघटन कमजोर पक्ष को और अधिक दयनीय बना देता है। लेखक ने संयुक्त परिवार और विघटित परिवार में आर्थिक आधार और उससे उत्पन्न सम्बन्धों को पहचाना है। शिवमूर्ति की प्रायः सभी कहानियों में यह केन्द्रीय विचार है।''[9]

यह बात सही है कि शिवमूर्ति ने अपनी कहानियों में संयुक्त परिवार की समस्याओं को बखूबी प्रस्तुत किया है। 'केशर-कस्तूरी' इस कहानी संग्रह की अन्तिम कहानी है। कहानी की नायिका केशर है। जिसका बाल-विवाह हो चुका है। दलित समाज में प्रतिभा की कमी नहीं है, कमी केवल अवसरों की है। केशर एक ऐसी लड़की है जिसे अवसर मिले तो उसकी योग्यता कस्तूरी सुगन्ध की तरह चारों तरफ फैल जाएगी। लेकिन वहाँ गरीबी, बाल-विवाह के भँवर में फँसकर दारूण नियति को प्राप्त होती है। यह एक ऐसी

अनूठी कहानी है जो दलित साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। कितनी ही केशर हैं जो तमाम गुणों, योग्यताओं के बावजूद नारकीय जीवन जी रही हैं। पढ़ा लिखा तबका एक बार फिर कटघरे में खड़ा दिखाई देता है। केशर दलित स्त्री की वह अनगढ़ मूर्ति है जो कायदे से गढ़ी, तराशी जाए तो महान विभूति बन सकती है।

अपनी दीन हीन स्थिति के बावजूद उसमें आत्मसम्मान खूब है। बड़ा शान्त व करूण रोष प्रकट करती है केशर–

''मोछिया तोहार बप्पा 'हेठ' न होई है
पगड़ी केहू न उतारी, जा-ई-ई
टुटही मँड़इया या जिनगी बितउबै,
नाही जाबै आन की दुआरी जी-ई-ई।''[10]

दलित समाज में खाप पंचायत का हुक्म मानने वालों की प्रवृत्ति है। ये अपनी बेटियों के नरक में मरते दम तक तड़पते तो देख सकते हैं किन्तु समाज के अन्धविश्वासी रिवाजों को नहीं तोड़ सकते। ''शिवमूर्ति की कहानियों में अनुभव का सच भी इसीलिए जटिल है और ऐसा अनुभूत सत्य है जो जीवन-जगत की कल्पना पर नहीं बल्कि उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित है। उनकी कहानी 'केशर कस्तूरी' अनमेल विवाह की समस्या की ओर इशारा करती है, पर वह केवल वहीं तक सीमित नहीं रहती बल्कि उसके माध्यम से गाँवों के बड़े परिवारों के भीतर निरन्तर गहराते संकट की झलक मिलती है।''[11]

शिवमूर्ति ने कहानी के माध्यम से अनेक मुद्दे उठाए हैं। जो काफी गम्भीर मुद्दे हैं। अपनी सरल, सहज और ग्रामीण भाषा का प्रयोग उन्होंने बखूबी किया है। गाँव के परिवेश का जीवन्त और यथार्थ चित्रण भी। शिवमूर्ति हिन्दी कहानी में विशिष्ट स्थान रखते हैं। कहा जा सकता है कि ''आधुनिक हिन्दी कहानी में सबसे अलग उभरकर जो एक नाम आता है, वह है–शिवमूर्ति का। शिवमूर्ति को पढ़ने का अर्थ है उत्तर भारत के गाँवों को उनकी समग्रता में जानना। गाँव ही शिवमूर्ति की प्रकृत-लीला-भूमि है। इसे केन्द्रित करके उनका कथाकार दूर-दूर तक मँडराता है। गाँव के रीति-रिवाज, ईष्या-द्वेष, राग-विराग, जड़ों में धँसे संस्कार, प्रकृत यौन-बुभुक्षा, पर्त-दर-पर्त उजागर होता वर्णवादी-वर्गवादी शोषण, मूल्यहीन राजनीति और उनके बीच भटकती लाचार जिन्दगियाँ...''[12]

सधी हुई बेलौस भाषा शिवमूर्ति के कथा-साहित्य की रीढ़ है। केशर कस्तूरी के साथ-साथ उनके तीनों उपन्यासों भाषिक पक्ष बेहद सशक्त व प्रभावी है। बात जब दलित स्त्री की आती है तो उसकी भाषा भी प्रतिरोध व प्रतिशोध को हो जाती है। शिवमूर्ति जिस दलित-स्त्री की सृजना करते हैं वह 'बचाव' नहीं 'खबरदार' की भाषा बोलती है। 'अकाल दण्ड' की सुरजी सिकरेटरी की क्या गत बनाती है ''खबरदार जो आगे बढ़ा।''...मुँह झौंसि देब दाढ़ीजार के पूत।''[13] और उस पर भी जब वह ''बहनियति से बाज नहीं आता तो 'लात का पक्का धक्का पिछवाड़े लगता है तो औंधे मुँह जाकर बाँस के चौखट से टकराते हैं। आगे के दोनों दाँत घोड़ा दाँत निकल भागे। बाप रे! उठकर खून थूकने तक की ताब नहीं पड़े पड़े भैंसे की तरह हाँफ रहे हैं'' यही नहीं जब सिकरेटरी दुबारा प्रयास

करता है तो ''सुरजी ने हँसिए से उनकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भागकर अन्धेरे में गुम हो गई है।''[14] यही तेवर 'तर्पण' में रजपत्तिया की इज्जत बचाते हुए परेमा की माई दिखाती है–''पकड़-पकड़ भागने ने पावै। 'पोतवा' पकड़ि के ऐंठ दे। हमेशा-हमेशा का 'गरह' कट जाय।''[15] दलित स्त्री में यह तेवर भाषा में प्रतिरोध व प्रतिशोध युग परिवर्तन की सूचना है। इसके सूत्रदार शिवमूर्ति हैं। शिवमूर्ति की रची दलित स्त्री की भाषा शोधपरक दृष्टि की माँग करती है।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि शिवमूर्ति पर उतना विमर्श नहीं हो पाया है जितने की दरकार है। वास्तव में शिवमूर्ति दलित साहित्य को प्रचलित नारेबाजी से निकालकर गहन संवेदना के धरातल पर स्थापित करते हैं। यह जमीन अभी और पुख्ता होगी, जिस पर नए विमर्श पैदा होंगे।

सन्दर्भ

1. केशर कस्तूरी, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पहला संस्करण 2007, पुस्तक के फ्लैप से।
2. लेखः परिवर्तन का परिपेक्ष्य और सम्भावना, अनिता भारती, अपेक्षा, त्रैमासिक पत्रिका, अप्रैल-जून 2012, पृ.-74
3. केशर कस्तूरी, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण पेपरबैक्स पहला संस्करण 2007 पृ.-29
4. वहीं, पृ. 59
5. शताब्दी का प्रतिपक्ष, वैभव सिंह, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्कारण 2013, पृ. 145
6. वहीं, पृ. 147
7. वहीं, पृ. 147
8. केशर कस्तूरी, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण पेपरबैक्स पहला संस्करण-2007, पृ.82
9. htt://lamhipatrisa. blogsbot. com. oct. dec2012 shivmurti. blogspot: n /2011/10/ blog-post-21.html
10. केशर कस्तूरी, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पहला संस्करण 2007, पृ. 164
11. शताब्दी का प्रतिपक्ष, वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण 2013, पृ. 150
12. केशर कस्तूरी, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पहला संस्करण 2007, पुस्तक के फ्लैप से
13. केशर कस्तूरी, पृष्ठ 39
14. वही, पृष्ठ 59
15. तर्पण पृष्ठ, राजकमल प्रकाशन, सं.2010

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित।
फिलहाल दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से शोधरत।
सम्पर्क : म. नं. 5/4,
कापसहेड़ा, नई दिल्ली-110037
फोन नः 8447695277
ईमेल : rani.sirohi@gmail.com

अब्दुल बिस्मिल्लाह

पहले मैं शिवमूर्ति के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ

शिवमूर्ति जी जिस विभाग में कार्यरत थे, उस विभाग में स्थानान्तरण हर तीन साल के बाद होता था। एक बार उनका स्थानान्तरण मऊनाथ भंजन हो गया। अब मऊनाथ भंजन जिला बन गया है। पहले एक छोटा-सा कस्बा हुआ करता था। चूँकि वे सेलटैक्स अधिकारी थे, इसलिए उनका मान-सम्मान भी बहुत था। उन दिनों मुझे जानने वाले लोग उस जगह में बहुत थे। मैं एक कार्यक्रम के सिलसिले में मऊनाथ भंजन गया था, उसी दौरान मेरी पहली मुलाकात शिवमूर्ति जी से हुई। मुझे पहली ही मुलाकत में शिवमूर्ति जी ने बहुत प्रभावित किया।

उन दिनों जितने नये लेखक लिख रहे थे, उनमें से कुछ लेखकों को मैं जानता था। जिनमें शिवमूर्ति, संजीव, धीरेन्द्र अस्थाना, केशव, राजकुमार गौतम, बलराम और मनीष राय यादव आदि थे। इन्हीं में से कुछ लोगों ने मिलकर मऊ में एक कार्यक्रम किया। तब तक शिवमूर्ति जी से मेरी कोई मुलाकात नहीं हुई थी। हम लोग उस समय नये-नये थे, तो आयोजनों-कार्यक्रमों में शामिल होने के लिए उत्साहित भी रहते थे। कहीं कोई किसी कार्यक्रम बुलाये तो चले जाते थे। उस दौरान मैं प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ा गया था। इन लोगों ने मुझे भी एक कार्यक्रम में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। मैं उस कार्यक्रम में शामिल होने के लिए चला गया। उस कार्यक्रम में मैं मुख्य अतिथि था। इस कार्यक्रम से पहले एक आयोजन शिमला में हुआ था। शिमला में मेरी पहली मुलाकात इन सब नये लेखकों से—बलराम, संजीव, केशव से हुई थी। शिवमूर्ति का ध्यान नहीं आता कि उनसे शिमला में पहली मुलाकात हुई थी भी या नहीं।

बलराम सबका नेतृत्व कर रहे थे। बलराम ने कहा कि 'आठवें दशक के लेखकों की एक यूनिटी होनी चाहिए। यह योजना शिमला में बनी थी। केशव पहले कवि हुआ

करते थे लेकिन बाद में कथाकार हो गए। उन्हीं के कविता-संग्रह का विमोचन होना था। कार्यक्रम में वक्ता उनके विरोध में बोल रहे थे और वहाँ स्थिति यह थी कि केशव के परिवार के लोग भी मौजूद थे। उनके पिता जी थे, उनकी पत्नी थी। वहाँ बड़ी अजीव-सी स्थिति हो गई थी। मैंने हाथ उठाकर कहा, "मैं कुछ बोलना चाहता हूँ।" केशव की कविता-संग्रह लेकर मैं मंच पर चढ़ा। उस संग्रह में एक कविता थी शिमला पर 'शिमला की रात' शीर्षक से। मैंने कहा, 'मैं कुछ बोलूँगा नहीं, सिर्फ एक कविता का पाठ करूँगा।' मंच पर जब मैंने कविता पढ़ी तो उस पाठ को सुनकर पूरे हॉल में सन्नाटा फैल गया। फिर एक भी स्वर केशव के विरोध में कोई बोलने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। संभवतः शिमला कार्यक्रम में मेरा यही रुख देखकर मुझे मऊनाथ भंजन वाले कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया था। कार्यक्रम में मुझे और बलराम को बुलाया गया था। बलराम उन दिनों दिल्ली में और मैं बनारस में था। 'धार्मिक सद्भाव' पर हमें बोलना था। उन दिनों बनारस, मऊ तथा उसके आसपास के इलाके में हिन्दू-मुस्लिम टकराव चल रहा था। मेरे भाषण देने के बाद बलराम जी को भाषण देना था। लेकिन उन्होंने भाषण दिया ही नहीं, सिर्फ इतना ही कहा कि इतने अच्छे व्याख्यान के बाद मैं और क्या कहूँ?' इतना कह कर वे चुप हो गए। मेरे भाषण के बाद जितनी तालिया बजीं, उससे कहीं ज़्यादा तालियाँ बलराम के कथन पर बजी थीं। कार्यक्रम खत्म होने के बाद मैं शिवमूर्ति के घर रात में रूका। शिवमूर्ति के घर में मैंने यह अनुभव किया कि इनकी पत्नी, इनकी बड़ी बेटी रेखा ने मुझे बहुत सम्मान दिया है। उनके घर पर एक पल के लिए भी मुझे परायापन महसूस नहीं हुआ था।

शिवमूर्ति जी में मित्रता और साथ निभाने में ग़ज़ब की महारथ हासिल है। अपने मित्रों की मदद दे लिए वे हर समय उपलबध रहे हैं। उन दिनों भी उन्होंने अपने मित्रों की खूब मदद की। जब कहीं दूसरी जगह उनका स्थानान्तरण होता, जाने से पहले वे अपना बहुत सारा समान लोगों तथा मित्रों में बाँट कर चले जाते थे। एक बार अपना स्कूटर संजीव जी को देकर चले गए। इसी से आप अंदाजा लगा सकते हैं कि उन्हें अपने सामानों के प्रति कभी मोह नहीं रहा। इसी को वेदांत में 'त्याग' कहा गया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि शिवमूर्ति जी एक 'त्यागी' लेखक हैं। यह एक बहुत बड़ा कारण है कि मैं इनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ। यानी पहले इनके व्यक्तित्व ने मुझे प्रभावित किया और बाद में इनके साहित्य ने।

फिर इनके साहित्य को मैंने पढ़ा। 'कसाईबाड़ा', 'तिरिया चरित्तर', 'सिरी उपमा जोग' कहानियाँ जब मैंने पढ़ी तो उन कहानियों को पढ़ कर अजीब-सी अनुभूति हुई। मुझे लगा कि हमारे बीच एक ऐसा लेखक है जो गाँव का जीवन, वहाँ की समस्याएँ, वहाँ की संस्कृति, वहाँ की भाषा बोली, वहाँ की अनुभूतियों को इतनी गहरायी के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनके साहित्य में ये सारी चीज़ें भरी पड़ी है।

उस ज़माने में फोन वग़ैरह होते नहीं थे। पत्र-व्यवहार का मामला था। हम दोनों में पत्र-व्यवहार भी खूब हुआ। हम दोनों के परिवारों में इतना आन्तरिक सम्बन्ध हुआ

कि हम लोग पारिवारिक मित्र बन गए। ऐसी मित्रता के काल को मैं स्वर्णयुग कहता हूँ। ऐसी मित्रता का स्वर्ण युग नयी कहानी के दौरान था। कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश की ऐसी ही मित्र मंडली थी, जो आठवें दशक आते-आते खत्म हो गई। पुनः एक नयी मित्र मंडली बनने लगी थी। हमारी मित्रता सिर्फ साहित्यिक नहीं थी, पारिवारिक भी थी।

यह वह समय भी था जब प्रगतिशील आंदोलन, जो ठंडा पड़ गया था, वह अचानक तेज़ हो गया। एक बार शिवमूर्ति ने फिर मऊनाथभंजन में एक कार्यक्रम का आयोजन किया। मुझे आने के लिए कहा तो मैंने शर्त रख दी कि यदि प्रगतिशील लेखक संघ के बैनर तले आप कार्यक्रम करेंगे तभी मैं आ पाऊँगा, वरना नहीं आऊँगा। शिवमूर्ति ने मना कर दिया कि हम ऐसा नहीं कर सकते। हालाँकि बाद में शिवमूर्ति जी ने मुझे बता दिया था कि यह उनकी दिक़्क़त नहीं थी, बल्कि उनकी मंडली की दिक़्क़त थी। शिवमूर्ति जी ने मुझसे विशेष आग्रह किया कि और भी तमाम लोग हैं जो इस बैनर के नाम पर नहीं आयेंगे। बैनर दूसरा होगा लेकिन आपका आना बहुत जरूरी है।

तब मैं गया था। लेकिन उस दौरान हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया था। इसलिए कार्यक्रम मऊ में नहीं, बल्कि कोपागंज में हुआ था। एक घर की छत पर। उस कार्यक्रम में सी. पी.आई. के झारखण्डे राय साहब भी आए थे।

शिवमूर्ति जी का परिवार जब दिल्ली आया। वे अपनी पत्नी के साथ मेरे घर आए। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनकी पत्नी मेरे लिए गुड़ और आचार लेकर आयी थीं। मैं उनके घर जब कभी खाना खाया तो खाने के बाद गुड़ माँगता था। यह बात उन्हें हमेशा याद रहती थी। दूसरे अन्य लेखक मित्रों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध नहीं बन पाये। हमारी मित्र मंडली में सबसे अधिक संघर्षशील लेखक कोई था तो वह संजीव था। सभी के पास नौकरी थी। संजीव के सामने बहुत सारी समस्याएं थीं। शिवमूर्ति जी ने संजीव की खूब मदद की।

एक बार प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन जयपुर में हुआ। उस समय प्रलेस के सचिव से मैंने पूछा कि एक लेखक मित्र को मैं लाना चाहता हूँ, जो प्रलेस का सदस्य नहीं है, उन्होंने हाँ में उत्तर दिया। मैंने शिवमूर्ति जी से कहा कि प्रलेस के जयपुर अधिवेशन में आप मेरे साथ चलिये। उन्होंने मुझसे कहा कि आप किस हैसियत से मुझे आमन्त्रण दे रहे हैं। मैंने कहा, "उत्तर प्रदेश प्रलेस का सचिव'' आपको आमंत्रण दे रहा है। (उस समय उत्तर प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ का मैं उत्तर प्रदेश का सचिव बनाया था। अब तो अली जावेद के ज़माने में प्रलेस की सूची में से मेरा नाम ही ग़ायब है) हम दोनों जयपुर गए। तीन दिन का आयोजन था। वे मऊ से दिल्ली आये और दिल्ली से एक दोनों साथ जयपुर गए। मैंने वहाँ जाकर कहा कि मैं एक लेखक को लेकर आया हूँ। उनकी कुछ भूमिका तय कीजिए। उनका वक्तव्य आदि भी रख दीजिए। लेकिन उन तथाकथित प्रगतिशील लेखकों ने साफ़ मना कर दिया। नतीजा निकला कि उन्हें कोई अवसर नहीं दिया गया। इस घटना के कारण पहले तो मैं शर्मिंदा हुआ लेकिन बाद में

मैंने इसका बदला भी चुका लिया। अंतिम दिन कार्यक्रम होना था। कवियों की सूची में मेरा नाम था, लेकिन मैं कवि सम्मेलन में शामिल नहीं हुआ।

हाल ही में मैं लखनऊ गया था। मैं वहाँ एक कार्यक्रम था, 'लेखक से मिलिए।' वहाँ शिवमूर्ति जी भी आए थे। वे सामने दर्शकदीर्घा में बैठे थे। मैंने उन्हें अपने बगल वाली कुर्सी में बैठने के लिए कहा, "वे आए।"

मैंने कहा, "सवाल मुझसे नहीं, इनसे पूछिए।"

मुझसे पूछे गए सवाल का जवाब शिवमूर्ति जी दे रहे थे। वहाँ बैठे श्रोताओं को मेरी एक कविता शिवमूर्ति जी ने सुनाई, जो उन्हें कण्ठस्थ याद थी। अब आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि हमारे बीच कितना घनिष्ठ सम्बन्ध आज तक कायम है। मुझे उम्मीद है, यह रिश्ता भविष्य में भी बना रहेगा।

शिवमूर्ति मेरे भाई हैं, मेरे मित्र हैं, मेरे परिवार के सदस्य हैं। शिवमूर्ति और मैं—दोनों एक हैं।

शीर्ष कथाकार। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास से ख्याति। छः उपन्यास, पाँच कहानी-संग्रह, पाँच कविता-संग्रह तथा तीन आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित। जामिया मिल्लिया इस्लामिया केन्द्रीय विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत।
सम्पर्क : 29 मुजीब बाग, जामिया नगर, नई दिल्ली-110025
मोबाइल : 09811306331

जयनन्दन

वो जो आपसे झुक कर मिलता होगा

अभी-अभी यानी 13 नवम्बर, 2013 को लखनऊ से कथाक्रम सम्मान के साथ ही शिवमूर्ति भाई के सान्निध्य की बेशकीमती थाती लेकर लौटा हूँ। कथाक्रम समारोह की व्यवस्था में एक रात रहा और शिवमूर्ति जी के घर तीन रातें। यह धारणा एक बार और पुष्ट हुई कि साहित्यिक सम्बन्ध खून और जाति की सभी रिश्तेदारियों से कहीं ज्यादा आत्मीय और घनिष्ठ होता है। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस तरह की खातिरदारी मेरे बहुत करीबी रिश्तेदार ने भी मेरी कभी की हो। इस यात्रा में शिवमूर्ति भाई के घर, परिवार और गाँव की जो अविस्मरणीय यादें जेहन में दर्ज होकर साथ चली आयी हैं, उनके पन्ने मैं इस पत्री के अन्त में पलटूंगा।

शिवमूर्ति जी से मेरी पहली मुलाकात 1991 में हुई, जब तुलसी भवन में मेरे संयोजन में आयोजित कथा-मंथन 91 में वे जमशेदपुर आये। उनके साथ संजीव, संजय, दिनेश कुशवाह आदि भी थे। इस समय तक उनकी सारिका और धर्मयुग में प्रकाशित कहानियाँ 'सिरी उपमा जोग', 'केशर कस्तूरी', 'भरतनाट्यम', 'कसाईबाड़ा' आदि उन्हें शिखर की ख्याति दे चुकी थीं। जमशेदपुर की रंगकर्म की सुप्रसिद्ध संस्था 'अभिसारिका' अखिल भारतीय लघु नाट्य प्रतियोगिता के समापन समारोह में प्रदर्शनी मॉडल नाटक के तौर पर उनकी कहानी 'कसाईबाड़ा' का विशिष्ट मंचन कर चुकी थी, जिससे वे यहाँ के बुद्धिजीवी समाज में एक सुपरिचित नाम हो चुके थे। आगे भी इस शहर के कई मंचों से मेरे द्वारा नाट्य रूपांतरित 'भरतनाट्यम' कई बार मंचित होती रही।

इस मुलाकात के बाद अगर मैं ठीक याद कर रहा हूँ तो उनसे दूसरी मुलाकात इलाहाबाद में हुई जब मैं एक स्थानीय नाट्य संस्था के साथ वहाँ हर साल आयोजित होने वाली एक बहुत बड़े स्तर की राष्ट्रीय नाट्य-प्रतियोगिता में भाग लेने पहुंचा। उन

दिनों शिवमूर्ति भाई इलाहाबाद में ही पोस्टेड थे। उन्होंने हमारे तीन दिनों के प्रवास में हमारी पूरी टीम का इस तरह सत्कार किया जैसे हम वर्षों से उनके बेहद अभिन्न और घनिष्ठ रहे हों। हम झेंपते रहे और वे निर्द्वन्द्व भाव से हमें मान देते रहे। वे जीप से हमें कई जगह त्रिवेणी संगम और नेहरू बाल भवन आदि घुमाने ले गये, साथ ही ख्यातिलब्ध कथाकार अमरकांत और शेखर जोशी से उनके घर ले जाकर उनसे मिलने का अवसर भी उपलब्ध करवा दिया। टीम में मेरे साथ रंग अभिनेत्री मीरा जायसवाल और रंग निर्देशक अवतार सिंह भी थे। दोनों उनकी सरलता और भोलेपन को इस कदर कायल हो उठे थे कि लौटती में भर रास्ते उनकी प्रशंसा करते नहीं थक रहे थे। आज भी जब वह प्रसंग छिड़ता है तो मीरा और अवतार उन्हें किसी देवदूत की तरह याद करते हैं।

शिवमूर्ति भाई उन्हीं दिनों 'त्रिशूल' उपन्यास को मांज-संवार रहे थे। उन्होंने उसका एक हस्तलिखित ड्राफ्ट हमें भी पढ़ने दिया और कहा कि इस पर कोई सुझाव-सलाह हो तो पीछे के लगे सादे पन्ने में लिख दें। हम अचम्भित रह गये उनकी इस सहजता पर कि एक सिद्ध कथाकार के तौर स्थापित व्यक्ति एक जूनियर टाइप लेखक और लेमैन टाइप लोगों से अपनी कहानी पर टिप्पणी के लिए आग्रह कर रहा है। कहानी को पूर्ण और सशक्त बनाने की उनकी इस निर्विकार कोशिश ने गोया मुझे यह पाठ पढ़ा दिया कि चीजों को साधने की प्रक्रिया में कोई सी भी राय तुच्छ नहीं होती।

इसके बाद शिवमूर्ति भाई से मेरी कुछ मामूली मुलाकातें संगमन के आयोजनों में होती रहीं। अहमदाबाद और सारनाथ में उनके भाषणों का प्रभाव मैं अब भी महसूस कर सकता हूँ। अब तक वे एक दिलचस्प और हास्यमिश्रित आशु वक्ता के तौर पर लेखक साथियों के दिलों में समा चुके थे। सभा अगर नीरस और ऊबाऊ होने लगे तो माइक शिवमूर्ति भाई को थमा दीजिए। ऊँघने वाले लोग चुटीले और रोचक वातावरण में बिहंसने लग जायेंगे। जनवरी 2012 में महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा वर्धा में आयोजित कथा परिसंवाद में उन्हें सुनने का मौका मिला। इसमें उनके भाषण के क्रम में की गयी कुछ टिप्पणियाँ मुझे अब भी याद है। उन्होंने कहा कि गरीबी की सीमा रेखा होती है, लेकिन अमीरी की कोई रेखा नहीं होती। गरीब रात-दिन मेहनत करता है, पसीना बहाता है, फिर भी उसका पेट नहीं भरता। अमीर आदमी वातानुकूलित कमरे में रात में सोया होता है, फिर भी उसके शेयर का भाव बढ़ता रहता है। मतलब अमीर सोया हुआ हो फिर भी उसकी अमीरी बढ़ती रहती है। अब समय आ गया है कि अमीरी की सीमा तय करिये। वर्धा में ही फरवरी 2013 में कथा समय दो में हिन्दी मीडिया और पत्रकारिता पर एक सत्र चल रहा था, जिसमें विजुअल मीडिया के कुछ दिग्गजों के साथ शिवमूर्ति जी भी मंच पर आसीन अध्यक्षता कर रहे थे। उन्हें कहीं जाना था, इसलिए बारी आने से पहले उन्होंने अपना अध्यक्षयी भाषण देकर मंच छोड़ दिया। उन्होंने अपने गुदगुदाने वाले अंदाज में गाँव और किसानों के कई ऐसे चुभने वाले प्रसंगों की चर्चा कर दी, जिन पर मीडिया प्रायः आँख मूंदे रहती हैं। बार-बार तालियाँ बजी, उनके प्रभावशाली

भाषण के आगे कई आत्ममुग्ध वक्ता खुद को बौना और फ्लाप महसूस करते हुए चिढ़ से गये और किसी चैनल का कोई हेड दोबारा उठकर कहने लगा कि एक गंभीर विषय को शिवमूर्ति ने फूहड़ मजाक़ में तब्दील कर दिया। श्रोताओं में बैठे कई लेखकों द्वारा इस प्रलाप का मुखर विरोध हो उठा और उस चैनेल हेड को चुप हो जाना पड़ा।

मेरे एक कहानी संग्रह 'सन्नाटा भंग' की शिवमूर्ति जी ने 1994 के सितम्बर माह के हंस में समीक्षा लिखी थी। उन्होंने लिखा कि जयनंदन विषय वैविध्य के मामले में बहुत संपन्न हैं लेकिन वे उनका पूरा दोहन नहीं करते और मोती को मानो माटी के मोल लुटा देते हैं। उनके इस दृष्टिकोण को मैंने एक अचूक नुस्खे की तरह गाँठ में बाँध लिया और फिर यहीं से कहानी लिखने का मेरा तरीका बदल गया।

2006 में मैंने जमशेदपुर में संगमन का आयोजन करवाया। इस आयोजन में मेरे सामने उन्हीं के एक समकालीन और संगमन संचालकों में से एक से उनकी एक बहुत अदना सी बात को लेकर अप्रिय तकरार हो गयी। संचालक जी गुस्से में तमतमाकर वहाँ से लौटने लगे। बात सिर्फ इतनी सी थी कि दोपहर का भोजन प्रेक्षागृह के बाहर लग चुका था और सत्र था कि खत्म ही नहीं हो रहा था। शिवमूर्ति जी का कहना था कि जब तक सत्र खत्म न हो, खाना शुरू करवाना उचित नहीं होगा जबकि संचालक साथी शुरू करवा देने के पक्ष में थे। दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठीक थे और बात इतनी भी कड़वी नहीं हुई थी कि रोष दिखाया जाये और शत्रुभाव लेकर वहाँ से मुँह फेर लिया जाये। कह-सुनकर साथियों ने उन्हें तो मना लिया लेकिन शिवमूर्ति जी की हतप्रभ भंगिमा देखकर मुझे लगा था कि अब वे अगले संगमन से निश्चय ही कन्नी काट लेंगे। लेकिन मैं गलत साबित हुआ जब उन्होंने निस्पृह भाव से अगले ही नहीं बल्कि कई अगले तक संगमन के प्रमुख संयोजकों के तौर पर खुद को जोड़े रखा। अब जब वे नौकरी से अवकाश प्राप्त कर गये हैं तो संगमन में सक्रियता से उन्होंने विराम ले लिया है।

कथाक्रम सम्मान के लिए मेरे नाम के चयन की सूचना जब शैलेन्द्र सागर जी ने दी तो ट्रेन में रिजर्वेशन कराने का समय पर्याप्त नहीं था। चूँकि आजकल तीन माह पहले की तारीख शुरू होते ही तीन-चार दिनों में सारी सीटें फुल हो जाती हैं। खासकर शुक्र, शनि और रवि के दिन तो सबसे पहले बुक हो जाते हैं। लखनऊ के लिए टाटा नगर से नित की कोई ट्रेन नहीं है। अतः मुझे जो कंफर्म टिकट मिला वह समारोह की तारीख से दो दिन पहले जाने का और तीन दिन बाद आने का था। मैं चिंता करने लगा कि समारोह के पहले जाकर और समारोह के बाद रुककर कहाँ रहूंगा और क्या करूंगा। इसी बीच शिवमूर्ति जी से लगातार फोन पर बातें होती रहीं। मेरे आने-जाने की ट्रेन, समय, तारीख आदि के बारे में उनका पूछना मुझे छू जाया करता था। मेरे भीतर वह शेर कौंधा जाता था कि ''वो जो आपसे झुक कर मिलता होगा, उसका कद आपसे बड़ा होगा।''

उन्होंने बताया कि समारोह खत्म होने के बाद उनके गाँव कुरंग जाने का कार्यक्रम कुछ अन्य लेखक साथियों ने बनाया है, जिनमें मैं भी रह सकता हूँ। मुझे तो मानो मुँह

माँगी मुराद मिल गयी। उनके संस्मरणों और उनकी कहानियों को पढ़कर एक बार उनके गाँव देखने की इच्छा कब से मन में पल रही थी। तो लो हो गया - जो रोगी चाहे वही वैद्य फरमाये। अब सवाल था आगे के दो दिन का। मेरी जाने वाली ट्रेन कानपुर में ही मुझे छोड़ने वाली थी। शैलेन्द्र जी ने मुझे कह दिया था कि उनकी व्यवस्था 8 नवम्बर की शाम से शुरू होगी। मैंने प्रियंवद जी से बात की। उन्होंने बड़े खुले हृदय से अपनी दोनों बाहें फैला दी कि मैं कानपुर उतरकर सीधे उनके घर आ जाऊँ। समारोह के दिन 9 की सुबह वे लखनऊ भेजने की व्यवस्था कर देंगे। मैं इसी लाइन पर अपना मन बना चुका था, तभी शिवमूर्ति जी का फोन आ गया और एक बार फिर अपनी दरियादिली से मुझे पामाल कर दिया। उन्होंने कहा कि अगर कानपुर ठहरने में मुझे आसानी और सुविधा हो रही हो, तो मैं बेशक ठहर जाऊं, अन्यथा लखनऊ आकर उनके घर में ठहरा जा सकता है। वे स्टेशन में लेने के लिए गाड़ी भेज देंगे। मैंने प्रियंवद जी को इत्तिला कर दी कि मैं सीधे लखनऊ ही जा रहा हूँ।

कानपुर में उतरने के बाद से लोकल पकड़कर लखनऊ आने तक उनका फोन लगातार आता रहा। कार का नम्बर और ड्राइवर का मोबाइल नम्बर उन्होंने मुझे एसएसएस कर दिया। इस तरह गोमती नगर के विकासखंड स्थित उनकी कोठी 'सबद' तक पहुंचने में तिल भर दिक्कत नहीं हुई। वहाँ पहुँचते ही उनकी प्यारी लारा ने पुरजोर भौंक कर मेरा स्वागत किया। किसी भी बाहरी व्यक्ति के घर में आने पर लारा को अंदर के किसी कमरे में बंद करना होता है, तभी कोई अंदर प्रवेश कर सकता है। लारा परिवार के अलावा किसी भी बाहरी को स्वीकार नहीं करती। मेरे पाँच दिनों के लखनऊ प्रवास का ज्यादा समय यहीं गुजरा। शिवमूर्ति भाई बिल्कुल साथ लगे रहे। बीच-बीच में संजीव भाई भी आते-जाते रहे। उनकी पीठ में इस कदर असह्य दर्द था कि उन्हें चलने-फिरने तक में भारी दिक्कत हो रही थी। इस अवस्था में भी वे कथाक्रम समारोह में शामिल रहे। शिवमूर्ति जी के भी दाँत में दर्द था। लेकिन कहीं से भी हँसी-मजाक और बोलने-बतियाने में कोई कमी नहीं हो रही थी। संजीव और शिवमूर्ति आपस में बेहद बेतकल्लुफ हैं। हर तरह के गपशप और व्यंग्य-कटाक्ष कर लेते हैं। संजीव भाई का वहाँ होना और उनका वार्तालाप मेरे लिए बोनस जैसा हो गया।

एक रात 11 बजे जब हम सभी सोने की तैयारी कर रहे थे, तभी लारा के भौंकने के उपरांत गेट खुलवाकर शिवमूर्ति जी अपने साथ एक ऐसे आदमी को लेकर आये जो देह-दशा और पहनावा-ओढ़ावा में बहुत ही गँवई, मामूली और अनाड़ी जैसा था। पता चला वह मोकामा के पास के एक गाँव का किसान है, जो शिवमूर्ति जी की कहानियों का दीवाना है। अपने प्रिय लेखक से मिलने की तलब रोक नहीं पाया और ट्रेन में टपला खाता हुआ तथा गोमती नगर में काफी भटकता हुआ जैसे-तैसे चला आया। इस अयाचित मेहमान के अचानक टपक पड़ने से हम सकते में घिर गये। लेकिन शिवमूर्ति जी ने बजाब्ता उसे अपने घर में जगह दी, खाना खिलाया और अगले दिन कथाक्रम समारोह में भी ले गये। दाँत दर्द के कारण जब वे शाम को चले आये तो मंगलम रेस्टोरेंट की पार्टी में

उसका खयाल रखने का जिम्मा मुझे और संजीव भाई को सौंप दिया। बेरंग और बेमेल से दिखने वाला वह आदमी पूछने पर कई कहानीकारों की चर्चित कहानियों का जिक्र कर गया। शिवमूर्ति जी ने अगले दिन उसे राकेश कुमार सिंह और अनंत कुमार सिंह के साथ लगा दिया, ताकि वे श्रमजीवी एक्सप्रेस से पटना तक लेते जायें।

लखनऊ से सुल्तानपुर होते हुए उनका गाँव कुरंग 145 किलोमीटर है। 9 नवम्बर को यूनिवर्सिटी गेस्ट हाउस में एक रात बिताकर 10 नवम्बर को अपराह्न 2 बजे समारोह खत्म होने के बाद हम फिर से शिवमूर्ति जी के साथ उनके घर आ गये। शिवमूर्ति जी का गाँव दिखाने का लोभ जगाकर मैंने राकेश मिश्र को भी अपने साथ कर लिया। हालांकि वह मन से तैयार नहीं था। चूँकि लखनऊ के उसके कुछ हमउम्र दोस्तों द्वारा आयोजित शाम की रसरंजन गोष्ठी पर उसका ध्यान अटका हुआ था। खैर राकेश की तलब को देखते हुए यह गोष्ठी हमने शिवमूर्ति जी के घर में ही कर ली और आज की जगह कल सुबह कुरंग चलने का विचार बना लिया।

सुबह आठ बजे चले तो साढ़े ग्यारह बजे हमलोग पहुंच गये। रास्ते में वे हमें बताते गये कि कौन सी सड़क अयोध्या जाती है....कौन सी बनारस। सुल्तानपुर के उस विद्यालय की ओर भी इशारा किया जहाँ से उन्होंने स्नातक की पढ़ाई पूरी की। उन्होंने बताया कि संजीव जी का घर मेरे घर से महज 85 किलोमीटर दूर है। अखिलेश का घर भी इसी सुल्तानपुर में आसपास है। मैंने महसूस किया कि सुल्तानपुर की मिट्टी सचमुच कितनी धन्य है जिसने न सिर्फ नवाबों सुल्तानों को पाला पोसा बल्कि संजीव, शिवमूर्ति और अखिलेश जैसे विलक्षण कथाकार भी पैदा किये।

शिवमूर्ति जी ने अपने घर को एक फार्म हाउस की शक्ल दे दी है। हालांकि मिट्टी के अपने पुराने घर को अभी भी उन्होंने महफूज रखा है। मुख्य सड़क से होते हुए इनके घर तक सी.सी. सड़क है जो खास इनके ही आने जाने के लिए है। कार सीधे उनके घर के अहाते के भीतर तक दाखिल हो जाती है। यह सड़क न बने, इसके लिए उनके एक निकटतम पड़ोसी ने अड़चनों के अनगिनत बारूद बिछाने में कोई कमी नहीं की। पता चला कि उसी गाँव के एक व्यक्ति ने उन्हें किशोर उम्र में अपहरण करके बर्बाद करने की कोशिश भी की थी। लेकिन शिवमूर्ति जी बचपन से ही मानो जीवटता और साहस की प्रतिमूर्ति रहे। सड़क बनने से रोकवाने के लिए अदालती आदेश भी काम न आया। स्टे आने के पहले रातोंरात उनके मित्रों-शुभचिंतकों ने ईंटें बिछाकर सड़क के अस्तित्व को साकार कर दिया। चार-पाँच साल पहले वह सड़क कंक्रीट की बन गई। ऐसी ही एक जोर आजमाइश उनके एक और पड़ोसी ने घर की चारदीवारी बनाने के समय की थी। वे लखनऊ के कोर्ट में न्यायिक दंडाधिकारी और जाति से ठाकुर साहब थे। बहुत चाहकर भी वे अपने रसूख और जातीय दंभ का रोड़ा अटका न सके। यहाँ भी गाँव में उनके चाहनेवालों ने उनका पूरा साथ दिया और मुकम्मल चारदीवारी की तमाम ईंटें रोक लगाने वाले अधिकारी के पहुँचने के पहले जोड़ दी गयीं। कहते है सच्चाई प्रथम दृष्ट्या भले ही हारती हुई प्रतीत होती है लेकिन अन्ततः वह विजयी होती है, जिसमें ब्रह्मांड

की कई अदृश्य ताकतें साथ दे जाती हैं। तमाम विरोधियों के बीच एक अकेले शिवमूर्ति जी ने अपना किला खड़ा कर लिया और फिर देखिए विधान कि जो कल तक विरोधी थे, आज दोस्त हो गये।

अपने मधुर बर्ताव, चुंबकीय मिलनसारिता, विनम्र सद्भावना, दिल लुभावन बोलचाल, हर तरह की मदद करने की अपनी उत्साहजनित तत्परता, गाँव के चरित्रों को रच रचकर उन्हें शाश्वत आयु दे देने की अपनी सृजनशीलता, शोषितों, दलितों तथा उपेक्षितों के प्रति अपनी पक्षधरता और पूरे गाँव को साहित्यिक मानचित्र पर स्थापित कर देने के अपने कौशल की बदौलत जातीय हिकारत को औकात बताकर शिवमूर्ति भाई सबके चहते और गौरव के केन्द्र बन गये। मैं खुद गाँव से आता हूँ और मैंने देखा है कि कितनी गाँठें होती है लोगों के मन में। भेदभाव, जलन, हिकारत और तिरस्कार के कितने-कितने परकोटे खड़े होते हैं जगह जगह पर। वे आपको स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। ऊपर उठने की आपकी कोशिश उन्हें उनके अधिकारों पर दखलंदाजी लगती है। लेकिन कुरंग में तो मानो शिवमूर्ति जी ने ये सारे विषैले और सड़ांधभरे मनोभावों के खर पतवार को अपने तप और तेज की आँच में सुखाकर उसकी जगह प्रेम, आत्मीयता और भाईचारे की उन्नत फसलें बो दी हैं, जिसे हम आज साक्षात लहलहाते हुए देख रहे हैं। गाँव में अब शायद ही कोई बचा हो जो एक तेजस्वी, मेधावी, सशक्त और अति पठनीय कहानीकार के तौर पर उनकी सफलता और ख्याति का प्रशंसक और कायल न हो गया हो।

शिवमूर्ति जी ने गाँव आने की सूचना भिजवा दी थी। हम कार से उतरकर उनके घर के अहाते का नजारा करने लगे। देखते ही मन मुदित हो उठा। इतना सुसंस्कृत और शालीन रख-रखाव, जैसे किसी प्रोफेशनल टच से संवारा गया हो पूरा अहाता। पता चला कि सारा कमाल सरिता भाभी का है। चार दिन पूर्व मैं जब गोमती नगर स्थित उनके घर पहुँच रहा था तभी वे फूलों की अनेक प्रजातियों के ढेर सारे पौधों लेकर गाँव के लिए कूच रही थीं। वे यहाँ आती रहती हैं और अपनी देख-रेख में इनकी सलामती कायम रखती हैं। अहाते में दर्जनों प्रकार के फल-फूल की क्यारियाँ हैं और एक खाते-पीते किसान की जरूरत वाले सारे साजो-सामान भी। ट्यूबवेल, पोखरी, दूध देने वाली गाय, भैंस, गोहाल घर, चारा काटनेवाली मशीन, खलिहान। भूरे से रंग की बंधी पहली बियान की उन्नत नस्लवाली गाय और मासूम सी सद्यःबियाही बछिया उसके थन में चिपकी हुई जैसे किसी बड़े चित्रकार की पेंटिंग का आभास दे रही हो। पास ही एक और बूढ़ी हो चली गाय खूँटे से बंधी सामने की नाद में मुँह घुसाकर सानी चुभला रही है। अहाते से ही लगा हुआ आठ-दस बीघे का एक बड़ा सा प्लॉट है जिसमें धान की पकी फसल कुछ कट चुकी हैं, कुछ कटने वाली हैं। खलिहान में इनकी दौनी भी हो रही हैं। प्लॉट के एक किनारे आलू, बैगन, मूली, गोभी आदि अनेक शीतकालीन सब्जियों के बिरवे लहलहाते हुए। अहाते के एक किनारे शिवमूर्ति जी के पिता, जो साधु बन गये थे, की समाधि बनी हुई। उनके नाम का शिलापट स्मारक में लगाये जाने के लिए पार्श्व में रखा हुआ।

अहाते का भ्रमण पूरा होते होते दनादन चार-पाँच मोटरसाइकिलें आ गयीं, जिनसे

आनेवाले लोगों से हमारा परिचय कराया गया। सारे के सारे शिवमूर्ति जी के घनघोर कद्रदान। माताफेर सिंह दीपक, जो ठाकुर परिवार से हैं। गाँव में रहकर गाँव की ही आवोहवा से एक दैनिक अखबार 'भेंटवार्ता' निकालते हैं। शिवमूर्ति जी इनके गुरु रहे हैं। वंचितों के ये बहुत बड़े हितैषी और प्रवक्ता हैं। अपने गोतिया-दियाद की मनमानी और जोर-जबर्दस्ती के खिलाफ भी वे दलित हितों के पक्ष में तनकर खड़े रहते हैं। रामसुख सिंह जो शिवमूर्ति जी के सहपाठी रहे हैं। इनके पास अतीत की यादों का पिटारा संरक्षित है। 11 किलो वजन की फूलगोभी उगाने का इन्होंने एक रिकॉर्ड बनाया है। यादों के पन्ने जब पलटने लगे तो बिना रुके लोक कहावतों, कविताओं और किस्सों की झड़ी लगा दी। अपनी स्मरण शक्ति, हाजिरजवाबी और धाराप्रवाह किस्सागोई की विरल क्षमता के बूते वे इस गाँव के एक अजीम शख्सियत हैं। विनोद कन्नौजिया जो जिला कांग्रेस कमिटी के सचिव तथा जिला पंचायत के पूर्व सचिव हैं, दलित जातियों के उद्धार के लिए प्रतिबद्ध रहते हैं। वनमानुष समाज के सूर्यबली और पाल विकास संस्थान, अमेठी के अध्यक्ष राजित रामपाल गाँव में होनेवाले अत्याचार और अन्याय के खिलाफ अहर्निश लड़ने वाले चेहरे हैं। राजित ने ईंट-गारा ढोकर बड़े संघर्ष से एल.एल.बी. की पढ़ाई पूरी की है। लोकगीत के मंडली चलाने वाले गायक रामसुंदर पाल बगल के गाँव के रहने वाले हैं और शिवमूर्ति जी की साख और छवि से अभिभूत हैं। सुल्तानपुर शहर के शास्त्रीनगर के सोमेश शेखर चन्द्र, जिन्होंने गाँव की पृष्ठभूमि पर एक उपन्यास 'गँवई गंध-गुमान' शीर्षक से लिखा, गाँव के दबे-कुचले लोगों के जीवन में व्याप्त विसंगतियों और विद्रुपताओं की जड़ों की पड़ताल करने तथा उनके समाधान ढूँढ़ने में खुद को रमाये रखते हैं।

हम कुरंग में दो ढाई घंटे ही रुक पाये और इसका अफसोस रहा कि शिवमूर्ति जी की प्रथम प्रेयसी शिवकुमारी एवं गाँव की गलियों में घूमते हुए इनकी कथा नायिकायें सनीचरी और बिमली आदि से भेंट नहीं कर पाये। अपने गाँव ही नहीं बल्कि पूरे जवार में शिवमूर्ति जी ने एक जन नायक की तरह जो लोकप्रियता हासिल की है, वह बेमिसाल है। खासकर मेरे जैसों के लिए जिसे दायें, बायें और ऊपर-नीचे के फ्लैट में रहने वाले भी शायद लेखक के रूप में नहीं जानते। शिवमूर्ति भाई के स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन करें तो लगता नहीं कि वे इस युग के आदमी हैं। ऐसा लगता है कि रामराज्य का कोई आदमी किसी वरदान के कारण अब तक जीवित रह गया और पास ही के अयोध्या से सरकता हुआ कुरंग गाँव में आ बसा।

प्रभावी कथाकार। कई कहानी-संग्रह प्रकाशित।
प्रतिष्ठित कथाक्रम सम्मान से सम्मानित।
सम्पर्क : एसएफ-3/116, बाराद्वारी सुपरवाइजर फ्लैट्स, साकची, जमशेदपुर-831001
मोबाइल : 09431328758

डी.एम. मिश्र

तरह-तरह के शिवमूर्ति

'मंच' पत्रिका-(शिवमूर्ति विशेषांक) में एक फोटो छपा था। इस फोटो में शिवमूर्ति अपने खेत में हल चला रहे हैं। फोटो देखने में था तो बड़ा सुन्दर। लेकिन, कुछ 'हरित-क्रान्ति' का विज्ञापन जैसा लग रहा था। खेतों में दूर-दूर तक हरी-भरी फसलें लहलहा रही थीं। बीच में एक गाटा खेत का खाली पड़ा था। शायद वह कभी एक बाँह जोता गया होगा। उसी के दूसरे बाँह की हरायी शिवमूर्ति फनाये थे। घुटने तक लुंगी लपेटे और नीले रंग की अध्धी पहने शिवमूर्ति खाँटी किसान लग रहे थे। यह कतई नहीं लग रहा था यह फोटो किसी 'पब्लिसटी' अथवा नामचीन पत्रिका की श्री-वृद्धि के लिए प्रयोजित है। फिर भी मेरे मन में एक सवाल बार-बार कौंध रहा था। इतना महान लेखक जिसका इतना नाम है और पेशे से जो एडिशनल कमिश्नर हैं वह हल क्यों जोतेगा? तभी एक घटना घटी और मेरा भ्रम स्वतः टूट गया। मेरी आशंका निर्मूल सिद्ध हुई साथ ही यह भी पक्का हो गया कि एक साक्षात्कार के दौरान जो बातें उन्होंने ओमा शर्मा से की थीं कि- 'मेरे यहाँ सिर्फ यथार्थ है' ('लमही' शिवमूर्ति विशेषांक) वह भी शत-प्रतिशत सही है। घटना कुछ यूँ घटी—एक दिन मैंने शिवमूर्ति जी को फोन किया। हाल-चाल जानने के लिए। पूछा- आप कैसे हैं? इन दिनों कहाँ हैं? 'हैलो' करके उन्होंने उत्तर दिया। बिल्कुल ठीक। कई दिनों से गाँव में ही हूँ। धान लगाया जा रहा है। मैंने फिर पूछा- कब तक रहेंगे? अभी चार-छः दिन लग जायेंगे- उधर से उत्तर मिला। हाँ, समय हो तो आ जाइये। मुलाकात हो जाय। तुरन्त मुझे मौका मिल गया। चलो देखा जाय जो शिवमूर्ति किसानी का बड़ा दम भरते हैं वह खुद उसमें कितना रमते-बसते हैं? मैंने पुष्टि के लिए फिर पूछा—मेरे पास तो समय ही समय है। क्या आपके पास है? बड़ी आत्मीयता से उन्होंने कहा—हाँ-हाँ, क्यों नहीं? आप आइये तो सही। समय निकल आयेगा। इसी में सब साथ-साथ चलता

है। हम खेत में करते ही क्या है?करने वाले तो दूसरे लोग हैं। मैंने तुरन्त ड्राइवर को बुलाया और 'कुरंग' के लिए निकल पड़ा जो सुलतानपुर शहर से मात्र पन्द्रह किलोमीटर है। तकरीबन ग्यारह बजे सुबह मैं उनके गाँव पहुँच गया। ड्राइवर ने गाड़ी रोककर उनके घर का रास्ता जानना चाहा। तभी सामने से एक बुजुर्ग आते दिखे। मैंने उन्हें रोककर पूछा- भाई साहब, शिवमूर्ति के यहाँ जाने का रास्ता किधर से है। वह चौंके। शायद उन्हें गाँव वाले शिवमूर्ति कहकर न पुकारते हों। फिर उन्होंने कुछ सोचा और कहा-आप कमिश्नर साहब को तो नहीं पूँछ रहे? हाँ उन्हीं के यहाँ जाना है। किधर से जायें? आइये हम ले चलते हैं। यही चकरोड उनके दुआरे तक जायेगा। मैंने उन्हें साथ गाड़ी में बैठा लिया। वह बताने लगे- अभी तो साहब मिलेगें नहीं। खेत में होंगे। हमारे साहब जैसे ही शहर से गाँव आते हैं शूट-बूट फेंककर लुंगी लपेटकर सीधे हम लोगों के बीच आ जाते हैं। फिर दिन भर खेत-खलिहान। शाम को चौपाल। ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं। कोई बनावटीपन नहीं। तभी हमारी गाड़ी रुकी। साफ-सुथरा बड़ा-सा लम्बा दुआर, खानदानी रईसी की मिशाल। पुराने मॉडल की कोठी, बगल में कुछ खपरैले कुछ छान-छप्पर वाले मकान। घर का कोई सदस्य दरवाजे पर नहीं मिला। तब बुजुर्ग महोदय ने इशारा करके बताया वह फुलवारी में 'सहबाईन' काम कर रही हैं (श्रीमती सरिता, शिवमूर्ति की पत्नी)। सुबह से ही खुरपी लेकर क्यारी में जुट जाती हैं। मजाल है कि क्यारी में एक भी घास-मोथे की तिरिन बचे। बच्चों की तरह इन फूलों की देखभाल करती हैं। तभी भाभी जी काम बन्द करके क्यारी से बाहर निकलीं। बोलीं- आप बैठिए। साहब को बुलवाती हूँ। कहकर गये हैं कि आप आने वाले हैं। मैंने कहा- नहीं। मैं वहीं चला जाता हूँ। फिर वही बुजुर्ग महोदय आगे-आगे चल पड़े। पैर तो मेरे आगे बढ़ रहे थे लेकिन दिमाग में खलबली मची थी कि अगर इन महोदय ने बताया न होता तो भाभी साहब को मैं 'गाँव की घसछोलिन' समझने की भूल कर बैठता। देखिए शिवमूर्ति जी किस रूप में प्रकट होते हैं। थोड़ी देर में हम खेत के मेड़ पर खड़े थे। जहाँ पाँच लोग एक साथ उकड़ू-मुकड़ू बैठे या निहुरे हुए धान की बेहन लगा रहे थे। उनमें एक शिवमूर्ति भी थे। वो इतने ध्यानमग्न थे कि किसी का आना-जाना भी नहीं देख पा रहे थे। किसानी के अन्तर्गत आने वाला यह एक कठिन कार्य माना जाता है। तभी उन बुजुर्ग ने आवाज दी। अरे साहब- आपके कोई दोस्त आपसे मिलने आये हैं। शिवमूर्ति ने सिर ऊपर उठाकर देखा और मुस्कुराते हुए बोले—अरे आप आ गये। काम बीच में ही छोड़कर वह खेत से बाहर आने लगे। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं। यह दृश्य देखकर मैं हतप्रभ था। पछताता रहा था कि कैमरा क्यों नहीं लाया। अन्यथा यह फोटो 'मंच' में छपी उस फोटो से कहीं आगे की होती।

इसी क्रम में एक दूसरी भी घटना घटी। जो उनके दूसरे पक्ष को उजागर करती है। जब एक 'डीलर' ने उन्हें भोला-भाला किसान समझ कर ठगने की जुगत बनायी। उनकी ट्यूबवेल खराब हो गई थी। गाँव का मिस्त्री उसे ठीक नहीं कर पा रहा था। वह बार-बार बन्द हो जा रही थी। तभी उन्होंने लखनऊ से मुझे फोन किया और बताया कि पानी की बड़ी समस्या है। रोज ट्यूबवेल बिगड़ी रहती है। गाँव में ढंग का मिस्त्री

नहीं है आपकी जानकारी में वहाँ कोई हो तो बताइये। अगले दिन शहर से एक मिस्त्री मैंने उनके घर भेज दिया। वह मोटर खोलकर ले आया। उसकी फिर से नई बाइन्डिंग की। मोटर चली तो लेकिन एक हफ्ते में वह भी जल गई। समस्या वहीं की वहीं। भागकर वह लखनऊ से सुलतानपुर आये। हम लोग सीधे 'डीलर' के यहाँ गये। उसने कहा- साहब आपकी मोटर बहुत पुरानी हो गई है, उसके ज्यादातर पार्ट्स खराब हो चुके हैं। नई मोटर लगवा लीजिए, पाँच साल की गारण्टी रहेगी। तब कोई दिक्कत नहीं होगी। शिवमूर्ति ने तुरन्त नई मोटर खरीदी। 'डीलर' ने खरीद की रसीद तो दी लेकिन 'गारण्टी पेपर' के लिए कहा—''बाद में दे दूँगा।'' मोटर चलने लगी। पानी मिलने लगा। लगा सब ठीक हो गया। लेकिन एक महीने के बाद फिर शिवमूर्ति का फोन आया—''अरे मिश्रा जी, मोटर तो बन्द हो गई।'' फिर हम लोग 'डीलर' के यहाँ गये। उसका उत्तर सुनकर चौंक गये। उसने कहा—''साहब, आपकी लाइन ज्यादा बोल्टेज वाली है। उसे बिजली विभाग से कहकर बदलवाइये। नहीं तो ऐसे ही मोटर जला करेगी।'' जब मैंने उससे यह कहा कि ''अब तक कैसे चल रही थी।'' तो उसने जबाब दिया ''हो सकता है नई खराबी आ गई हो।'' फिर उसने मोटर रिपेयर करने की बात कही। हम लोगों ने कहा कि तुमने तो कहा था पाँच साल की गारण्टी है, तो इसे बदलो। लेकिन वह आनाकानी करता रहा। पर उसे जब यह मालूम हुआ कि यह मामला एडिशनल कमिश्नर का है और सीधे मेरा लाइसेन्स रद्द हो सकता है तब जाकर उसने नई मोटर दी और एक अरसा हो गया वह ठीक चल रही है। जब मैंने 'डीलर' को सबक सिखाने के लिए प्रस्तावित किया तो शिवमूर्ति ने कहा—''जाने दीजिए। उसका बड़ा नुकसान हो जायेगा।'' शायद यही वे तत्व हैं—जो शिवमूर्ति को एक बड़े कथाकार के रूप में समृद्ध करते हैं। जिसे देखने के लिए अक्सर बड़े-बड़े साहित्यकार उनके गाँव आया करते हैं। अभी कुछ दिन पहले कोटा से लता शर्मा, कानपुर से राजेन्द्र राव, दिल्ली से बलराम और सुशील सिद्धार्थ, लखनऊ से विजय राय और जमशेदपुर से जयनन्दन जैसे साहित्यकार पधारे थे।

शिवमूर्ति अपने गाँव से ही नहीं अपने जनपद और आस-पास के लोगों से भी वैसा ही व्यवहार करते हैं। अच्छे काम के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना उनका स्वभाव है। कुछ दिन पहले लखनऊ की पत्रिका 'इण्डिया इनसाइड' की ओर से पर्वतारोही अरूणिमा सिन्हा के सम्मान में एक गोष्ठी सुलतानपुर में आयोजित की गई थी। बताते चले कि अरूणिमा इसी जनपद की एक धरोहर हैं और शारीरिक रूप से अक्षम होते हुए भी उन्होंने एवरेस्ट की ऊँची चोटी पर राष्ट्रीय ध्वज फहराया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में शिवमूर्ति ने कहा कि आज अरूणिमा को सम्मानित करके मैं खुशी से फूला नहीं समा रहा। लगता है हमारी बेटियाँ वाकई इक्कीसवीं शदी में प्रवेश कर चुकी हैं। इस देश की औरतों की बदहाली की कहानियाँ लिखते-लिखते हम लोग थक चुके हैं। पर, अब लगता है कि वह समय आ गया है जब अरूणिमा जैसी बेटियों को कथा के केन्द्र में लाना होगा। ताकि नजीर बड़ी हो तो समाज भी बड़ा हो। यह सुनकर भाव बिभोर होकर अरूणिमा ने कहा- शिवमूर्ति इस देश के महान कथाकार हैं। मेरे पितातुल्य हैं। आज उनकी उम्मीदों पर मैं

खरी उतरी हूँ। जो खुशी मुझे आज मिल रही है।' वह एवरेस्ट की ऊँची चोटी पर पहला कदम रखते हुए भी नसीब नहीं हुई थी।

इसी क्रम में उनकी उदारता का एक और नमूना अभी जौनपुर में देखने को मिला। मौका था- कथाकार संजीव के सम्मान का। वहाँ भी शिवमूर्ति भाई अध्यक्षता कर रहे थे। अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में बिना किसी कंजूसी के उन्होंने कहा कि आज हिन्दी में संजीव के समानान्तर कोई कथाकार या उपन्यासकार नहीं बैठता। वह श्रेष्ठ ही नहीं, श्रेष्ठतम हैं। जबकि वहीं लोग शिवमूर्ति की तारीफ करते अघा नहीं रहे थे। लेकिन शिवमूर्ति की कोशिश तो यही रहती है कि वह दूसरों को बड़ा बतायें।

एक बार शिवमूर्ति भाई का गुस्सा भी देखने को मिला। लखनऊ में मेरी पुस्तक 'इज़्ज़तपुरम्' का लोकार्पण हो रहा था। बड़े-बड़े दिग्गज साहित्यकार जुटे थे। लोकार्पण की औपचारिकता के बाद का सम्बोधन चल रहा था। माइक पर सुशील सिद्धार्थ बोल रहे थे। तभी कुछ अखबार वाले अपने-अपने कैमरे लेकर वहाँ आ गये और आग्रह करने लगे कि आप लोग फिर से एक बार लोकार्पण की मुद्रा में अपने-अपने हाथ में किताबें लेकर खड़े हो जाय ताकि वह फोटो बना लें। शिवमूर्ति जी से नहीं रहा गया। उन्होंने कहा अब यह नहीं होगा। दूसरे अखबार वालों से जाकर फोटो ले लो जो समय पर आ गये थे। हम लोगों को प्रचार-प्रसार का कोई शौक नहीं। वे फोटोग्राफर अपना सा मुँह लेकर लौट गए। शिवमूर्ति का यह रूप देखकर लोग सन्न रह गये। तब कवि नरेश सक्सेना ने चुटकी लेते हुए कहा- चलिए ''इज़्ज़तपुरम्'' में तो आज 'इज़्ज़त' बची वरना शिव भाई का नया 'रूद्रावतार' कुछ भी करा देता। लोग एक साथ ठहाके लगाने को मजबूर हो गये। माहौल फिर सामान्य हो गया।

मूलतः कवि। आठ काव्य-संग्रह प्रकाशित। 'इज़्ज़तपुरम्' कविता संकलन बेहद चर्चित। कई पुरस्कारों से सम्मानित। बड़ौदा उत्तरप्रदेश ग्रामीण बैंक (सीनियर मैनेजर) के पद से सेवानिवृत्त। फिलहाल साहित्य सेवा तथा खेती-बाड़ी में संलग्न।

सम्पर्क : 604, सिविल लाइन्स, निकट राणा प्रताप पी.जी. कालेज, सुलतानपुर-228001

मोबाइल : 9415074318

ईमेल : dmmishra28@yahoo.com

भोलानाथ सिंह

रूतबा देख एक दहशत सी छा गयी

किस शिवमूर्ति के बारे में लिखूँ? शिवमूर्ति पति, पिता, उच्च स्तर का अधिकारी, एक लेखक या एक मित्र? लेखक शिवमूर्ति के सम्बन्ध में इतना कुछ लिखा जा चुका है कि और कुछ लिखने की गुंजाइश ही नहीं बची, शिवमूर्ति की रचनाएँ (कहानियाँ या उपन्यास) इतनी अधिक समीक्षित हो चुकी है कि उनके हर पात्र कथा साहित्य के पाठकों के मन में घर बना चुके हैं।

संजीव और शिवमूर्ति जी के सानिध्य के कारण हिन्दी कथा साहित्य का खूब अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। जैसा कि शिवमूर्ति जी ने अपने आत्मकथात्मक वक्तव्य में कहा है कि शुरू में वे प्यारे लाल आवारा और प्रेम वाजपेयी के उपन्यासों से प्रभावित थे, ठीक वही हाल मेरा भी था। कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल आवारा, प्रेम वाजपेयी, गुलशन नन्दा आदि के उपन्यासों का मैं रसिया हुआ करता था। मेरी पढ़ने की शुरुआत हुई मास्टर जासूस की किताबों से जिनके रचयिता बी.बी. सिंह हुआ करते थे। फिर इब्ने सफी की जासूसी दुनिया, ओम प्रकाश शर्मा, वेद प्रकाश कम्बोज आदि की किताबों पर मैं जान दिया करता था। यह तब की बात है जब मैं सातवी आठवीं में पढ़ा करता था। कभी-कभी गाहे बगाहे अच्छी साहित्यिक रचनाएँ भी पढ़ लिया करता लेकिन उसी हालत में जब यह किताबें नहीं मिल पाती या जायका बदलने की नीयत से भी।

उन्नीस सौ तिहत्तर में संजीव जी के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और पहली साहित्यिक पुस्तक श्रीलाल शुक्ल की राग दरबारी पढ़ी। उसके बाद तो साहित्यिक कहानियाँ और उपन्यासों का चस्का ही लग गया। कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, फणीश्वर नाथ रेणु, राही मासूम रजा, कृष्ण सोबती, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्‌गल इत्यादि रचनाकारों का गहन अध्ययन किया। उसके बाद जब नौकरी लग गयी तो कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं

का नियमित ग्राहक बन गया। अतः धर्मयुग, हिन्दुस्तान (साप्ताहिक) सारिका जैसी पत्रिकाएँ नियमित पढ़ने लगा। तब तक शिवमूर्ति जी की दो कहानियाँ छप चुकी थी, कसाईबाड़ा और भरतनाट्यम। मैंने ये कहानियाँ पढ़ी नहीं थी या पढ़ी भी हों तो ध्यान नहीं दिया होगा। क्योंकि तब मैं केवल कहानियाँ या उपन्यास ही पढ़ा करता था लेखक कौन है पर्याप्त कम से कम उस समय मेरे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं था।

मऊ के पास मेरा घर है और साल में एक आध बार घर आना ही पड़ता था। उसी सिलसिले में एक बार संजीव जी ने बताया कि उनके एक लेखक मित्र मऊ में कार्यरत हैं अतः संजीव जी के पत्र वाहक के रूप में शिवमूर्ति जी से मिला। उनके दफ्तरी रुतबे से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मन में एक दहशत सी छा गयी। फिर भी पत्र तो देना ही था, अतः मिला भी और मिलने के बाद यही लगा कि अरे! यह तो बिल्कुल साधारण आदमी है। इसके कुछ ही दिनों बाद शिवमूर्ति जी अजीम भाई, सरिता भाभी नवजात बेटे के साथ पुरी होते हुए हमारे यहाँ आये और हम दोनों के परिवार इस तरह घुल-मिल गये कि वह रिश्ता आज तक चल रहा है।

इन दोनों कथाकार मित्रों के साथ रहते हुए मुझे बहुत सारे साहित्यकारों के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ लेकिन मैंने देखा कि उनके सोचने, बोलने और लिखने में बहुत सारे विरोधाभास हैं जो शिवमूर्ति जी में तो कम से कम नहीं है। संवेदनशीलता जितनी उनकी रचनाओं में मिलती है वास्तविक जीवन में वे उससे कहीं अधिक संवेदनशील और भावुक व्यक्ति है और मैंने उनकी भावुकता देखी है, महसूस की है। रिक्शे पर चलेंगे तो जरा सी भी चढ़ाई पर रिक्शे वाले को जोर लगाते देखा तो तुरन्त रिक्शे से उतर ही नहीं जायेंगे बल्कि पीछे से हाथ लगाकर ठेलने का भी उपक्रम करने लगेंगे। कभी-कभी मैंने टोका भी, तो आप रिक्शे पर चढ़ते ही क्यों हैं? उनका उत्तर होता यदि नहीं चढ़े तो रिक्शे वाला खायेगा कहाँ से। फिल्म देख रहे हैं या कोई किसी के सम्बन्ध में मार्मिक चर्चा कर रहा है तो अनायास इनकी आँखें भर आयेंगी।

विगत पचीस-तीस वर्षों से मेरी उनसे घनिष्ठता रही है। हफ्तों उनके साथ रहने के अवसर मिले हैं। मैं बिना किसी झिझक के पुनः पुनः यह कहना चाहूँगा कि शिवमूर्ति अद्वितीय हैं। जब वे बच्चों के साथ होते हें तो सिर्फ पिता होते हैं। पिता भी किस तरह के ? बच्चों के मित्र की तरह घुल मिल कर रहने वाले। फिर भी उनक बच्चों में जो अनुशासन दिखाई पड़ता है, इतने बड़े परिवार में मैंने तो अन्यत्र नहीं देखा है। पति तो वे कैसे है यह सरिता भाभी ही जानती होंगी पर मुझे तो ऐसा दाम्पत्य देखने को नहीं मिला। हालाँकि इसमें अधिक योगदान सरिता भाभी का ही है। कमाल की दक्ष महिला हैं सरिता भाभी। आज तक मैंने उनके चेहरे पर शिकन नहीं देखी। इतने बड़े कुनबे को व्यवस्थित करके रखना, अपने खुद के बच्चे, रिश्तेदार और शिवमूर्ति जी के साहित्यिक और दूसरे मिलने जुलने वालों का ताता लगा रहता है और सब कुछ इतनी शालीनता और धैर्य के साथ सरिता भाभी सम्भालती है कि उनके प्रबन्धन की प्रशंसा के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं है।

शिवमूर्ति जब मित्रों के साथ होते हैं तो खालिस मित्र होते हैं और कुछ नहीं। इतने सारे चेहरों के साथ जीने वाले व्यक्ति की सबसे बड़ी खूबी यह कि कोई चेहरा किसी चेहरे पर हावी नहीं होता। यदि वे मित्रों के बीच बैठे हों तो यह कतई एहसास नहीं होने देंगे कि इतने बड़े अधिकारी या इतने नामचीन लेखक हैं। खाने के मामले में तो ऐसे कि आप जितना सादा भोजन करा दें उतने ही तृप्त नजर आयेंगे। दोस्तों की महफिल में बैठे हों और पीने पिलाने का दौर हो तो खूब मजे ले लेकर महफिल जमाये रक्खेगे। स्वयं एक पैग ले लेंगे बस उसी पर पूरी रात काट देंगे। सारे लोग धुत और वे पता नहीं वह पैग पीते भी हैं या कहीं उड़ेल देते है।

मैं नहीं जानता, वे एक अफसर के रूप में कैसे काम करते हैं लेकिन मैंने इनको पिता का, पति का और मित्र का रोल निभाते देखा है और कहने के लिये बाध्य हूँ कि शिवमूर्ति इन सारे किरदारों को एक बेतहतरीन कलाकार की भूमिका की तरह निभाते रहे हैं।

इस्को कुल्टी से सहायक प्रबंधक के पद से सेवानिवृत्त।
सम्पर्क : आदेडीह, बहादुरगंज रोड, मऊ-275101
मोबाइल : 0945128250

प्रमीला केपी

उपन्यास का समकाल रचते हैं शिवमूर्ति...

समय-काल बढ़ते ही उपन्यास के रचनात्मक समायोजन व सौन्दर्यात्मक व्यवहार में कई परिवर्तन आए। उपन्यास आधुनिक जीवन को उसकी समग्रता में देखने का सबसे विस्तृत प्रयास भी रहा था। वह दूसरी विधाओं की तुलना में मनुष्य जीवन के इने-गिने अंशों से, यूँ ही नहीं गुजर रहा था, समयानुसार प्रक्रिया एवं व्यवहार में अपनी उपस्थिति को विस्तृत और प्रयोगात्मक भी बना रहा था। उपन्यास की अनुभव-दुनिया प्रदेश जीवन को सबसे अधिक निशानेबद्ध करने में काफी हद तक सक्षम रही है। सीमित निजता और स्वत्वमोह को पार करके वह एक प्रदेश के विविध स्वभाव-जीवन को अपने आख्यानों में पिरोकर रखता है और उसे पाठगत वस्तु बनाकर कालातीत अभिलेख छोड़ रखता है। उसमें काल समय की सभी बदलती प्रवृत्तियों की छाप वर्तमान रहती है। इस अर्थ में यह विधा जनजीवन का आईना बन रही थी, अभिलेखीय अंश बन रही थी, परिवर्तित जिंदगी को चित्रित रखने वाला बड़ा कैनवास बन रही थी। एक प्रदेश की धड़कनों व व्यवहारों को समग्र पाठ स्वरूप देने में उपन्यास जैसा कोई दूसरा साहित्यिक माध्यम नहीं है।

एक अर्थ में उपन्यास सिर्फ उपन्यासकार की सांसारिक दृष्टि का ही प्रतिफलन नहीं होता है। साहित्यिक प्रेरणा के विषय समाज देते रहते हैं। पर इस प्रेरणा को सही मायना देना और लिपिबद्धता में अपनीयत दर्ज करना कलाकार का कार्य है। यह स्पष्ट है कि अस्मितावादी विषयों पर चर्चा करते हुए साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक समग्रता हासिल करना चुनौतीपूर्ण है, क्योंकि अक्सर इसके विषय अतिराजनीतिक और एकपक्षीय होते हैं। अस्मिता चिन्तन के लिए सराही जाने वाली रचनाओं की सबसे बड़ी दुविधा उसकी वही राजनीतिक दृष्टि सीमा है, जिसके नाम पर उसकी सराहना की जाती है। बहुलतावादी समाज में किसी एक पक्ष की राजनीतिक सत्ता या जातीय अधिकार, व्यापक मूल्यमहिमा

और शांतिपूर्ण सामाजिक सहजीवन के पक्ष में नहीं होती। जिस आधार पर सत्ता, झुंडबाजी और राजनीति हासिल होती हैं, उसी आधार पर लोग ध्रुवीकृत होते जाते हैं। अतः वाचन व विमर्श के लोभ में किसी रचना को अस्मितावादी खेमे में डाल कर उसकी सराहना के साथ ही, उसे संग्रथित सामाजिक माहौल के अनुरूप देखना और परखना जरूरी है। कई प्रदेशों व प्रान्तों में छितरे पड़े रहने पर भी जन-नदियों का आपसी मिलन संभव है या उसे संभव बनाना है। साहित्य या रचना यदि विपरीत गति अपनाती है तो उसे सकरात्मक दिशा देना है। साहित्य व रचना जनता के मेलमिलाप का माध्यम भी है। ज्ञान के बिंदुओं को उपन्यास में पिरोते हुए रचनाकार को काल-समय-संदर्भ पर आश्रित विवेक का इस्तेमाल करना है। यह विवेक, उपन्यासकार के साहित्यिक विमर्श को विस्तृत करता है। इस रचनात्मक हस्तक्षेप की विशेषता के नाम पर उपन्यास विधा को अलग पहचान देने वाले लोग हैं। विमर्श की पूरी सम्भावनाओं के साथ ही उसे अलग कला सृजन की पहचान देनी होगी। संवेग, संवेदना, कल्पना, ज्ञान और कला के सम्मिश्रण में उपन्यास का विस्तार होता है। हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र में तमाम प्रशंसाओं, सराहनाओं व अभिभूतताओं के बावजूद लेखन की सीमाएं और ज्ञानात्मक संवेदना में अवरोध दिखता है। शिवमूर्ति के प्रयास उपन्यास के क्षेत्र में इस प्रोफेशनलिज्म की कमी को, एक हद तक ही सही, पूरा करने का भी है। किस्सागोई में वे सुरक्षित रहने के लिए सतर्क हैं तो परिवर्तित समय-संदर्भ का परिप्रेक्ष्य चुनकर, वे उपन्यासकार नामक साहित्यिक-सामाजिक संस्था में गतकालीन या तेजी से बदलनेवाली साहित्यिक-सौन्दर्यात्मक महक को परिवर्तित घोषित होता हुआ दिखाना चाहते हैं। भाषण की संस्कृति अलग थी, है और उसका आविष्कार लिखावट या अधुनातन साहित्यिक संस्कृति में गृहातुर होकर ही उभर आ सकता है। अपने आप में अन्यता झेलते हुए उसका आविष्कार अधुनातन पीढ़ी के लिए आकर्षक भी रह सकता है, क्योंकि यह पीढ़ी एक ही ढर्रे की भाषायी कृत्रिमता की निरंतर शिकार होती जाती है। गाँव-कस्बे की कहानियों का उपयोग और प्रचार सदियों से होता आ रहा है। वे उस संस्कृति में सकारात्मक प्रयोग भी शामिल कर रखती हैं जो इस धरती के मनुष्य को अतिजीवन का रास्ता दिखा सकता है। इस सत्य को कथा-संकुलता के माधयम से बताते हुए शिवमूर्ति हिन्दी में नया औपन्यासिक प्रयोग जोड़ रखते हैं।

कहानी कहते समय उपन्यासकार अकेला हो सकता है, कभी वह अपने सामाजिक प्रतिनिधान से भी वंचित होकर, एकदम अन्य होकर कहानी कहने को बाध्य हो सकता है। पर पाठकीय आकस्मिकताएँ, विशाल अर्थ में मानवीय संवेदनाओं की समानताएँ उसे लोक एवं संसार से मिला देती हैं। देश या राष्ट्र जनता है या उसे वैसा बनाने योग्य कल्पना हर लेखक की भीतरी मंशा है। देश-राष्ट्र की सत्तात्मक वृत्तियों व अधिकार लिप्साओं से अलग रहने का इच्छुक होते हुए भी साहित्यकार, जनता के प्रति समर्पित होना चाहता है। पर बराबर यह महसूस करता है कि इस तरह के अलग मायने को प्रतिपादित करने और सत्तात्मक सख्तियों को तोड़ने की भाषाई शक्ति अभी भी साहित्य में सन्निहित नहीं है। इस अधूरेपन के एहसास में वह देश व राष्ट्र की मीमांसा करता रहता है। जिन चीजों

को हमने संस्कृति के अवयव माने थे, काल एवं समय गुजरते ही यह पता चलता है कि वे वहशीपन के औजार भी होते हैं। उपयोग व प्रयोग के अनुसार उनके रूप आसानी से बदलते हैं। अतः इस प्रसंग में सत्ताविमर्श बनने के लिए उपन्यास को भी दूसरा या कठिन रूप अपनाना होगा। शिवमूर्ति सहित समस्त लेखक, विशेष कर उपन्यासकार आज इस खतरे को उठाते हैं। यहाँ पर यह याद करना है कि काल-समय के समान राष्ट्र-देश भी कोई स्थिर व पुरानी संकल्पना स्वीकृत नहीं है।

पिछली शती के अंतिम दशकों से उपन्यास विधा का पटल और दखल तेजी से बदल जाने लगा। अंतिम दौर तक आते आते उसने साहित्य-साहित्येतर द्वन्द्व को मिला दिया और इस द्वन्द्व को ही कई मायनों पर अनुचित ठहरा दिया। साहित्य को जनजीवन का माध्यम और सांसारिक दृष्टि का वाहक बनाने में उपन्यास विधा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उपन्यास को विस्तृत कहानी के बदले कर्तृत्वमहिमा का कारक भी बताया जाता है। कथा के साथ संरचना में भी काफी परिवर्तन नजर आने लगा, जो इसी विधा की गतकालीन परंपरा का अभूतपूर्व विकास था। उपन्यास सभ्यता विमर्श का सशक्त माध्यम है। सतही अर्थों में वह कथा से शुरू हुआ था, पर विपरीत में देखा जाय तो उसी के द्वारा कथाकथन से मुक्ति यात्रा भी संपन्न हुई थी। आज वह ऐसे मुकाम पर पहुँच गया है जिसमें कथा और विमर्श, कल्पना और यथार्थ सबकी विराट् विच्छिन्नताएँ धुँधाली पड़ गई। जब रचना सार्वजनिक जगत पर अवतरित होती है, प्रचारित होती है तब उसका इतिहास तय हो जाता है, हालांकि यह बताना मुश्किल होता है कि वह सकारात्मक आएगी या नकारात्मक। उपन्यास या कहानी में ही नहीं, अखबारी बयानों व टी वी समाचारों तक में यथार्थ जीवन से टक्कराने की क्षमता कम होती जा रही है। यथार्थ के अविलम्ब एवं लाइव प्रसारण के कारण कला व साहित्य पर सौन्दर्यात्मक प्रभाव बढ़ता जाता है। हर आख्यान, हर उपन्यास इस अर्थ में एक संघर्ष है। उपन्यासकार और पाठक की दूरी के साथ कहानी और यथार्थ, कला और काल आदि का फासला भी कम होता जा रहा है। पर यह स्वीकार करना है कि उपन्यासों द्वारा पाठकों को आह्लाद देने का समय अब भी बाकी पड़ा है। उसकी यही संभावना उसे साहित्यिक खेमे में विशेष रखती है।

भारतीय इतिहास, हिन्दी संस्कृति एवं राजनीतिक गतिविगतियाँ कई उपन्यासों के विषय हैं। आगे व पीछे देखने वाले कई चेहरे उपन्यास के क्षेत्र में नवीन भावुकता के सृजन करते थे। परम्परागत कडियों के विपक्ष में स्वतन्त्र प्रयास जो आए, उसमें शिवमूर्ति के उपन्यासों का स्थान है। शिवमूर्ति की रचनाएँ परंपरागत भावुकत्व एवं मूल्यचिन्तन के पार जाकर नए स्वत्वानुभवों का विपक्ष खुद रचती हैं। आख्यान और प्रस्तुति में ये कई विशेषताएँ अपनाती हैं। किस्सागोई और विषय वितरण में ये हिन्दी की भूमि पर हैं तो तकनीक व वैचारिक ऊर्जा में ये वैश्विक साहित्यिक दुनिया के काफी निकट हैं। भूमण्डलीय संजाल की सुविधा यह है कि उसमें, किसी गाँव या कस्बे वाला कोई भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर सकता है। आज के उपन्यासकार, यदि वह पत्रकार भी है तो इस सुविधा से सबसे अधिक प्रभावित है। ग्रामीण या कस्बाई कथा को वे अधुनातन तकनीकी में उजागर

कर सकते हैं। पत्रकारी छितरापन इन उपन्यासों की संरचनागत खासियत है, अन्वेषणात्मक सजगता इनके आख्यान को सुरक्षित नवता की श्रेणी प्रदान करती है।

सामान्य दृष्टि में साम्प्रदायिकता 'त्रिशूल' (1995), दलित-सवर्ण संघर्ष 'तर्पण' (2004), भारतीय किसानों के अतिजीवन की समस्याएँ 'आखिरी छलांग' (2008) आदि का साहित्यिक वाचन आसान है। आगे के पग में, ये रचनाएं सिर्फ इन विषयों पर केन्द्रित नहीं भी लग सकती हैं। इनका सामान्य ध्येय लोकानुरागी, यथार्थवादी, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक बहसों में गरम रहने वाले विषयों का उभार भी लग सकता है। मगर हर दिन की अखबारी खबरें तथा टी वी में प्रसारित दृश्य-बिंबों से बढकर इनका क्या सौन्दर्यात्मक एवं प्रभावकारी योगदान है, यह सोचने का समय आया है। दुर्घटनाओं तथा दंगों के बाद यह अक्सर पूछा जाता है कि इन पर कोई रचना क्यों नहीं होती है। सोचने पर यह बताया जा सकता है कि इनकी रिपोर्टिंग साहित्य का ध्येय थोड़े ही है। पात्र से बढ़कर प्रमेय व राजनीति से बढ़कर मनुष्य का महत्त्व बढा देना उपन्यास के साहित्यिक कर्तव्य को सुरक्षित रखने की क्रिया भी है। इसी कारण से यह मानी हुई बात है कि सृजनात्मक विधा के रूप में उपन्यास के लेखन के लिए दूसरी विधाओं से बढकर विस्तृत वैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक अवबोध तथा साहित्यिक व सौन्दर्यात्मक परिचय की जरूरत है।

मान लेना चाहिए कि उपन्यास विस्तृत पटल की रचना होने से नृवंशशास्त्रीय ऐतिहासिक पाठ के रूप में उसकी उपादेयता है। वह किसी शह, इलाका या जनपद के लोगों में वाचनशक्ति और आस्वादन को जागृत कर सकता है, उन्हें चिंतामग्न कर सकता है। यथार्थ का पुर्नवाचन और पुनरवतरण जब रचनात्मक होता है, तो साहित्य की विधा बन जाता है। शिवमूर्ति का महत्त्व यह है कि उन्होंने पक्ष-विपक्ष के समर्थनों में उलझे रहने के बदले शोधपरक दृष्टि से दोनों को देखने-परखने का प्रयास किया। हिन्दी उपन्यास की दुनिया में यह प्रयास, उपन्यास-विधा को नए उपलक्ष्यों के साक्षात्कार तक ले जानेवाला है। यही कारण है कि इनके उपन्यास पढ़े जाते हैं, सराहे जाते हैं।

रचनात्मक प्रयास समय-जाति-वर्ग-वर्ण-भाषा विभाजन करने वाला भी हो सकता है। साथ में सांप्रदायिकता, जडों तक घुस कर समय व सन्दर्भानुसार विषवमन करती रहती है। मूर्त सामाजिक प्रवृत्तियों व व्यवस्थागत परिवर्तनों पर लिखे जानेवाले परंपरागत औपन्यासिक प्रयासों को पात्र-केन्द्रित या कतृ-केन्द्रित खेमे में आँका या देखा जा सकता है। शिवमूर्ति का कार्य परंपरागत कड़ी को अपने ढंग में प्रक्षेपित करने का ही नहीं था, उसे नए सिरे से वाचित करके नवरासायनिक रचनात्मक प्रयास प्रस्तुत करने का भी था। जिस समाज में स्त्री, दलित आदि के नाम पर अस्मितावादी रचनाएँ निकलती रहती हैं और उन पर जोरदार अस्मितावादी विमर्श खड़ा किया जाता है, उस संस्कृति में पक्ष-विपक्ष की बहस तो आसानी से संभव होती है, स्वस्थ सामाजिकता के लिए अनिवार्य सहूलियत और सरोकारयुक्त संस्कृति की चिंता नहीं होती। शिवमूर्ति इस ओर इशारा करते हैं। इस अर्थ में 'तर्पण' दलित या सवर्ण पक्षीय कथा नहीं है। कई नामों पर इंसानियत खोकर लड़ने वाले सामाजिक की निरंतर चूकों में एक एपिसोड है। ऐतिहासिक एवं सांप्रदायिक

ताकतें समयानुसार मनुष्य को मात्र उसका औजार बनाती हैं। जाति या धर्म पर उसके संकीर्ण एवं सीमित अर्थ में नहीं सोचने वाले इंसानों को भी मात्र जाति-अस्मिता के पुतले बना देती है। कई संदर्भों पर जाति की यह अयाचित अस्मिता को वह ढोता है, उसके अनुभवों को वहन करता है। लिंग, जैविक यथार्थ है तो जाति या धर्म में किसी के जन्म लेने का कोई बौद्धिक आधार नहीं है। इस आधारहीन निर्मिति को उत्तराधुनिक तकनीकी-प्रौद्योगिकी के युग में भी अख्तियार करते रहने वाले मानव-समुदाय को वैज्ञानिक एवं विवेकशील समाज मानना गलत साबित होता है। मनुष्य एक ऐसा जीव है जो समय व सन्दर्भानुसार अपराध कर सकता है, सोचसमझकर गुनाह करता है, काफी समय पहले ही अपराध की योजना बनाता फिरता है। ऐसे कपट और अवसरवादी जानवर, जानवर वर्ग को शर्मिन्दा कर देता है। एक जगह पर वह विश्वग्राम, एकोदर, सहोदर आदि रटते हैं तो दूसरी जगह पर वे जाति या धर्म को बेझिझक उठाकर अपना उल्लू ही सीधा नहीं करता, पूरे समाज में तेजाब छिड़का देता है। इस बात में कोई भी समुदाय पीछे नहीं है। दलित पर लिखते हुए मनुष्य की कमजोरियाँ नहीं देखी जाती है, उस तरह की रचनाएँ रची जाती है जो राजनैतिक दृष्टि से तेज होती हैं। मनुष्य-स्वत्व की पुर्नव्याख्या पर इस उपन्यास का संकेत जाति-वर्ग के परे जाता है जो कई प्रसंगों में अमानवीयता पर स्पष्ट उभर आता है। समकालीन रचनात्मक संकट यह भी है कि तिरस्कृत स्वत्व की स्थापना धीरे-धीरे उसी रास्ते तक पहुँच जाती है जिस रास्ते पर सांप्रदायिक एवं फासीवादी खड़े हुए हैं। यहाँ पर अन्यता और उपेक्षा मनुष्य मात्र की होती है और जातिवाद एवं सांप्रदायिकता की जीत होती है। कला एवं साहित्य को पारस्पर्य और मिलनसार चीज बनाने के लिए कम से कम स्वत्ववादी एक भाषणों को छोड़कर आपसी सम्भाषणों को बुलन्द करना है। जैविक साहित्य के सृजन का यही अर्थ है। शिवमूर्ति की सजगता जैविक प्रसंगों की साहित्यिक उभार को लेकर भी है। वे रचना में ही हिन्दी की हृदयभूमि में घटित होने का अंदाजा छोड़ देते हैं। समय व काल से जुड़े रहने के साथ वे जमीन को भी समेट रखते हैं। साहित्य या कला में थल निर्माण का मतलब उसकी कथा-प्रकृति एवं जैविकता की पुर्ननिर्मिति भी है। प्रान्त या 'लॉकल' के सीमित सच को पार करते हुए उपन्यास विधा अपनी सौन्दर्यात्मक निर्मिति में व्यापक रचनात्मक थल-निर्माण करती है। पर कथात्मक प्रकरण में वह अपने थल व काल से अलग भी नहीं होती। जातिपांति की छाया से अब भी हिन्दी प्रदेश मुक्त नहीं है। विकास के तमाम दावों के बावजूद आज भी गाँवों व कस्बों में आपको ये सभी चरित्र आसानी से मिल सकते हैं, जिनसे होकर यह उपन्यासकार अपने को रचनात्मक सिद्ध करता है। दलितोद्धार, आरक्षण, शोषण विरोधी योजनाएँ, अल्पसंख्यक उन्नमन की कार्यवाहियाँ आदि के साथ कृत्रिम एवं औपचारिक कही जाने वाली भाषा और शैली भी कितनी सीमित, और कई मायनों पर भड़काऊ या विरोधी बन जाती हैं, इसकी सूचनाएँ भी इनके उपन्यास की अन्तर्लिप्त सच्चाइयाँ हैं।

उपन्यास विधा की खासियत यह भी है कि वह अपनी ही पूर्ववर्ती कड़ी का तिरस्कार करते हुए आगे बढ़ने की अद्‌भुत ललक रखती है। आत्मकेन्द्रित व पात्र केन्द्रित परिसर

से गंभीर राजनीतिक व विमर्शवादी परिसरों की औपन्यासिक यात्रा इसी का प्रमाण देती है। कई दफा यह यात्रा मूर्त एवं स्पष्ट घटनाओं से प्रेरित एवं नियंत्रित भी है। उपन्यास नामक विधा की यह ज्ञानात्मक यात्रा अनूठी है। इन्सानियत के लिए अनिवार्य भावुकता इससे मूर्त एवं स्पष्ट होती रही। जातिवादी राजनीति, बाजारवादी प्रवृत्तियाँ, किसानों का अस्तित्व-संघर्ष आदि के सामने उपन्यास ने अपने आप को व्यतिरिक्त ढंग में प्रस्तुत किया। भाषा और प्रमेय में समकालीन उपन्यास, अनिश्चितताओं से गुजरते हुए भी जीवन पर सकारात्मक हस्तक्षेप का ठोस प्रयास बनता रहा। यथार्थ को, अवसरवादी पक्षधरता छोड़कर उभारने का प्रयास करता रहा। अपने आप में निर्मित नैतिकता को आख्यान में सुरक्षित रखकर इन्होंने अपनी राजनीति का खुलासा किया। इस अर्थ में ये उपन्यास सामान्य अर्थ की दलगत राजनीति के वाहक नहीं हैं, सही अर्थों में ऊँची रहने वाली इंसानी-राजनीति का बुलावा बन जाते हैं।

सही है कि एक ही रचनाकार के विविध रचनात्मक प्रयास होते हैं जो उनकी साहित्यिक प्रयोगशाला की खोज के परिचायक होते हैं। इक्कीसवीं शती के आरंभिक दशकों में सामाजिक जगत पर व्याप्त संदेह व अवश्यंभावी मानवीय जागृति को उपन्यासकारों ने रचनात्मक बनाने का प्रयास किया। पूर्ववर्ती समय की केन्द्रीयताओं को तोड़कर जनता, सत्ता, अधिकार, ज्ञान, राजनीतिक अस्तित्व आदि की नई परिभाषाएँ लिख देने का व्यापक प्रयास हुआ। इस तरह इतिहास, यथार्थ एवं सामाजिक स्वत्वचिन्तन साहित्य के लिए प्रेरक तत्व बन गए। पर इनके यथार्थ पर कलात्मक होने का दबाव पूर्ववर्ती युग से अधिक वर्तमान है।

भूमंडलीकृत दुनिया से मुखातिब किसान जीवन की 'आखिरी छलांग' हो, अंधी न्याय व जातिवादी नीति के सामने अपना फैसला लेने वाले पियारे का 'तर्पण' हो, सहिष्णुता, उदारता और विश्वबन्धुत्व की पूँजी से विदा लेने वाले गाँव से 'अपने घर' जाने वाले महमूद की वापसी हो, सब में साहित्यिक अभियान के लिए अनिवार्य बिंदु मौजूद है। ये भारतीय गाँव के सच भी हैं। शिवमूर्ति की रचनाओं की जनितकी तथा भू-प्रकृति हिन्दी प्रदेश, विशेषकर मध्यभारत का कोई भी एक कस्बा हो सकता है। उस प्रदेश की भीतरी और बाहरी प्रकृति, माने स्वभाव एवं व्यवहार इनकी रचनाओं में पिराए मिलते हैं। पर वे यूँ ही उस जगह की कहानी को उभारते नहीं हैं, अनुभवों और अनुभूतियों को समेटते हुए ज्ञान एवं साहित्यिक विवेक को मिला देते हैं। पूरी प्रक्रिया में वे अपने प्रदेश व संस्कृति पर उभर आनेवाले संदेहों को बाँटते भी हैं। यह सही है कि अब भी देश एवं जनता को समीकृत करने की कोई उन्नत बोल इस संस्कृति को स्वायत्त नहीं है। अपने समय और समाज के लेखन के संदर्भों में भी लेखक के सामने सीमाएँ वर्तमान होती हैं। देश, प्रदेश या समाज जब अपनी नैतिकता खोते हैं, उस समय लेखक की उत्कण्ठाएँ रचनात्मक रूप लेती हैं। देश के स्वत्व में किसानी संस्कृति का मूल्य निहित था। उसकी धड़कनें धीरे-धीरे लुप्त होते देखकर उपन्यासकार किसान की कहानी में देश की आखिरी छलांग रचित रखता है। जैविकता की तरफ मुड़ती शैली व आख्यान, अपने अर्थ में गतकालीन

औपन्यासिक समृद्धता के युग की स्मृतियाँ जागाते भी हैं।

'त्रिशूल' में महमूद पर होनेवाली ज्यादत्तियों व अत्याचारों पर 'चुपचाप तमाशा देखनेवाले' नागरिकों पर प्रश्नचिह्न है। यहाँ पर भी मनुष्य संस्थागत वर्चस्व से डरता है। 'हर भला आदमी थाने जाने से बचना चाहता है'। (राजकमल पेपरबैक्स, 2012, पृ 67) 'छोटी छोटी घटनाओं और प्रसंगों को उनके मूल संदर्भों से काटकर रूप देनेवाले शास्त्री' रूपी धार्मिक उस्ताद का चित्रण भी है। (पृ 68) भारतीय जगत में छितरे पडे इस तरह के जीवन चरित्रों व वहशी घटनाओं को निजस्वार्थ में पका कर धार्मिक-पशु, उनका समायानुसार उपयोग करता है। राजनीति इसको बढ़ावा देने का कार्य करती रहती है। समस्त प्रयासों के बावजूद सांप्रदायिक पशुता रोकने में सत्ता और सरकार पराजित होती हैं। बाबरी-मस्जिद गिराने की ऐतिहासिक घटना के बाद एक ही परिवार में रहे सदस्यों की मानसिकता एकायक ध्रुवीकृत हो जाती है। सामुदायिक व सामाजिक ध्रुवीकरण के समय पर मनुष्य, अपने आप अंकुशहीन होकर आतंक का उपकरण बन जाता है। मन से वह जानता है कि उसकी तथाकथित धार्मिक करतूत का कोई बौद्धिक आधार नहीं है। पर व्यवस्थागत बंदिशों में पड़कर वह खुद को उसका उपकरण बनाता है, महसूस करता है और अतिजीवन की खातिर समस्त विवेचनों के आगे या तो चुप रहता है, नहीं तो बेहिचक उसमें भागीदार। वहशीपन के पलों में वह कभी मनुष्यता अनुभव नहीं करता है।

शिवमूर्ति की रचनाएँ यही बताती है कि मनुष्य विशेष जीवित वर्ग जरूर है। पर यह उसकी उपलब्धियों व ऊँचाइयों के कारण नहीं है, उसकी सीमाओं व त्रुटियों के कारण भी है। एकमात्र मनुष्य ऐसा जीव है जो सोच-समझकर दूसरों को ठेस पहुँचाता है, कई दिनों या वर्षों पहले योजनाबद्ध होकर, हमसफर मनुष्य, समुदाय या रिश्तेदार तक को समाप्त करने के लिए तुला रहता है। रचनाएँ ऐसे मनुष्य-स्वभावों पर धिक्कार का प्रयास भी हैं। समय व संदर्भानुसार वह गिरगिटिया स्वभाव दिखाता है। अपनी लड़की पर चन्दर द्वारा हाथ उठाने की बात स्वयं पियारे जाकर धरमू से कहता है तो वह सटीक सोचता है। उसे पता है कि चन्दर ने गलत किया है पर उसके मन में इस सटीकता से बढ़कर दूसरी बातें अटक जाती हैं-'वे यह जरूर मानते हैं कि लड़की पर हाथ नहीं उठाना चाहिए था। यह उसकी मूर्खता है। पर अब डाँटने-डपटने से लड़के का मनोबल गिरेगा।' (राजकमल पेपरबैक्स, 2010, पृ 23) यह उसके भीतरी सच का एक अंश है। उसका बाहरी सच कुछ और बता देने को झिझकता नहीं है- 'मैंने भी ललकार दिया कि पहले अपनी बिटिया का चाल-चलन सुधारो तब दूसरे पर थूकने चलो।' (पृ 21) आगे बढ़ाचढ़ाकर मामला दर्ज कराने पर पियारे के बाहर-भीतर के सचों में यही अन्तर, दूसरे ढंग में दिखायमान है। मनुष्यों की डॉवाडोल नैतिक स्थितियाँ उनके द्वारा स्थापित न्याय, नीति, परिवार, धर्म, पुलिस, अदालत, जेल, सेना जैसी संस्थाओं में जबर्दस्त विद्यमान हैं, जिनसे कोई बच नहीं पाता। भोली व उपेक्षिता लवंगी इस व्यापक सच को प्रस्तुत करती भी है- 'चन्दर से तो बच गई। अब थाने के सिपाहियों से बच जाए तो जानें।' (पृ 46-47) आगे जेल पर 'जेल में औरत की बस जान नहीं निकालते। बाकी सब करम कर डालते है।' (पृ 56) या

सेना पर 'इस बार टोले की कोई औरत दूध देने तम्बू नहीं जाएगी। अपनी इज्जत अपने हाथ' (पृ 111) आदि में भी मनुष्य निर्मित संस्थाओं की स्त्री विरोधी रवैयों पर खुलासा है। जुल्म को जुल्म मानने के बदले धारा के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत करना पुलिस व अदालत के लिए अनिवार्य है तो उसके तहत मामला आगे बढ़ाना वकीलों की हिकमत का कार्य है, जिसके बिना कोई सजा के पात्र नहीं होता। स्पष्ट है कि जाति, धर्म, धान और राजनीतिक प्रभाव पर अदालती निर्णयों को लाया जा सकता है, मोड़ा जा सकता है। इसी खातिर मामला होने पर पंडित सबसे पहले जज की जाति की पूछताछ करता है। यह सिर्फ पंडित की मनोदशा नहीं है, आज के अवसरवादी, स्वार्थी एवं विकट मनुष्य की यही मानसिकता है, जो नैतिकता से बढ़कर व्यावहारिक नतीजों को हड़पकर रखना चाहती है। जिस देश में निरपेक्षता के लिए नियम एवं प्रावधान बनाया जाता है, वहाँ पर सर्वाधिक नियमों का दुरूपयोग होता है, तो नियमों से जनता का भरोसा ही चला जाता है। निराधार व निर्मित जाति व्यवस्था के विवेचनों को रोकने खातिर बनाए गए नियम, उनके रोकधाम में कितना सक्षम है, विपरीत में कितना खतरनाक है, यह देखा नही जाता। पंडिताइन का विचार ही ठीक है कि 'गजब कानून बना रखा है सरकार ने, जेब भरने के लिए।' (पृ 68) इस महान देश में छेड़खानी के लिए कोई सजा नहीं है। इसलिए छेड़खानी को बलात्कार बनाए बिना चमारिन की इज्जत बचाने की कोई संभावना नहीं दिखती। हो सकता है तो बच्ची को नाबालिग भी घोषित करने के लिए सोचा जाता है। नहीं तो यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि अपराधी की सजा हो जाएगी। उपेक्षित, नीच कही जानेवाली इंसान का, इज्जतदार होने का निशाना छोड़ने के लिए नियम को ललकराना पड़ता है और अपना फैसला स्वयं अमल करना होता है। भले ही यह 'लोकतन्त्रीय कानून' के अन्तर्गत स्वीकार करने योग्य बात नहीं है। बाद में पियारे के निर्णय व व्यवहारों से पाठक इसलिए खुश व अस्वस्थ होते हैं कि उनसे उसे वांछित न्याय मिलता है। यदि वह कानूनन न्याय नहीं तो भी प्रतिन्याय का अहसास उसे आश्विस्त छोड़ता है। पियारे के मन का न्याय, एक सामाजिकता के लिए वांछित न्याय लगता है जिसे न सरकार सुरक्षित कर सकती है, न नीति-न्याय व्यवस्था। ''अपने कलेजे की धधकती आग बुझाने के लिए' वह कानून पर हाथ लगाता है और अपना मंतव्य सुनाता है कि-'बहिन-बेटियों की इज्जत पर डाका डालने वाले को ठिकाने लगाने के लिए भला किसी के ललकारने-भड़काने की जरूरत पड़ती है? अकेले काटा सरकार।'' (पृ.114) जिस कपट, निर्मित एवं अपराधी अतिनायकत्व की वाँछा चन्दर दिखाता है, उसके ठीक विपरीत में जाकर सीमित इंसानी कर्म को पियारे आत्मसात करता है और बड़े लोगों द्वारा बनाए कानून के आगे आत्म तर्पण के लिए, उनकी जुबान में कहे तो 'पाप का पराश्चित' भुगतने को तैयार हो जाता है। इस तरह वह इंसानियत के साथ सामुदायिक सदस्यता को भी, जरा सा ही सही, आश्वस्त छोड़ता है। अशिक्षित-देहाती की अर्धांगिनी, मुन्ना की माँ भी 'अब इसे मत रोकिए वकील साहब। इसी में इनकी मुक्ति है।' कहकर नाटकीयता को बरकरार रखती है जिससे हर पाठक अभिलाषा पूर्ति की साँस लेता है।

घिनौने अपराधों की अधिकता एवं व्यापकता से अपराध एवं अपराधी को अभूतपूर्व जनप्रियता और जनानुमति हासिल होती है। राजनीतिक अपराध, विशेष कर घूस एवं घोटालों से भरे प्रशासनिक एवं राजनीतिक जगत में नेताओं का जेल जाने व छुड़ा देने का जश्न मनाया जाता है। चन्दर की यह मानसिकता भारतीय युवकों की अतिनायकीय व्यवहारों से मेल खाती है। किसी अपराध पर जेल जाने पर नेता का नाम बन सकता है, आगे वे हमेशा के लिए दल, धर्म, जाति या झुण्ड के लिए 'नायक' बन सकता है। इस सम्भावना को देखकर चन्दर जेल से छुड़ा देने पर गाँव वापस जाने के लिए खुली जीप के लिए पूछता है। वह चाहता है कि उसकी 'जीत' को ऐतिहासिक घटना बनाए। आगे बन्दूक लेकर उसकी हरकतें भी इसी मानसिकता का विकास ही है।

इतिहास एवं राजनीति से आलोचनात्मक सम्बन्ध इन उपन्यासों को एक अलग कशिश देता है। लेखन एवं वाचन को उपन्यासकार परम्परागत अर्थ की प्रक्रिया नहीं मानता है। राजनीति से जुड़े संदेहों और आशंकाओं को पिरोए बिना समकालीन उपन्यास आगे नहीं बढ़ सकता है। समाज की चकाचौंध और ध्रुवीकृत भीतरी जीर्णता परस्पर विरोधी है। पर शोषक-शोषित द्वन्द्व से यहाँ पर लेखक खेलता नहीं है। उसके अनुभवपटल में शोषण या शोषित स्थितियाँ कोई वर्ग प्रतिनिधित्व का स्वभाव भी थोड़ा है। शोषण कोरपोरेट एजेंडा है। समयानुसार जाति, धर्म, वर्ण एवं स्वार्थ उसके उपकरण होते रहते हैं। 'आखिरी छलाँग' किसान की नहीं, उस खेतीबाड़ी सभ्यता की है जिसे समझाने के लिए उपन्यासकार, उसकी सही स्थिति का ठीक जायजा पेश करता है, 'किसान नाम की जाति की विलुप्ति' (नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008, पृ 93) की वह भविष्यवाणी देता है। यहाँ पर 'किसान' अन्तर्राष्ट्रीय कोरपोरेट किसान-बुर्जुआ नहीं है। दो या तीन भीगा जमीन में परम्परागत ढंग में काम करके अतिजीवन करने वाला भारतीय खेतीहर है। पूरे उपन्यास में 'मामूली चपरासी की जिन्दगी भी औसत किसान की जिन्दगी से बेहतर होती है', 'किसानी के पेशे में बरकत नहीं होनेवाली' (पृ 93) आदि सोच विचार इसी का परिपाक है। ऐसे युग में भारतीय किसान को भिखारी होने के बोध के अलावा कुछ नहीं सूझता है। चिंताओं से पिण्ड छुड़ाने के लिए वह आत्मनिर्णय, माने आत्मबली चढ़ाता है। इस उपन्यासकार के मुख्य पात्र (किसान, दलित या मुस्लिम) अपने आप पर निर्णय लेने में कोई सन्देह नहीं रखते हैं। उनका आत्मविस्तार एवं नागरिक विकास रोकने वाली सभ्यता पर वह ध्वस्त होकर ही सही, थूकने की हिम्मत रखते हैं और अपने आप पीड़ा खत्म करके विजयी होते हैं, स्वार्थ एवं लोभ के आगे निस्वार्थ एवं मुक्ति की नई परिभाषा जोड़ रखते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि ये उपन्यास उपस्थिति में अपनी गतकालीन समृद्धता के प्रतिनिधित्व के विकल्प भी पेश करते हैं। मुद्रण व प्रकाशन की संभावनाएँ, कथा-विकास एवं लेखन शैली सम्बन्धी वैश्विक रीतियों का परिचय, पुस्तक-बाजार, पैपरबैक संस्करणों द्वारा विपणन-सुविधाएँ आदि से उपन्यास रूपी साहित्यिक स्वरूप 'बिकाऊ माल' या प्रोडक्ट बन गया है। वह बाजारी वस्तु भी है। उससे मिलने वाले मुनाफे की संभावनाएँ तथा यश, परोक्ष रूप में ही सही उपन्यास विधा को बनाए रखने के तत्व बन जाते हैं। दूसरी

छोर पर वह अकादमिक शोध का उपकरण भी है। व्यस्त पीढ़ी को पुस्तकों की तरफ आकर्षित करने की वह वस्तु है, पुस्तक-व्यापार एवं विमर्श-विपणन के संसार का अंग भी है। पुस्तक-मेलों तथा पुस्तकालयों का प्रचार, उनकी औपचारिक एवं संस्थागत स्वायत्ता आदि ने दूसरी विधाओं की तुलना में उपन्यास को बाजारीकृत उत्पन्न बना देने में पुरी सहायता की। फिल्म या नाटक निर्माण, टी. वी. के विविध आविष्कार आदि की संभावनाओं ने उपन्यास के व्यावसायिक महत्त्व को बढ़ा दिया था। सूक्ष्म वाचन में इस उपन्यासकार इन सबसे अवगत हैं, चेत हैं। इसलिए इनमें विधात्मक महत्त्व से बढ़ कर अन्तर्विधात्मक संभावनाएँ पिरोकर रखी हैं। पर वे बुनियादी तौर पर लेखक या उपन्यासकार बने रहने के इच्छुक हैं। इसलिए वे उपन्यास की विधा को कुछ देना चाहते हैं जो उससे कुछ लेते भी हैं। नए परिसरों के अनुसार दूसरे माध्यमों व विधाओं को अनायास लेने-देने की सुविधा इन रचनाओं में सन्निहित है। बताना होगा कि यह अनायासता कोई खुली व दायित्वहीन स्थिति नहीं है। प्राथमिक की दृष्टि से उपन्यास की विशेषताएँ ही सबसे आगे रहती हैं।

आज पुस्तक व्यापार जगत में उपन्यास सबसे अहम भाषिक उपज है, बिकाऊ वस्तु है। जनप्रियता एवं जनोपलब्धता आज कोई बुरी बात नहीं है। इसकी खोज में साहित्यकार ऐतिहासिक घटनाओं, उपेक्षितों, स्त्रियों व दलितों को पात्र बनाकर, साहित्य को विपणन का माध्यम बनाते हैं। यहाँ पर भी उपन्यास सिर्फ उपन्यासकार की वस्तु नहीं हैं, वह समय-काल-संदर्भ की उपज है। मनुष्य की अग्रगामी आकांक्षाओं से प्रेरित होकर वह निकलता रहता है। अपने यश व नाम के साथ विधात्मक प्रगति को परखते हुए निकलनेवाली रचनाएं आवश्यक हैं, जिनमें सबको मिला देने वाला कला कौशल की आवश्यकता है। इस तरह की साहित्यिक प्रयोगशाला से निकलने वाली रचनाएँ ही समकालीन संदर्भ को प्रभावित करती हैं। स्त्री या दलित उत्पीड़नों पर प्रस्तुत होने वाली रचना कई दफा, उन्हें 'उत्पीड़न के योग्य' टहराने का अपराध भी कर डालती है। इसके विरोध में जाने के लिए 'विशेष' से सामान्य और सामान्य से विशेष की कलात्मक यात्रा को अख्तियार करनी होती है। शिवमूर्ति इसी का प्रयास करते दिखते हैं। विषय एवं प्रस्तुति में ज्ञानात्मक परिवर्तन का यह समय है। आधुनिकता की भावुकता को ये उपन्यास कई अर्थों में ठुकराने का प्रयास करते हैं। इसलिए औपन्यासिक पटल अनिश्चितताओं से आगे जाता है और भाषा व प्रमेय में कायापलट करता हैं। काल के सम्मुख होती रचना का दायित्व बहुमुखी होती है। यथार्थ के नाम पर कोरे वस्तुगत बयान से बढ़कर प्रतीति-यथार्थ के माध्यम से बातों को रखने का कार्य साहित्यिक महत्त्व बढ़ाता है। ये दोनों, एक दूसरे के विपरीत में भी उभर आ सकते हैं। द्वन्द्व पक्षों को संभालते हुए रचनाकार का पक्ष तरंगायित प्रकट होता है जिससे उसकी साहित्यिक दृष्टि स्पष्ट होती है।

समकालीन उपन्यास मीडिया के करीब जा चुका है। आख्यान व प्रत्याख्यान में वह मीडिया के समस्थ चरित्र आत्मसात करता है। कई लघु-आख्यानों में विकसित कथागतियों द्वारा वह औपन्यासिक महिमा का वहन करता है। कई संदर्भों पर क्रियात्मक भाषा शैलियों के बल पर वह संचरित दृश्य-विन्यास और रूप निर्माण की संभावनाएँ कायम करता है।

पर यह भी जोड़ देना अनिवार्य है कि समकालीन उपन्यास के सामने सबसे बड़ा संकट भी मीडिया द्वारा आगे रखने वाली चुनौतियाँ ही हैं। ये सिर्फ लेखन, वाचन और आस्वादन की ही नहीं, स्वत्वस्थापन, विनिमय एवं प्रसार की भी हैं। लेखन के पहले ही उपन्यासकार के सामने ऐसे कई संकट उभर आते हैं, जिनमें सबसे अहम है तकनीक एवं प्रौद्योगिकी का अभूतपूर्व प्रभाव, जो समकालीन मनुष्य-जीवन को घेर कर लेता है। रूप, शैली एवं कथाकथन को तैयार करते समय उसके सामने हर दिन की अखबारी खबरें हैं, जो साहित्य एवं कला के यथार्थवाद को बहुत पीछे छोड़ देती हैं। थल-काल के फासलों का संकोच, विश्वजाल का प्रसार, जैव-तकनीकी का उदय, पारिस्थितिक संकट आदि की पृष्ठभूमि में यथार्थ समस्याओं को उभारने का प्रयास एकदम आधा-अधूरा रहने का पूरा क्राइसिस है। विपरीत में देखा जाय तो उपन्यासकार को और उत्तेजना देने व नवमार्ग निर्माण के लिए प्रेरित करने में भी ये सहायक हैं। क्योंकि ये चुनौतियाँ पुरानी से भिन्न ही नहीं, आत्मविमर्श को जागृत करने वाली भी हैं। समकालीन उपन्यास इस प्रसंग में अतीत के उपन्यासों का भी विमर्श खड़ा कर देता है और उसमें साहित्य एवं संस्कृति का प्रत्याख्यान शरीक करता जाता है। यहाँ पर उसका रचनात्मक मूल्य बढ़ता है, जो कई आयामी होकर अग्रसर होता है। भाषा और शैली के संदर्भ में आज तक गुजरी राहें, अप्रासंगिक बनती जा रही हैं तो आज के उपन्यासकार साहित्य में देशज होने-रहने की ओर जा रहे हैं, हर प्रयास में नव होने का आग्रह करते हैं। यह रचनात्मक नैरन्तर्य के लिए अनिवार्य खाद है। विशेष ज्ञानमण्डल, सांसारिक दृष्टि, सामाजिक एवं ऐतिहासिक अनुभव - ये सब मिलाकर वर्तमान को देखने और विश्लेषित करने की क्षमता इन उपन्यासों में है। इस परिप्रेक्ष्य में उपन्यास भविष्य के लिए नई दृष्टि बाँटने वाला संवाद-स्थल बनता है। इसी कारण से ये उपन्यास हमेशा भाव और रूप परिवर्तन करते रहते हैं। उपन्यासों के विविधा उदाहरणों से गुजरने वाला पाठक, विधात्मक संज्ञा के अलावा उनमें कुछ भी समान नहीं देख पाता है। मनुष्य जीवन को इस तरह दैनंदिन, विस्तृत और बहुविध देखने की कोई दूसरी कला नहीं मिलती है। अतः उपन्यास हमेशा खुलने, छितरने और व्याप्त होने की कला है। अधिकार, सत्ता एवं पूँजी के साथ धन व धर्म मिलकर लोगों को हाशियाकृत बना देते हैं। अलगाव का उपबोध, समस्त एवं संपूर्ण ढंग में जंजाल जैसा मनुष्य को वलयित रखता है। यहाँ पर होने वाले सभ्यतागत स्मृतिभ्रंश को रोकने के लिए उपन्यास अनन्तिम यात्रा जारी रखता है। शिवमूर्ति के उपन्यासों के संदर्भ में यही देखना है कि ये समकालीन उपन्यास नहीं लिख रहे हैं, ये उपन्यासों में समकालीन हो रहे हैं। इनके आख्यान में घटित यथार्थ, माने इतिहास ही नहीं है, ये घटने योग्य इतिहास, माने कलात्मक उपन्यास रचने का भी उदाहरण हैं। यथार्थ की राजनीति को समझने वाला उपन्यासकार, अयथार्थ की वांछित राजनीति पर भी लिख सकता है जो सर्जक का ऐतिहासिक दायित्व है।

अद्यतन युग को अभिभूत करने के लिए ये उपन्यास गृहातुरताओं को समेटते हुए, उन पर गर्व जताते हुए अवतरित नहीं होते हैं। पृथ्वी के अतिजीवन और मनुष्य जीवन की समग्रता समझाने के लिए वे आडम्बरों व अलंकारों को छोड़ देते हैं। धागा खोलकर,

दबावहीन होकर अपने वर्णन में आगे बढ़ते हैं। यही समकालीन साहित्य, विशेषकर समकालीन उपन्यास की सौन्दर्यात्मक प्रतिबद्धता है। अतिजीवन के लिए उसे भारहीन होना आवश्यक है। विस्थापन, हाशियाकरण, धार्मिक उन्माद आदि पर लिखते हुए उन्हें गृहातुरता की कृत्रिमता की जरूरत नहीं है। यदि वे गृहातुर लगते हैं तो भी उनमें अकृत्रिम बने रहने की काबिलीयत मौजूद है। समकाल को गतकाल से जोड़ने वाली भ्रमात्मक कल्पना से व्यावहारिक कार्यकलापों तक लेखक को यात्रा करना होता है। मुख्यधारा से प्रतिरोध एवं संघर्ष करते हुए उन्हें अपने साहित्यिक अतिजीवन को सुरक्षित रखना है। अतः यहाँ पर उपन्यास लेखन उसके व्यापक अर्थ में जन-जीवन-निर्माण का साहित्यिक व सांस्कृतिक विकल्प है, जिसमें भावना एवं बोल के साथ आविष्कार की नवता को भी सतत जारी रखना होता है।

युवा आलोचक। कई पुस्तकें प्रकाशित। अनुवाद में सक्रिय। आलोचना के क्षेत्र में दिया जाने वाला प्रतिष्ठित 'देवीशंकर अवस्थी आलोचना सम्मान' से पुरस्कृत।
सम्पर्क : 7-971, कालडी-683574, केरल।
फोन नं. : 04842466162
ईमेल : prameelakp2011@gmail.com

प्रफुल्ल कोलख्यान

हमारे समय का जरूरी परिचय

शिवमूर्ति हमारे समय के प्रतिष्ठित और महत्त्वपूर्ण साहित्यकार हैं। उनका अनुभव गहरा और रचना संसार विपुल है। इधर उनके दो उपन्यास, 'त्रिशूल' और 'तर्पण', को पढ़ने के बाद जब शिवमूर्ति के रचना विकास पर नजर डालता हूँ तो लगता है एक रचनाकार के रूप में शिवमूर्ति ने अपने को आश्चर्यजनक ढंग से न केवल अतिक्रमित किया है बल्कि बार-बार खुद को नये सिरे से गढ़ा है। उनकी बहुचर्चित कहानी 'तिरिया चरित्तर' पर 'हंस' में चली बहस, उनकी कहानियों के कई प्रसंगों को याद करें और इन उपन्यासों को देखें तो हिन्दी के सामाजिक यथार्थ की रेखाओं से सम्वाद करती उनके विकास की रेखाएँ साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों और व्यावहारिक जनतन्त्र की जमीनी हकीकत की नयी और साफ समझ उकेरती दिखती हैं, वह भी बिना किसी ताम-झाम के। हिन्दी समाज के लिए शिवमूर्ति को विस्तार से समझना जरूरी दायित्व है। लेकिन अभी तो 'त्रिशूल', अभी तो 'तर्पण'।

क्या है हिन्दी साहित्य में यह 'त्रिशूल' और क्या है हिन्दी समाज का त्रिशूल। आगे बढ़ने के पहले थोड़ा-सा समय मिथकीय त्रिशूल पर भी नजर डालना जरूरी लग रहा है और समकालीन राजनीति के त्रिशूलीकरण को भी याद कर लेना जरूरी लग रहा है। त्रिशूल रुद्र का हथियार है। रुद्र इसका इस्तेमाल शिव को सुनिश्चित करने के लिए करते हैं। यह बात तब और महत्त्वपूर्ण लगने लगती है जब हमारा ध्यान इस तरफ जाता है कि शिव आर्येतर परम्परा से आते हैं। यहाँ के शिव के आर्य या अनार्य परम्परा के होने के उल्लेख की बस इतनी प्रासंगिकता है कि रुद्र अपने समाज की मुख्यधारा की परंपरा से नहीं, बल्कि मुख्यधारा के समांतर किन्तु भिन्न परंपरा से संबद्ध रहे हैं। खुद शिवमूर्ति

हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा के सशक्त लेखक हैं, इस सच के बावजूद वे सामाजिक रूप से मुख्यधारा से नहीं आते हैं। यह समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि इस पर बहस की भरपूर गुँजाइश है, लेकिन एक जरूरी बहस से परेहज क्यों! 'क्वचिदन्यतोपि', अर्थात्, मुख्यधारा के अतिरिक्त के प्रतीकों और सम्भावनाओं को मुख्यधारा में समाहित कर आत्मसात कर लेना तथा उससे जुड़े सामाजिकों को उससे बाहर ही छोड़ देना भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा की खासियत रही है। भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा की इस खासियत को समझे बिना हिन्दी साहित्य के कई जरूरी संदर्भों को समझा ही नहीं जा सकता है, 'त्रिशूल' और 'तर्पण' जैसे उपन्यास को बिल्कुल ही नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा की इस खासियत को समझने में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सहायक और साक्षी हो सकते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुर्नस्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में जो अभूतपूर्व क्रान्ति' उत्पन्न हुई! अब यह जानना दिलचस्प हो सकता है कि 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद' के बाद बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया या 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद' के लिए बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया? 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद' के बाद बुद्ध को विष्णु का अवतार माने जाने की 'उदारता' का कोई कारण नहीं दिखता है। 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद' के लिए बुद्ध को विष्णु का अवतार माने जाने का संकेत मिलता है, वह यह कि बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया, लेकिन, 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुर्नस्थापना' के बाद बौद्धों को वैष्णव नहीं माना गया। उच्छेद में निहित उत्पीड़न को समझा जाये तो संस्कृति की मुख्यधारा की खासियत पर थोड़ी रौशनी पड़ सकती है कैसे 'बौद्ध-धर्म' अपने उच्छेद के बावजूद अपने अस्तित्व को भारत में बचा सका। निश्चित रूप से इस बचने में इस्लाम के आगमन के महत्त्व को भी समझना जरूरी होगा। यह सच है कि इस्लाम के साथ भी बौद्ध का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध ही था, लेकिन ब्राह्मण-विरोधी के रूप में इस्लाम की उपस्थिति ने पहले से सक्रिय ब्राह्मण-विरोधी संप्रदायों में एक नये प्रकार की पारस्परिकता को विकसित किया, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुलपाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आँधी आई, उसमें ये सब मत बह गए। पर क्या एकदम मिट गए? लोकचित्त पर से क्या वे एकदम झड़ गए? हिन्दी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरंभिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत-कुछ जाना जा सकता है।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध-धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं।...पर उन्होंने निचले स्तर के आदमियों में जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें नाम-रूप का परिवर्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठभूमि में बौद्ध तत्त्ववाद

अपना रूप बदलकर रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और करोड़ों की संख्या में जनता आज भी उन मठों के महंतों की पूजा करती आ रही है।' शैवों-कापालिकों-लाकुलपाशुपतों के बारे में मुख्य-धारा की क्या धारणा रही है, यहाँ बस इतना ही स्पष्ट करना था। साथ ही यह ध्यान दिलाना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि विद्यापति की भक्ति का प्रसंग राम से नहीं, शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण से जुड़ता है, लेकिन मुख्यधारा को शिव-पार्वती प्रसंग उतना नहीं सुहाया जितना कि राधा-कृष्ण प्रसंग। अकारण नहीं है कि विद्यापति का प्रसार 'मुख्यधारा' की 'मुख्यभूमि' की ओर न हुआ, बल्कि बंगाल, उड़ीसा, असम, नेपाल आदि की ओर हुआ। भूलना न होगा कि विद्यापति का प्रसार उन्हीं सरणियों में हुआ जिन सरणियों में उनके पहले बुद्ध और उनके बाद कबीर का प्रसार हुआ था। त्रिशूल ब्राह्मण-परंपरा, अर्थात् परंपरा की मुख्यधारा से बाहर सक्रिय शैवों-कापालिकों-लाकुलपाशुपतों का प्रतीक रहा है, जिसे हिन्दुत्व की राजनीति ने आत्मसात किया है। ऐसे माहौल में शिवमूर्ति के उपन्यास 'त्रिशूल' को पढ़ा जाना जरूरी है।

तो फिर क्या है हिन्दी समाज का यह आत्मसातीकृत त्रिशूल? हिन्दी समाज का यह आत्मसातीकृत त्रिशूल है--धर्म, जाति, संप्रदाय की राजनीतिक इस्तेमाल के आंतरिक उपनिवेशिक कारखाने में बना शोषण और समाजिक पराधीनता की वह फाँस जिसे आर्थिकी की डंडा में लगाकर डंका बजाया जाता रहा है। और 'तर्पण'? 'तर्पण' है, इस पूरी प्रक्रिया को कान-पूँछ दबाकर सहते रहने का प्रायश्चित।

इधर धर्म, जाति, सम्प्रदाय की राजनीतिक इस्तेमाल के संदर्भों से कई उपन्यास हिन्दी में आए हैं, उदाहरण के लिए कुछ नाम लेना जरूरी लगे तो, कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान', दूधनाथ सिंह के 'आखिरी कलाम', काशीनाथ सिंह के 'काशी का अस्सी' उनमें अनिवार्य रूप से शामिल होगे। लेकिन, सामाजिक गतिशीलता की जिन आहटों को शिवमूर्ति अपनी सृजनशीलता में विन्यस्त और उपन्यस्त करते हैं, उससे 'त्रिशूल' और 'तर्पण' की औपन्यासिक बनावट और बुनावट एक भिन्न जाति का बन जाता है। 'त्रिशूल' को पढ़ते हुए यह सहज ही समझ में आता है कि यह तथा-कथित मुख्य-धारा के बाहर का उपन्यास क्यों है। 'त्रिशूल' को पढ़ते हुए यह भी सहज ही समझ में आता है कि यह सामाजिकताओं की गति-मति को प्रतिभासित करने वाली रचना बन जाने से सीमित न होकर क्यों और कैसे सामुदायिकताओं की व्यथाओं की रति-प्रकृति को प्रतिध्वनित करनेवाली कृति के रूप में विकसित हुआ!

एक प्रसंग त्रिशूल से—

पत्नी उसे टेप रिकॉर्डर दे रही हैं। फ्राक दे रही हैं। सायकिल दे रही हैं।

वह लेता नहीं। कहता है, क्या होगा?

पत्नी जोर देती हैं, रख लो, रख लो।

वह कहता है, रहने दीजिए। जाने दीजिए।

पत्नी ने उसका हिसाब किया है। गिनकर कुछ रुपए दिए हैं। वह बिना उन्हें देखे, पैंट की जेब में डाल लेता है।

मैं कुछ बोलने के लिए पूछता हूँ, ''बस कितने बजे हैं?''

उत्तर पत्नी देती हैं, ''रात दस बजे। सवेरे सीधे इसके दरवाजे पर उतारेगी।''

मैं महमूद से कहता हूँ, स्कूटर निकालो। बस अड्डे तक छोड़ आऊँगा।''

फिर पत्नी ही बोतली हैं, ''इसका दोस्त नाई का लड़का आया है, अपने एक साथी के साथ। वही दोनों छोड़ने जा रहे हैं।''

''कहाँ हैं?''

''महमूद की कोठरी में बैठे हैं।''

मैं रोमांचित हो जाता हूँ। क्या सचमुच निहायत गाढ़े दिनों में अपने ही काम आते हैं? अपना कौन है? पराया कौन? आज तक हम इसके 'अपने' थे। आज पराए हो रहे हैं। वे लड़के कल तक 'पराए' थे। आज जाते-जाते सगे हो गए हैं।

लगता है महमूद के साथ हमारी युगों-युगों से संचित सहिष्णुता, उदारता और विश्वबंधुत्व की पूँजी आज इस घर को हमेशा-हमेशा के लिए अलविदा करके जा रही हैं।

पत्नी ने भरोसे के साथ कहा जरूर था कि जिस बस में महमूद सवार होने जा रहा है वह बस है, ''रात दस बजे। सवेरे सीधे इसके दरवाजे पर उतारेगी।'' यह भरोसा बहुत ही कच्चा साबित हुआ और भहराकर गिर गया। महमूद के जाने के तीन दिन बाद मिले महमूद के अब्बा के खत से पता चला कि वे लोग जान बचाने के लिए लखनऊ भाग आए हैं और अभी कोई पक्का 'ठीहा' नहीं मिला है। सवेरे अपने घर के जिस 'दरवाजे' पर उतरा होगा, महमूद उस घर का उजड़ा चेहरा देखकर क्या बीती होगी महमूद पर! शास्त्री जी तो कहें-- जानें श्रीराम! यह कैसी विडम्बना है कि शास्त्री जी के घर से लीक हुई खबर के अनुसार लड़का तो ननिहाल में सुरक्षित था और इधर महमूद का 'ठीहा' उखड़ गया!

शिवमूर्ति के महमूद की सहजता प्रेमचन्द के हामिद की याद दिलाती है। लेकिन हामिद और महमूद में एक भारी अन्तर है। यह अन्तर बहुत ही उदास कर देने वाला अन्तर है। अन्तर यह कि आजादी की ओर बढ़ते हुए गुलाम भारत के हामिद में जो उत्साह और सूझ का साहस था वह गुलामी की ओर बढ़ते आजाद भारत के महमूद में नहीं है। हो भी कैसे सकता है हामिद का समय सहिष्णुता, उदारता और विश्वबंधुत्व के आगमन के स्वप्न का समय था और महमूद का समय सहिष्णुता, उदारता और विश्वबन्धुत्व के विघटन के यथार्थ का दुस्समय है!

और अब एक प्रसंग 'तर्पण' से—

''नहीं वकील साहब। सही है कि मैंने नहीं मारा। लेकिन यह भी सही है कि मन ही मन जाने कितनी बार मारा है। बोटी-बोटी काट डाला है। और आज जब 'जस' लेने का मौका आया है तो कहते हैं इनकार कर दूँ?'' फिर पत्नी की ओर मुँह करके पूछता है—''तुम क्या कहती हो मुन्ना की माई? इनकार कर दूँ?''

वकील बीस कोने का मुँह बनाता है—''पागल है क्या?''

हाथ पकड़कर खींचता है—''इधर आइए चाय की दुकान पर।''

पियारे को चाय पिलाते हुए वकील नया रास्ता सुझाता है—''ठीक है। मत करो इनकार। लेकिन तब यह भी कहो कि मुझे मारने के लिए बन्दूक लेकर दौड़ा। मेरे ऊपर गोली चलाई। निशाना चूक जाने के चलते बच गया। और जब दुबारा गोली भरने लगा तो अपनी जान बचाने के लिए मारना पड़ा।''

''नहीं वकील साहब। मुझे जेल जाना है। जेल की रोटी खाकर पराश्चित करना है। इस पाप का पराश्चित कि कान पूँछ दबाकर इतने दिनों तक उन लोगों का जोर-जुल्म सहता रह गया।''

फिर मुन्ना की ओर उँगली उठाकर दृढ़ता से कहता है—''खबरदार जो मेरी जमानत कराई।''

अब तक सारी बात चुपचाप सुनती मुन्ना की माँ कहती है—''अब इन्हें मत रोकिए वकील साहेब। इसी में इनकी 'मुक्ती' है।''

जेल वाहन की जाली से मुँह सटाकर फागुन की ठंडी पुरवा को फेफड़े में भरता है पियारे और आँखें मुँद लेता है। उसे लगता है जैसे पुरखों का 'तर्पण' करने के लिए 'गया-जगन्नाथ जी' जा रहा है।'

एक भिन्न तरह के, लेकिन अ-भिन्न संवेदना के, प्रसंग की याद दिलाता है, पियारे का बयान। क्या कहा था भगत सिंह ने! ओफ! गुलाम भारत में शहादत का दुर्निवार बन जाना तो समझ में आता है, लेकिन आजाद भारत में पियारे की आत्मा से निकली आत्म-ध्वंस की यह टीस! यह कैसा समाज बना डाला हमने कि जेल जाना पियारे के लिए अपनी मुक्ति और पुरखों के 'तर्पण' का प्रसंग बनकर उभर आया।

हिन्दी समाज के जीवित नव-प्रसंग को समझने के लिए शिवमूर्ति का 'त्रिशूल' और 'तर्पण' के अनिवार्य पाठ है। 'त्रिशूल' और 'तर्पण' एक अनिवार्य पाठ से अपरिचित रह जाना अपने समय के चरित्र से अपरिचित रह जाना है। आज के तूफानी समय में अपने समय के चरित्र से परिचित न होने का जोखिम उठाना क्या उचित है? फैसला हिन्दी समाज को करना होगा।

प्रखर आलोचक। 'साहित्य, समाज और जनतन्त्र', 'बाजारवाद और जनतन्त्र, तथा 'आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब' उल्लेखनीय आलोचनात्मक पुस्तकें तथा 'मंजी हुई शर्म का जनतन्त्र' शीर्षक से एक कविता संग्रह प्रकाशित।
सम्पर्क : ए/8/16 अवासन, 134/3 सी.एस. मुखर्जी स्ट्रीट,
कोन नगर, हुगली, कोलकाता, प.बं.
मोबाइल : 09007725174

राम उदय कुमार

रोजगार की बलाओं के बीच आखिरी छलाँग

इस उपन्यासिका की अन्तिम पंक्ति है—'पी.सी.एस. देखता तो कहता—जैसे जाल पड़ने पर मछलियाँ उछलती हैं...यह मौत के खिलाफ लगाई गई छलाँग है। ...आखिरी छलाँग।'

इसे पढ़कर अनायास चक्रव्यूह में घिरा निहत्था अभिमन्यु याद आ गया। रथ का चक्का उठाए मौत के खिलाफ अन्तिम युद्ध करते अभिमन्यु। और याद आई निराला की 'भिक्षुक' कविता की अन्तिम पंक्तियाँ—

ठहरो, अहा! मेरे हृदय में है अमृत
मैं सींच दूँगा—
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारा दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

निराला भिक्षुक के बच्चों को कृष्ण या अर्जुन नहीं बनाना चाहते हैं, वे जैसे नियति को जानते हैं। हाँ, वे उनका दुःख अपनी संवेदना देकर दूर कर सकते हैं। सहानुभूति की अशेष निधि होती है साहित्यिक के हृदय में।

शिवमूर्ति के 'पहलवान' भी मारक परिस्थितियों के खिलाफ आखिरी छलाँग लगाने को हैं—मौत के पूर्व की छलाँग-पाँड़े बाबा की बरसी में सुने भाषणों ने उन्हें नई ताक़त दी है। वे नए सुराजी बनेंगे—जूझने को सन्नद्ध जैसे 'मैला आँचल' का बावनदास। पर पहलवान तो घरबारी हैं। पर है बावन की ही तरह परेशान, क्षुब्ध और आजिज। इस मनः स्थिति ने उनमें भी जैसे एक ताक़त भर दी है। कहानीकार ने अपने इस चरित्र को अपनी अशेष संवेदना दी है; एक भारतीय किसान को, नहीं इतनी अच्छी कहानी आकार कैसे लेती।

असल में साहित्यिक भी किसान-मजूर और नारी की ही जात का होता है। ये सब

रचने वाले हैं सो त्याग, ममता और संवेदना से संवलित होते हैं– कहना चाहिए ये उनके सहचर हैं। और ये सब भारतीय लोकतन्त्र में हाशिये पर के प्राणी हैं। कुछ लोग बुरा मानेंगे, पर है यह सच।

कहानी के बारे में रचनाकार की स्वीकारोक्ति कि यह सतमासे बच्चे-जैसा ही हैं, एकदम सच है। इस प्लॉट को एक खासे उपन्यास का रूप दिया जा सकता है पर इसमें भी वह अशेष संवदेना का रूप दिया जा सकता है पर इसमें भी वह अशेष संवदेना साथ है जिसे जनपक्षधरता कहते हैं। यहाँ किसान जीवन की हत्यारी परिस्थितियों को पूरी सजगता के साथ रचने का प्रयास स्पष्ट है। यहाँ 'रेहन पर रग्घू' वाली बात नहीं जिसमें साफ लगता है कि रचनाकार गाँव को कम ही जानता है और पहले देखा गया गाँव ही उसके साथ बच रहा है। शिवमूर्ति का गाँव उनके साथ चलता चला आ रहा है।

कहानी शुरू होती है पहलवान-पत्नी की चिन्ता से। वह चाहती हैं कि पहलवान नहा-धोकर जल्दी खा-पी लें। बैलों को बेटी पानी पिला देगी। पर पहलवान अनसुनी कर देते हैं। परेशानियाँ पुरुष को अपने में समेट लेती हैं। वह परिवार की परेशानी के बारे में जितना ही सोचता है, उससे अप्रस्तुत होता जाता है। (यों पहलवान को नहाते देख मुझे अपने बाबा और बाबूजी का नहाना याद आ गया।) यह सच है कि जब जिम्मेदारी बढ़ जाती है और परिस्थितियाँ जिम्मेदारियों को खोभने लगती हैं तो यही नहान शेष रह जाता है। अपने में सिमटता हुआ व्यक्ति खुद पर ध्यान रखना छोड़ देता है। पहिले 'सगरा' और 'चिखुरी साह' दोनों का सम्मान करते हुए पहलवान सगरे में ही प्रेमपूर्वक नहाया करते थे। 'अब तो अपने दरवाजे के कुएँ से ही दो-चार लोटे पानी दाएँ-बाएँ डालकर नहान पूरा करने लगे हैं।'

चिखुरी साह और उनके सगरे का सम्मान गाँव का, उसकी परम्परा ही नहीं उसके समूचेपन का सम्मान था। जीवन के एक दौर में जब जिम्मेदारियाँ नहीं आन धरती या धरने को होती हैं—पढ़ाई के बाद बाल-बच्चेदार होकर गृहस्थी सम्हालने तक यह गाँव का समूचापन मन हो भाता है, अपने में रमाता है और 'मैं भी कुछ हूँ' का भान करता चलता है। (खासकर दूसरे गाँव से आई अपनी पत्नी के सामने)। यदि गृहस्थी बोझ न बने तो यह साथ चला चलता है कमोबेस। पर जब जिम्मेदारियाँ निभाने को ही ना आवें तो मन इनसे अप्रस्तुत होने लगता है। पहलवान के साथ भी ऐसा ही है। उनका नहान को स्थगित कर 'नीम की छाया में खड़े लोटे वाला हाथ हिला-हिलाकर अकेले ही कुछ बोले' जाना इसी का परिचायक है। पत्नी ऐसा देखती है और सोचती है—'मन रोज-रोज छोटा होता जाता है। पहले इनके अट्टहास को बीघा-भर की दूरी से सुना जा सकता था। अब हँसी निकलती भी है तो बेआवाज।'

जिन बलाओं को मीर सुनते थे
उनको इस रोजगार में देखा

परेशानियों से घिरा आदमी धर्म और ईश्वर की शरण में जाता है। पहलवान नहाते हुए कहते हैं—'हर हर गंगा पाबती, पाप न रहि जाय एक रती।' इस पर पत्नी हँसती

है– कँउच-भटी हँसी; पापी लोग कहाँ ऐसा कहते हैं। पहलवान ने एक और आदत पकड़ी है—लोन-बकाया में पकड़े जाने के बाद से। वे बासी मुँह शंकरजी पर जल चढ़ाते हैं। सारी परेशानियों को दूर कर देने का उपाय। किसी ने बताया होगा। उन्हें लगता की खाद-ट्यूबवेल का कर्ज पट जाएगा, बेटे की आगे की इंजीनियरिंग की फीस भर सकेंगे और बेटी का ब्याह भी हो जाएगा जिसके लिए दो बरस से दौड़ रहे हैं। (मुझे याद आता है मेरे बाबूजी भी शनिवार को पीपल में जल ढारते थे। फिर परेशानियाँ दूर हो जाने पर, क्यों कि मेरी नौकरी हो गई तो शिवजी पर बासी मुँह दूध चढ़ाने लगे कि रही-सही परेशानियाँ दूर हो जायँ और कोई परेशानी न आवे। खासे समय तक परेशानियों से जूझते रहे थे बेचारे, पर परेशानी आई। बीमार पड़े और चल बसे। न अश्वत्थ-निवासी वासुदेव और न हीं देवाधिदेव महादेव उन्हें बचा सके। उनके लिए भी और मैं, जो बच रहा, उसके लिए भी इससे बड़ा परेशानी और क्या हो सकती थी।) अस्तु।

पहलवान ने अपनी मूँछे भी छोटी करा दी हैं। 'जिन लोगों ने उन्हें नागपंचमी के दिन लम्बी छलाँग लगाते देखा है, वे उनमें आए इस परिवर्तन को देखकर आसमान की ओर देखने लगते हैं।' उन्हें समय की इस मार में पहलवान का भी छीजते जाना निराश करता है। वे इलाके के नामी-गिरामी पहलवान रहे हैं। वैसे मजबूत और फिर जनप्रिय व्यक्ति की यह दशा लोगों को 'हे भगवान्' की मुद्रा में आसमान की ओर देखने को मजबूर कर देती है कि अब तो वही एक सहारा है।

किसान की यह त्रासद परिस्थिति भारतीय वृहत्तर यथार्थ का स्थाई प्रसंग है। भारतीय इतिहास में किसानों का स्वर्ण युग कमी नहीं रहा। इनके लिए तो जीवन उठा-पटक से ही भरा रहा है। शिवमूर्ति ने किसान जीवन के त्रासद पहलुओं को बड़े मार्मिक ढंग से कहानी में उतार दिया है कि हर किसान कमोबेस उसमें खुद तो झाँकता देख ले। प्रेमचन्द के किसानों की मूल समस्या थी ऋणस्तता। तब बनिए और ब्राह्मण महाजन थे। अब सरकार है और राष्ट्रीयकृत बैंक हैं। सरकार दावे तो खूब करती है पर किसानों को खाद-बीज, बिजली, परवन के मामले में हमेशा वंचित करती जाती है। यह उनके लिए इस बढ़ती महंगाई में टिकना असम्भव बनाए जा रहीं है। सब्सिडी तो हटाई ही जा रही है, ऊपर से अनाज की कीमतों पर भयानक नियन्त्रण उनके उत्पाद पर उचित मूल्य पाने से वंचित किए दे रही है। 'डीजल, बिजली, खाद-कीटनाशक, जोताई-मडाई-मजरी-सबका रेट तो हर साल दस-पाँच रुपये बढ़ जाता है, नहीं बढ़ती तो किसान की पैदावार का दाम।' (पृ. 79)

नियम होते हैं, कानून हैं। पर उन्हें लागू करने वाले यदि सही ढंग से लागू कर दें तो उन्हें क्या मिलेगा सो, वे कोताही बरतते हैं। नहर में सिल्ट जमा है। उन्हें साफ कर दें तो क्या हासिल होगा, उन्हें उनका फायदा इसमें है कि काग़ज पर वह साफ हो गया, सचमुच नहीं। ऐसे में किसानों ने अकाल के साल नहर में पाइप डालने का उपक्रम किया और पानी के दबाव से नहर कट गई। अब इस पर जो मुकद्दमा चला सो बाईस सालों तक चलता रहा। सिल्ट के कारण नहर का पानी यों ही उपलेन हो रहा था। नहर कट गई तो इसमें गाँव वालों का क्या दोष। पर दोषी लोग तो अपना दोष मानने से

रहे। वे अपना किया दूसरों पर थोप देंगे। नहर के जमी सिल्ट की सफाई न होने से पानी के दबाव से नहर कट गई। विभाग वालों ने ग्रामीणों पर झूठा मुकदमा ठोंक दिया। इसके खिलाफ धरना-प्रदर्शन की बात थी । तो गाँव के लोग जुटे ही नहीं।

गाँव के लोगों में एका नहीं है। किसान-मजूर का बँटवारा जाति-धर्म का बँटवारा, फिर जाति में भी भेदोपभेद। संपत्तिशाली और पहुँच-पैरवी वाले अलग। ये अपना काम निकाल ले जाते हैं; फिर सामान्य किसानों से इन्हें क्या मतलब। धरना-प्रदर्शन में जुटान की असफलता लोगों को सालती है और ये सब बातें सामने आ जाती है। खेलावन यादव अगुआनी कर रहे हैं, सो ठाकुरों ने कह के भी अपना ट्रेक्टर नहीं भेजा। पर दो-एक ठाकुर-बाँभन भी आए हैं। गाँव का यह एक कसकता सच है पर अपवाद भी हैं और यहीं उम्मीद है। पहलवान जुटान की इस असफलता पर सबकी तरह खिन्न हैं और जैसे उनकी यह सोच आज के बाजारवादी दौर के बीच बँटे हुए किसानों का कड़वा सच बनकर सामने आती है—''हमारी सरकार की नीतियाँ तो हवा-हवाई हैं ही, वे बाहर की कम्पनियों के साथ भी ऐसे-ऐसे एग्रीमेंट कर रही हैं जो सौ साल पहले गिरमिटिया मजदूरों के साथ हुए एग्रीमेंट से भी ज्यादा खतरनाक हैं और गाँव के लोग झबिया में बन्द उन मुर्गों की तरह हैं जो बेचने के लिए शहर ले जाए जा रहे हैं।... झबिया के अन्दर वर्णवाद और नस्लवाद का घमासान चल रहा है।...उन्नत नस्ल के मुर्गे देशी, मटमैल या छोटी कलँगी वाले मुर्गों को हेय दृष्टि से देखते हुए उन पर अपनी शक्ति और श्रेष्ठता का रौब झाड़ रहे हैं। उनको लतिया रहे हैं। नोच-खसोट रहे हैं। उनके लेखे झबिया के अन्दर विजय मिल गई तो समझो विश्व विजय कर लिया।'' पहलवान सोचते हैं कि काश! गतिगत अलगाव न होता तो कितना मजबूती आ जाती गाँव में—फौलाद-जैसी मजबूती।

इस कहानी में 'प्रेमचन्द' और 'रेणु' याद आ जाते हैं। अगुअई (लड़का देखने) में जा रहे पहलवान शीशे के आगे अपनी धज सँवार रहे हैं। 'गोदान' का होरी यहाँ याद आता है। धनिया राय साहब के यहाँ जाते होरी से जो बातचीत करती है, वह प्रसंगा रस का सूखता सोता जैसे हरा हो गया है। जमींदार के यहाँ जाना और लड़के वाले के यहाँ जाना, बात बराबर है। खैर। ये छोटे-छोटे प्रसंग जिन्दगी में रस के सोते को सूखने नहीं देते। रास्ते के विवरण, निफिकिरा अतीत में बुआ के यहाँ जाने के विवरण, बुआ के यहाँ की वह लड़की, रास्ते में दीखने वाला मरखना साँड़—ये सब ऐसे प्रसंग हैं जो जिजीविषा को बचाए रखते हैं। गाँव से दूर हो जाते पहलवान अपनी समस्याओं से कुछ अप्रस्तुत होने लगते हैं और शेष जिजीविषा और झाँक-झाँक जाती है। यह 'आखिरी छलाँग' की सम्भावना को बचाए रखती है।

बीच-बीच में 'रोजगार की बलाएँ' भी झाँकती रहती हैं। जा भी तो रहे हैं लड़की के लिए घर देखने और रास्ते में पड़ने वाले किसान अपनी खेती के कड़वे प्रसंग याद दिलाते रहते हैं। 'यूरिया के झक्क सफेद दाने' देखकर गेहूँ की बुवाई और खाद के लिए पैसों की कमी याद आ गई। नहर में भरती सिल्ट याद आ गई। आलू की रोपाई और उखाड़ते वस्त्र की गिरी हुई कीमत याद आ गई। ट्यूबवेल का बकाया बिल याद आ

गया और याद आया बेटे की इंजीनियरिंग की पढ़ाई की अगली किश्त। कैसे भरेंगे उसे? पहले तो खुद और कुछ अपनों की मदद से चुका गए। पर, अभी तीन साल और बचे हैं। ऐसी ही मनःस्थिति में थकान से दिमाग गरम हो गया। पानी पीकर पेड़ के नीचे लेटे तो सपना आ गया। तहसील का अमीन सपने में आया और वे चिल्लाकर जग गए। याद आई चार महीने पहले की घटना जब अमीन ने सरे बाजार पकड़ा था। उसके सामने जमीन पर बैठे वे बड़े निरीह लग रहे थे।

पढ़ने वाले को महाजन के सामने उकड़ूँ बैठा गोदान का होरी याद आ जाएगा। समय बदला है। पर अब हमारी सरकार ही महाजन है सबसे बड़ी। वह भी सब कुछ ले लेती है, थोड़ा देकर; जैसे पहले अंग्रेज करते थे। ऐसा इसलिए कि वृहत्तर भारत अपनी परेशानियों में ही जूझता रहे - बँटा तो है ही— अब ऐसे में शासकों के आड़े थोड़े आवेंगे। स्वतन्त्र भारत के 'भाग्य विधाताओं' ने इसे अंग्रेजों से खूब सीख लिया है।

बावजूद इस सबके गाँव बदले हैं। और अपनी संघर्ष-क्षमता की बदौलत बदले हैं। स्वतन्त्रता संघर्ष और किसान आन्दोलनों में इनकी भूमिका ने इनकी उपस्थिति शासक वर्ग के सामने दर्ज कर दी है। ज़मीदारी उन्मूलन यों ही नहीं हुआ। बाद में नक्सल आन्दोलन ने मजदूरों की ताकत दिखा दी। शासक वर्ग ने किसान-मजूर को बाँटे रखने की दिशा के अपनी योजनाएँ चला दीं। पर, इस पर फिलहाल विचार करने की जरूरत नहीं है। जो हो, गाँव बदले हैं। तब तो लल्लन पहलवान ने अपने उस्ताद को कुर्सी लाकर बिठाया और भीड़ ने ताली बजाई।

यह ताली केवल अपने दुलारे पहलवान के लिए न थी अपितु अपने ही जैसे किसान के लिए ज़्यादा थी। शिवमूर्ति ने सर्वहार की कथा नहीं कही हैं। 'होरी' भी सर्वहारा न था। किसान था, मजूर बनता गया। पहलवान सीमान्त किसान हैं—पाँच छः एकड़ वाले। सर्वहारा होते तो शायद ऐसे शर्मसार न होते। वे तो ठीक-ठाक किसान हैं—मर्यादा के मारे; जिसकी जरूरतें पूरी नहीं पढ़ती, जैसे होरी की। पहलवान अपने बछड़े को कसाई के हाथ बेचने को बाध्य होते हैं— पैसे-पैसे को मुँहताज जो हैं। कुछ हाथ आ जाय कि खेत में खाद भी डाल दिया जाए। यही याद आता है कि किस परिस्थिति में होरी ने अपनी बेटी रूपा की शादी अधेड़ रामसेवक से तय की थी। वही टीस, वही कसर। पहलवान पति-पत्नी में तकरार हो रही है। कथाकार ने इस प्रकरण को थोड़ा खींचकर जैसे अपने कथानायक की पूरी परीक्षा ले ली है।

जो हालात हैं पहलवान के कि वे पाई-पाई को मुँहताज हैं, मेरे जैसा पाठक तो चाहता है कि वे बछड़े को बेच ही दें जैसा उनकी पत्नी पारिवारिक जिम्मेदारियों को ढोती हुई चाह रही है। डूबते को तिनके का सहारा।

बछड़ा कसाई से पगहा छुड़ाकर दौड़ते, पुनः अपने थान पर आ जाता है। और तब पहलवान को जी कड़ा कर उठना पड़ता है। वे पत्नी को कर्त्ता बनाकर ओट में लेट गए थे पर अब... ''पहलवान उठकर बैठ गए। बछड़े को बाँस का डण्डा लेकर हाँकने लगे। दो-तीन चोट खाने के बाद ज़मीन से मुँह सटाकर वह होकड़ा; फिर पीठ खलाकर

सुस्त कदम बढ़ाए।''

आखिर पहलवान को बेपर्द करके ही छोड़ा कथाकार ने! कसाई के हाथ बाछा बेचना— कोई भी किसान यदि उसमें थोड़ा भी परम्परित संस्कार बचा हो, तो बड़ा कठिन है। गाढ़े में पड़ा किसान क्या न करे। यह उसकी भीषण लाचारी को दिखाता है। 'पराधीन सपनहूँ सुख नाहीं।' यों बाबा तुलसी ने इसे नारी के सन्दर्भ में यह कहा था पर मुझे लगता है किसान के बारे में भी वह उतना ही सच है।

बेटी के बियाह के लिए लड़का देखने का प्रसंग इस लम्बी कहानी का महत्त्वपूर्ण और विस्तृत प्रसंग है। केवल कृषि कार्य पर आश्रित व्यक्ति के लिए आज यह भार-स्वरूप हो गया है। पहले भी था। लड़के वालों का फैला मुँह यहाँ भी प्रकट है। और तो और लड़के की माँ के बोल भी (स्त्री होकर) स्त्री-विरोधी हैं। खुद चाहे अपनी लड़की को बरनाठ (बड़ी उमर का वर) से ब्याहा हो, घर भी ठीक नहीं, द्वार पर दूसरे के बैल बँधे हैं पर 'आठ हजार कमाने वाले लड़के' जिसके लिए घूस देनी पड़ी हो—दहेज लेकर माँ-बाप के लिए भरपाई कर लेना लाजिमी हो जाता है।

यह मामला बड़ा जटिल है। समाज इसी दिशा में चलता चला आ रहा है। व्यक्ति अपने अभाव को ही देखता है और दूसरों के अभाव से बेपरवाह होता है। अभाव न भी हो तो मुफ्त की जुटा लेने का लोभ कम ही लोग संवरण कर पाते हैं। इसके लिए यदि दूसरों का गला भी दबाना पड़े तो परहेज नहीं होता। सम्पत्ति की लालसा के आगे इन्सानी जज्बों का कोई मोल नहीं होता। झुन्नू बाबू और उनकी पत्नी उसी परम्परा के लोग हैं। अभावों से घिरे जरूर पर यह नहीं सोचते कि कमाऊ पूत तो इन अभावों को भर ही देगा, फिर किसी का गला क्यों दबावें। वे 'उधार के बैल' बाँधकर अपनी हैसियत बढ़ा दहेज ऐंठने वालों में से हैं। 'बियाह' के मामले में यह 'उधार की हैसियत' जमाने से चली आती है। इस लोकतन्त्र में भी इस 'हैसियत के राकस' से छुटकारा न मिला। सामंती व्यवस्था की उपज इस हैसियत के राकस ने आज किसान को एक आभासी रूप से सहज झूठ में जीने को विवश कर दिया है और इसके पीछे उसकी इन्सानियत तबाह होती गई है, वे एक-दूसरे के लिए पराए होते गए हैं। सामंती व्यवस्था ने जिस तरह उन्हें बाँटकर-उनकी निजी समस्याओं के हवाले करके रखा था, लोकतन्त्र ने भी रूप बदलकर यही किया है।

एक दरमियाना या छोटा किसान यहाँ कथा के केन्द्र में है। यह सर्वाधिक परेशान तबका है। सम्भवतः मजदूरों से भी जिनके पास खोने को उतना नहीं जितना परम्परित समाज-व्यवस्था में इनके पास। मजदूर भी ऐसा जिसके पास खोने को कुछ नहीं। सामाजिक मर्यादा की सौ सीढ़ियाँ हैं, वे जाति-भेद की सीढ़ियाँ की तरह अपार मायावी हैं, जहाँ मर्यादा का बन्धन किसी को नहीं बख़्शता। इतिहास को जानने वाले भूले न होंगे कि जनेऊ-ग्रहण की मुहिम में केवल ऊँची जाति के लोग ही नहीं, तथाकथित नीची जातियाँ भी पीछे न रही थीं। 'मैला आँचल' का वह प्रसंग भी हिन्दी कथा साहित्य से वाकिफ लोग न भूले होंगे जब कथित नीची जाति के पुरोहित को ऊँची जाति के लोगों ने घोड़ी पर से उतार

दिया था। स्थिति अब भी नहीं बदली, नक्सलवादी उभार के बावजूद।

पर इन दरमियाने किसानों की हालत तो दर्दनाक है। खेती में लागत— खाद, बीज, जुताई, मँड़ाई, मजूरी में साल-दर-साल बढ़ोतरी होती जाती है। और उपज के दाम का कोई ठिकाना नहीं। आलू-प्याज जैसी फसलों में तो कभी-कभी लागत भी मुश्किल होता है। धान-गेहूँ-दलहन के दाम स्थिर-जैसे हैं। बढ़ते भी हैं तो अन्य चीजों जैसे—खाद, बीज, डीजल, पेट्रोल, नमक, साबुन-सर्फ, किताब-कॉपी, दवा, कपड़ा, ईट-छड़-सीमेंट आदि के मुकाबले नाम को। उदाहरण के लिए यूरिया विगत चार सालों में दुगुने दाम पर और डी.ए.पी चौगुने दाम पर बिक रहे हैं। पर तब से उपज के दामों में 25-30% से अधिक बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। मजूरी भी एकाएक दूनी से अधिक हुई है। पहले की तरह शिक्षा और स्वास्थ्य भी सरकारी हिसाब के न रहे। सरकार ने इनसे हाथ खींच लिए हैं। लोक कल्याणकारी गणराज्य की बात बस बात ही रह गई है। कर्ज ले तो बैंक कलेजे पर सवार हो जाते हैं। लड़के पढ़ने वाले हुए, लड़की ब्याहनी हुई तो जिन्दगी गारत हो जाती है।

पहलवान इसी फेर में पड़े हैं। हाँ, चैन का एक कोना है। वे जब बेटी के लिए लड़का देख लौटे तो पत्नी से डाँट पड़ने को ले डरे थे। वे पत्नी की हिदायत के बावजूद लड़के की माँ को जली-कटी सुना आए थे। पर पत्नी उनकी मनोदशा को समझती हैं। वे कुछ नहीं पूछतीं। रात में कटोरी में तेल लिए आई। जब नाक बजने लगीं तो वे नीचे उतरने लगीं। इस बीच नाक की आवाज बन्द हो गई और पहलवान ने उनकी बाँह पकड़कर अपनी ओर खींचा...फिर पत्नी उठीं। पैताने फिंके कंबल को उठाकर पहलवान के शरीर को अच्छी तरह ढँका और हल्के से उनकी नाक हिलाकर बाहर निकल गईं।''

यह अवलम्ब महत्त्वपूर्ण है पर परिवार तक सीमित। समस्या बड़ी है। हाँ, इससे सहारा पाकर व्यक्ति भर-समाज की इस समस्या से जूझने की ताकत पाता है। पहलवान अपनी समस्याओं में खुद में जो सिमटते जाते थे और जूझने की ताकत भी खोते जाते थे, पत्नी के इस प्रेम और भरोसे के बीच जैसे अपने अन्दर जीवन का सोता फूटता महसूस करते हैं। 'आखिरी छलाँग' के लिए प्रस्तुत होने के पीछे यह भी है।

पाँड़े बाबा की बरसी में आए वक्ताओं की बातें पहलवान को पच गई। मीटिंग में जुटी भारी भीड़ ने उनमें जग आए जीवन को एक और ताकत दे दी जो सामूहिकता से आती है। ऐसा नहीं कि वे हवा में उड़ने लगे हों या अन्य लोग हवा में उड़ रहे हों। हाँ, एक जोश आया है पर परिस्थितियों की विवशता यानी सच का अहसास उस जोश के बीच अपने पूरे करुण आसंग के साथ लोगों के दिलों से पैबस्त है। तब तो किसी दूसरे गाँव से आया हुआ दल गाता जा रहा है—''देसवा कोई गवा सुखारी, हम भिखारी रहि गए।'' कौन सुखी हुए? यह 'देसवा' कौन है? उस जुटान में पी.सी.एस. के भाषण में उस 'सुखी देसवा' की पहचान हुई।

यों कथाकार कहलवाता है कि उसकी बात लोग नहीं समझे इसलिए ताली नहीं बजी। पर कौन जाने ताली इसलिए न बजी हो कि बात दिल को जा लगी हो, इतनी गम्भीर हो कि ताली बजाना उस वजनी बात की हेठी हो! आम आदमी की समझ गम्भीर

बातों का सार तत्त्व तो पकड़ ही लेती है। पी.सी.एस.ने कई तरह खतरों से आगाह किया। 'बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बीज पेटेंट कराने से पैदा खतरा। सड़कों का नाल बिछाने में किसान की ज़मीन माटी के मोल कब्जा करने का खतरा। किसानों के लिए जरूरी चीजों पर सब्सिड़ी बढ़ाने की बजाय घटाते चले जाने का खतरा। कितनी आँख खोल देने वाली बात बताई कि दूसरे उत्पादकों के उत्पाद के लिए एम.आर.पी.तय होता है यानी मैक्सिमम रिटेल प्राइस। जबकि किसानों के लिए मिनिमम सपोर्टिंग प्राइस-न्यूनतम समर्थन मूल्य। बाकी के हिस्से में मैम्सिमम और किसाने के हिस्से मिनियम। इतना मिनिमम कि लागत का आधा भी मिलना पहाड़।''

कई फसलों में तो सचमुच लागत निकलता मुश्किल को जाता है। लोग बताते हैं कि जब डीजल 5 रु. प्रति लीटर हुआ करता था तब चावल भी 5 रु. किलो था। आज डीजल 60 रु. को छू रहा है पर चावल का दाम किसान को 14 से 23 का किलो की मिल पा रहा है। कहाँ 12 गुनी वृद्धि और इसके मुकाबले तिगुनी या पाँच गुनी वृद्धि! यदि पी.सी.एस. कहता है कि 'लागत का आधा भी निकलना पहाड़' तो का गलत कहता है। असल में सरकारों की नीति रही है कि किसानों-मजूरों को उतना ही दो जितने में वे जिन्दा रहें और अपना पेट काट के भी सबका पेट भरते रहें। वे अपनी रोजगार की बलाओं में उलझे रहे और शासन के खिलाफ न खड़ा हो सकें।

सरकार ने यह तो किया ही है शिक्षा से भी हाथ खींच लिया है। ताकि निजी शिक्षा फले-फूले। और यदि बेटा पढ़ने वाला निकला और बेटी भी ब्याहनी हुई तो एक कृषि-जीवी को खेत बेचने के अलावा और कोई चारा नहीं। पहलवान तो इन दोनों स्थितियों के बीच फँसे हैं। इसीलिए जब कोई कहता है कि वे मीटिंग में क्यों नहीं बोले तो हँसकर कहते जरूर हैं कि उतने विद्वानों के बीच वे क्या बोलते; पर मन में सोचने लगते हैं—''बोलते कि जो बाहरी लोग लूट रहे हैं, चूस रहे हैं उससे बचाने के लिए तो इतने-इतने लोग तैयार हैं लेकिन जहाँ भाई ही भाई को लूट रहा है, उससे कौन बचाएगा? कहते कि सारे लड़कों के बाप इसी मीटिंग में हाथ में गंगाजल लेकर कसम खाएँ कि दहेज लेना हराम है। दहेज लें तो समझें कि अपनी बेटी पर काँछ खोलें। बोलते तो बोलने के बाद पहले खुद कसम खाते।''

इस मारक स्थिति ने सामान्य किसानों के गिर्द भय और असुरक्षा की दीवार खड़ी कर दी है। वह भय ही है जो इतने लोगों को इकट्ठा करता है। लोगों में सामूहिक साहस पनपता है और वे 'नए सुराजी' के रूप में संगठित होना चाहते हैं। वह भय ही है जो गाने के रूप में निकलता है और आखिरी छलाँग के लिए तैयार करता है।

सो, पहलवान ने बाछा तो बेच दिया पर बेटे को बेचना उन्हें मंजूर नहीं। बेटे ने शादी से साफ मना कर दिया। एक सज्जन उसकी पढ़ाई का खर्चा उठाने और दहेज देने को भी तैयार थे; एवज में अपनी बेटी की शादी उससे करना चाहते थे। ऐसा करने पर पहलवान के साले की बेटी का भी ब्याह हो जाता। पर पहलवान अब उस भय का मुकाबला करने के मनोदशा में हैं। पुराना उत्साह जैसे मन को मना रहा है। वे आज बड़े दिनों बाद सगरे में नहाने चले। खाना खाते हुए एक रोटी बेसी खा गए। पत्नी से बाजार चलकर

पान खा आने को भी कहा और अपनी बेजारी के पत्नी का 'रंग बिगड़ जाने की बात मन में आई, फिर दिल ने कहा—'पप्पू की अम्मा की आँखें, उसकी हँसी अभी भी जकड़ती हैं।

पहलवान का बेजारी में अप्रस्तुत हुआ मन अब रंग में लौट रहा हैं। माने अभी काफी कुछ है बचा हुआ, जिसके सहारे जूझा जा सकता है। उन्होंने अपनी झुकी मूँछे फिर ऐंठ लीं। बाजार में पुराने मित्र से बेबाकी से मिले। लौटते हुए उस पुरानी जगह आए जहाँ लम्बी कूद लगाते थे और थम गए—'उन्होंने आस-पास देखा। कोई नहीं था। कोई हो भी तो क्या? सारी चिन्ता झोंको भाँड़ में। खेत रेहन होने की चिन्ता। बेटी के ब्याह की चिन्ता। बेटे के फीस की चिन्ता। ट्यूबवेल के बिल की चिन्ता। सबको झोंको भाँड़ में। फिर टहलते हुए मूँठा के पास तक आए और उस पर गिरी पत्तियों को अंगोछे से झाड़कर उड़ा दिया। अब कूदें तो कहाँ तक पहुँचेंगे?

''आस पास देखने में' अपने वर्त्तमान की चेतना के अहसास के मौजूद होने का पता चलता है। 'मूँठा' पर गिरी पंत्तियों को झाड़कर उड़ा देना जैसे सारी चिन्ताओं को उड़ा देना है। पर यह भी क्या सम्भव है? इसीलिए तो पहलवान के मन में भी प्रश्न कौंध जाता है—''अब कूदे तो कहाँ तक पहुँचेंगे?'' तब के निफिकिरा जीवन और अब के 'रोजगार की बलाओं' से जर्जर जीवन में फर्क तो है। कहानीकार ने अन्तिम पंक्ति के रूप में टीप दे दी है।...''यह मौत के खिलाफ लगाई गई छलाँग है।...आखिरी छलाँग।''

ये पंक्तियाँ समकालीन भारतीय किसान जीवन के लिहाज से खास हैं। खास इसलिए कि इसमें इस जीवन के यथार्थ बोध से उपजी करुणा अन्तर्व्याप्त है। 'कोई सूरत नजर नहीं आती' की मनःस्थिति और चूँकि 'मौत का एक दिन मुअय्यन है।' इसलिए 'जूझ पड़ो' की मनःस्थिति भी। मुझे यहाँ रेणु के 'मैला आँचल' की अन्तिम पंक्ति की झलक-भर ही सही, पर नजर आई। ''चेथरियापीर में किसी ने मानत करके एक चीथड़ा और लटका दिया।''—रेणु का सारा आशावाद यहाँ बावन के करुण अन्त की स्मृति में भींग जाता है। राजनीति के जनविरोधी चरित्र, जिसका बावनदास साक्षी है; के बीच आशाओं पर करुणा के बादल घिर आते हैं। यह लेख की पक्षधरता है जो उसकी अघोर संवेदना से उपजती है।

कठिनतम परिस्थितियों में भी हार न मानना, जूझने का माद्दा बना रहना चाहे खुद को होम देना पड़े—यह वह मानसिकता है जो स्वयं को न्याय के साथ पाती है और अन्तिम विजय के प्रति इसीलिए आश्वस्त होती है। साहित्यकार, किसान-मजूर और नारी इसी श्रेणी के प्राणी हैं—अभिमन्यु की तरह। आततायी व्यवस्था के अन्त को सन्नद्ध—

जो हमपे गुजरी सो गुजरी मगर शबे हिज्रां।
हमारे अश्क तेरी आकबत सँवार चले॥

आलोचना में गहरी रुचि। 'रेणु का कथा मर्म' शीर्षक से पुस्तक प्रकाशित। विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में आलेख प्रकाशित। कथा आलोचना पर एक पुस्तक जल्द ही प्रकाशित। गया विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में प्राध्यापन।
सम्पर्क : हिन्दी विभाग एस.डी. कॉलेज कलेर, अरवल (बिहार)
मोबाइल : 9905232852

रामजी तिवारी

जुल्म को सहने वाली मानसिकता का तर्पण

प्रत्येक साहित्यकार के मन में लिखते समय यह सवाल अवश्य कौंधना चाहिए, कि हम इसे क्यों लिख रहे हैं—क्या उस 'स्वान्तः-सुखाय' के लिए, जिसे साहित्य के एक लम्बे दौर में प्रचारित-प्रसारित किया गया, और जिसे आज भी कुछ लोग अपने सीने से चिपकाए घूमते हैं? लेकिन इस अवधारणा को मानने पर तो यह सवाल भी खड़ा हो जाता है, कि जब कोई अपने ही बारे में लिखता है, तो उसे लिखने की क्या जरुरत है? वह अपने बारे में सोचे, अपने बारे में विचार करे और अपने तई उसे रखे भी! चूँकि लिखा हुआ शब्द सबका होता है, इसलिए जाहिर है कि लेखन भी वहीं से प्रारम्भ होता है, जहाँ से आपके भीतर अपने से अलग सोचने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह अनायास नहीं है, कि दुनिया की सभी कालजयी कृतियाँ उसी सामाजिकता से अविछिन्न रूप से जुड़ी दिखाई देती हैं, जिसमें वे रहती हैं और जिसे बेहतर बनाने के लिए वे लगातार संघर्ष भी करती हैं। यहाँ तक कि वे आत्मकथात्मक कृतियाँ भी, जो अपने जीवन को केन्द्र में रखकर लिखी गयी होती हैं।

इसी से जुड़ा एक और सवाल हमारे सामने खड़ा दिखाई देता है, कि व्यक्ति को अपनी गाथा लिखनी चाहिए या समाज की? दूसरे शब्दों में कहें तो यह कि साहित्य कला के लिए होता है या फिर सामाजिकता के लिए? आप जिसके पक्ष में भी खड़े होंगे, कुछ सवालों से आपको टकराना ही होगा मसलन कोई व्यक्ति यदि अपना ही लिखेगा, तो फिर उसे दूसरा कोई क्यों पढ़ेगा? और यह भी कि समाज की गाथा लिखने की आड़ में वह नेतागिरी और बाजीगरी पर तो नहीं उतर आयेगा? तो क्या इसमें कोई विरोधाभास है कि कलात्मक लेखन सामाजिक नहीं हो सकता? या कि सामाजिक लेखन कलात्मक रूप से कमजोर ही होता है? मुझे लगता है कि इसमें कोई विरोधाभास नहीं है और यह भ्रम दोनों पक्षों द्वारा अपनी-अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए फैलाया गया है दरअसल

जिनके पास कहने के लिए कुछ खास नहीं होता, वे भाषा, शिल्प और चमत्कारों में पाठक को उलझाए रहते हैं और जिनके पास अपने कथ्य को साहित्य में ढालने की क्षमता नहीं होती है, वे कहते हैं कि हम तो सारा कुछ समाज के लिए ही लिख रहे हैं।

यदि आप कोई उपन्यास लिख रहे हैं, तो उसकी पहली शर्त उपन्यास होने को लेकर ही होनी चाहिए। चूँकि लेखक एक रचनाकार भी होता है, इसलिए रचनात्मक स्तर पर भी वह कलाकार की श्रेष्ठ कृति भी होनी चाहिए। और रही बात सामाजिकता की, तो जिस क्षण कोई व्यक्ति लिखना आरम्भ करता है, उसी क्षण उसके लेखन पर समाज का अधिकार भी आरम्भ हो जाता है। इसलिए अपने लिए लिखने वाली बात भी उसी तरह से बेमानी है, जिस तरह उसका कलात्मक स्तर पर कमजोर होना बेमानी है। साहित्य के भीतर की स्वकेंद्रित विधाओं को ही लें, जिनमें आत्मकथाएँ, जीवनियाँ, संस्मरण और यात्राओं को रखा जा सकता है। वे तभी क्लासिक का दर्जा पाती हैं, जब वे अपने बारे लिखते हुए भी अपने आस-पास, परिवेश, समाज और आने वाले समय के बारे में भी बोलने लगती हैं। समाज उनमें अपने आपको पाने लगता है और विकसित भी करने लगता है। वे जिस स्तर पर समाजोपयोगी होती हैं, उसी स्तर पर उनकी प्रासंगिकता भी निर्धारित होती है।

मतलब इसमें कोई विरोधाभास नहीं है कि किसी कृति की कलात्मकता उसे श्रेष्ठ बनाती है, या फिर उसकी सामाजिकता यदि वह रचा गया है तो बतौर कलाकार उसे श्रेष्ठ होना ही चाहिए, और यदि वह लिखा गया है, तो उसमे सामाजिकता का होना भी अनिवार्य ही है इसी तरह किसी भी रचना को पढ़ते समय हमारे मन में यह ख्याल अवश्य आता है, कि हम इसे क्यों पढ़ रहे हैं? दरअसल सच तो यह है कि इसे वैसे ही आना भी चाहिए जैसे लिखने के लिए लेखक के पास एक उद्देश्य होता है, उसी तरह से पढ़ते समय पाठक के पास भी एक उद्देश्य होना चाहिए तो आईये, इस आईने में शिवमूर्ति के लघु-उपन्यास 'तर्पण' को देखने की कोशिश करते हैं, जिन्हें बतौर कथाकार वही आदर और सम्मान हासिल है, जो कविता में नागार्जुन को दिया जाता है। यह हिन्दी का साहित्य का सौभाग्य रहा है कि समाज और राजनीति में आये तमाम झंझावातों के बावजूद उसका मूल स्वर समतामूलक, न्यायप्रिय और जनतांत्रिक ही रहा है। कहना न होगा, इसमें अन्य महान साहित्यकारों के साथ-साथ शिवमूर्ति का योगदान भी महत्वपूर्ण है।

शिवमूर्ति समाज की जड़ को पकड़ते हैं। उसकी तह में जाकर यह देखने-समझने का प्रयास करते हैं कि उसकी बुनावट कैसी है, उसका ढाँचा कैसा है, उसके तनाव कैसे हैं, उसके भीतर संघर्ष और परिवर्तन की आहटें कितनी हैं, और फिर उसकी दिशा क्या है? जब एक बार वे इन सवालों के भीतर पैठ जाते हैं, तो फिर एक रचनाकार का इसके भीतर खड़ा होना आसान हो जाता है। शिवमूर्ति उस खड़े होने की जगह का भी ठीक-ठीक चुनाव करते हैं। अपनी कहानियों, यथा-'कसाईबाड़ा', 'सिरी उपमा जोग', 'तिरियाचरित्तर', 'केशर कस्तूरी', 'भरत-नाट्यम' और 'अकाल दंड', में वे दिखा चुके हैं कि बतौर रचनाकार वे किस जगह पर खड़े होकर अपने पात्रों के साथ तादात्म्य रखना चाहते हैं। लगभग

एक दशक पहले लिखे गए उनके लघु-उपन्यास 'तर्पण' में भी इसी समझ का विस्तार देखा जा सकता है। बेशक उन्होंने उपन्यास कम ही लिखे हैं, लेकिन जो लिखे हैं, उसकी दिशा वही है, जो उनके कथा-लेखन की दिशा है।

आज से आठ दशक पहले बाबा साहेब आम्बेडकर ने गाँवों के बारे जो टिप्पणी की थी कि वे स्थानीयता के गढ़, जातिवाद के अड्डे और प्रतिगामी सोच से बजबजाते हुए दिखाई देते हैं आज के दौर में उस टिप्पणी में बस थोड़ा परिवर्तन ही आया है। हालाँकि शहरी और नगरीय क्षेत्रों में यह परिवर्तन कुछ हद तक परिलक्षित होता है, लेकिन गाँवों में संविधान की धाराएँ आते-आते ठिठक सी जाती हैं। मतलब एक तरफ तो प्रतिगामी समाज और दूसरी तरफ उसे बदलने के लिए किये जाने वाले राज्य के प्रयासों का हतोत्साहित करने वाला रवैया इन दोनों के होते हुए इनमें वांछित परिवर्तन हो भी कैसे सकता है? दुनिया में जहाँ भी समाज में सकारात्मक परिवर्तन आये हैं, वहाँ राज्य और उसकी व्यवस्था का योगदान काफी रहा है। दुर्भाग्यवश भारत में कानून और संविधान के होते हुए भी समाज की ठिठक वहीं पर बनी हुई है। व्यक्ति आगे तो बढ़ना चाहता है, और इस प्रयास में संविधान और कानून की धाराएँ उसके धड़ को आगे बढ़ाती भी हैं, लेकिन यह समाज और उसको संचालित करने वाली व्यवस्था उस व्यक्ति के पैरों में इस कदर जकड़ी हुई है कि वह व्यक्ति आगे बढ़ने के प्रयास में बार-बार गिरता है, बार-बार मुँह की खाता है यही कारण है कि इस समाज को अभी तक जहाँ पर पहुँचना चाहिए था, वह उससे कोसों दूर है। शिवमूर्ति इस उपन्यास में इन दोनों सीमाओं पर हमें ले जाते हैं। उस कानून और संविधान की सीमा पर भी जिसने हमें आगे बढ़ने के लिए इतना कुछ दिया है, और उस समाज और उसकी लागू करने वाली व्यवस्था पर भी, जो पैरों में बेड़ी बनकर जकड़ी हुई है।

कथा उस एक गाँव को केंद्र में रखकर लिखी गयी है, जहाँ अमानवीय वर्ण-व्यवस्था अपने खुले रूप में आज भी विद्यमान है। वर्चस्व वाली जातियों के पास खेत है और दबी-कुचली जातियों के पास हजारों-हजार साल से खाली मुट्ठी ये निचली जातियाँ एक तरफ आर्थिक रूप से तो दयनीय स्थिति में हैं ही, सामाजिक और राजनैतिक रूप से भी उनकी हिस्सेदारी लगभग नगण्य है इस नाते वर्चस्व वाली जातियों द्वारा उन पर होने वाले अत्याचारों की फेहरिश्त काफी लम्बी हो जाती है बात सिर्फ आर्थिक कमजोरी या फिर सामाजिक भेदभाव तक ही सीमित नहीं रहती, वरन वह उनके शोषण और इज्जत-प्रतिष्ठा के साथ खिलवाड़ तक भी जाती है। ऊँची जातियों में मन यह धारणा बनी हुयी है कि इन निम्न जातियों की बहू-बेटियों पर हमारा ही हक है और जब कभी उनके द्वारा प्रतिकार किया जाता है, तो वह किस रूप में फूटता है, इस उपन्यास में देखा जा सकता है यही कारण है कि कई जगहों पर एक इन दबी-कुचली जातियों ने समूह बनाकर यह तय कर लिया है कि अब हम इन ऊँची जातियों के खेतों में काम नहीं करेंगे चाहे हमें पेट पालने के लिए शहर में जाकर मजदूरी ही क्यों न करना पड़े। वे जानते हैं कि इससे न तो हमारी जीविका ही चलती है, और न ही हमारी बहू-बेटियों की इज्जत ही सुरक्षित रह

पाती है।

ऐसे ही गाँव में एक ब्राह्मण का लड़का 'चंदर' एक दलित लड़की 'रजपतिया' से व्यभिचार करने की कोशिश करता है। लड़की प्रतिरोध करती है और आस-पास उपस्थित अन्य काम-काजी महिलाओं के समय से आ-पहुँचाने के कारण बच जाती है। बात पूरी दलित बिरादरी में आग की तरह से फैल जाती है। पुरानी पीढ़ी के लोग चाहते हैं कि पंडित का लड़का माफी माँग ले, लेकिन नयी पीढ़ी इतिहास के उन तमाम दुष्कर्मों को याद दिलाते हुए इस बात पर आमादा दिखाई देती है कि इन बड़ी जातियों के लोगों को सबक सिखाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें कानून के दायरे में लाया जाये उनका कहना है कि ये कानून हमारे लम्बे संघर्ष के परिणाम हैं, इसलिए हमें इसका लाभ उठाना चाहिए। उनके बीच 'भाई जी' नाम के उस सामाजिक नेता का आगमन होता है, जो उनके बीच काम कर रहा होता है और समय-समय पर उन्हें सलाह भी दिया करता है। उसका कहना है कि मुकदमा करना चाहिए और उसे मजबूती से लड़ना भी चाहिए। उसका सुझाव है कि हम लोगों को बलात्कार का केस दर्ज कराना चाहिए, लेकिन यह तो झूठ है, पीछे से आवाज उठती है तो वह कहता है ''झूठ नहीं स्ट्रेटेजी कलियुग में सिर्फ सच के भरोसे जीत नहीं हो सकती वे तो हमेशा ही स्ट्रेटेजी के तौर पर झूठ बोलते और जीतते आये हैं सिर्फ एक झूठ बोलकर कि वे ब्रह्मा के मुँह से पैदा हुए हैं और हम पैर से, वे हजार साल से हमसे अपना पैर पुजवाते रहे हैं अब एक झूठ बोलने का हमारा दाँव आया है, तो हमारे गले में क्यों अटक रहा है।''

मतलब वहाँ भी अब लड़ाई स्ट्रेटेजी से सहारे लड़ी जा रही है, क्योंकि कानून और व्यवस्था शायद साधारण तरीके से उन्हें जमीन पर कोई लाभ नहीं पहुँचा सके हैं। 'भाई जी' का साफ कहना है कि ''वह वर्ग संघर्ष था। रोटी के लिए यह वर्ण संघर्ष है इज्जत के लिए इज्जत की लड़ाई रोटी की लड़ाई से ज्यादा जरुरी है इसीलिए सरकार ने हमें अलग से कानून दिया है हरिजन एक्ट! हम इसी कानून से इस नाग को नाथेंगे।'' तो इस रणनीति के तहत पूरा मोहल्ला थाने में जाता है उसी थाने में, जहाँ झूठ, भ्रष्टाचार और बेईमानी का जाल बिछा हुआ है जैसा कि सामान्यतया हमारे देश के थानों में होता है, यहाँ भी उनकी बात नहीं सुनी जाती 'भाई जी' उन्हें विधायक जी से मिलाते हैं, और कप्तान पर दबाव डालकर रपट लिखवाई जाती है। अभियुक्त चंदर गिरफ्तार कर लिया जाता है और अदालती दाँव-पेंच आरम्भ हो जाता है। इस बीच चंदर के पिता धरमू पंडित को पता चलता है कि इस केस की जाँच करने वाले क्षेत्राधिकारी महोदय अपने ही गाँव के ठाकुर पलटन सिंह के दूर के रिश्तेदार हैं, उनके यहाँ जोड़-घटाकर पहुँच बनायी जाती है और केस को बलात्कार से छेड़खानी में बदलवा दिया जाता है। लगभग दो महीने के बाद आखिरकार 'चंदर' की जमानत हो जाती है।

चंदर के छूटने पर उच्च जातियों में एक प्रतिशोध की भावना जगती है। उन्हें लगता है कि इन निम्न जातियों का मन बहुत बढ़ गया है, और इन्हें सबक सिखाकर ही दम लिया जा सकता है। सबक यदि डर और आतंक के जरिये हो, तो सबसे अच्छा और

उसमें भी 'भाई जी' पर गुस्सा सबसे अधिक है, क्योंकि उन्होंने ही इस पूरे मामले को उकसाया और बढ़ाया है। चंदर को सूचना मिलती है कि 'भाई जी' गाँव में पधारे हैं वह अपनी धमक दर्शाने के लिए बन्दूक लेकर उन्हें घेर लेता है। 'भाई जी' के साथ पियारे का बेटा 'मुन्ना' भी है। 'भाई जी' डर जाते हैं और एक पेड़ पर चढ़ जाते हैं। चंदर गालियाँ देता है और सबक सिखाने की बात करता है। मुन्ना, जो झाड़ियों में छिपा हुआ है, निकलता है और चंदर के सिर पर डंडे से प्रहार कर देता है। चंदर लहूलुहान होकर जमीन पर छटपटाने लगता है। वे दोनों भाग खड़े होते हैं। मुकदमा दर्ज होता है, और अभियुक्त की तलाश की जाने लगती है। पुलिस संशय में रहती है कि 'भाई जी' के साथ वह दूसरा आदमी कौन था, जिसने यह कारनामा अंजाम दिया है, कि इसी बीच 'पियारे' थाने में पहुँचकर अपराध स्वीकार कर लेता है, और स्वयं को पुलिस के हवाले कर देता है। पूरी बिरादरी सकते में आ जाती है और मुन्ना के साथ उसे समझाती है कि आपका अपराध स्वीकार करना उचित नहीं है। वकील भी उन्हें यही समझाता है कि वे यह कहें कि आत्मरक्षा में उन्होंने यह काम किया है, लेकिन पियारे का कहना है कि ''नहीं वकील साहब मुझे जेल जाना है जेल की रोटी खाकर परासचित करना है इस पाप का कि कान-पूँछ दबाकर इतने दिनों तक उन लोगों का जोर-जुल्म सहता रह गया।'' जेल जाते समय पियारे को लगता है कि ''जैसे पुरखों का 'तर्पण' करने 'गया जगन्नाथ जी' जा रहा है'' इसी अंतिम वाक्य के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

इस कथा के भीतर उपन्यास कई स्तरों पर चलता है। सलन ऊँची जातियों में भी आपसी तनाव और वर्चस्व की स्थिति देखी जा सकती है, लेकिन यदि उन्हें निचली जातियों से चुनौती मिलती है, तो वे कुछ समय के लिए एक भी हो जाते हैं। निचली जातियों की आर्थिक अत्यंत दयनीय है और उन्हें थाने-कचहरी की किसी भी कार्यवाही के लिए सामाजिक के साथ-साथ आर्थिक मोर्चे पर भी दस बार सोचना पड़ता है। एक तो वे सामान्य रूप से अपनी शिकायत नहीं दर्ज करा सकते और दूसरे कोर्ट-कचहरी में खर्च करने लायक उनके पास सामर्थ्य नहीं है। इसी मुकदमें में रजपतिया के बाप पियारे का चार हजार रुपया खर्च हो जाता है, जिसमे बिरादरी की तरफ से आठ सौ रुपये का चन्दा भी शामिल है तो ऐसे में संविधान और कानून में वर्णित धाराएँ उनके लिए अभी भी दूर की कौड़ी तो रहेंगी ही। जाहिर है कि इसमें यह बदलाव तो आया है कि अब वे इसे सहन नहीं करना चाहते, कि अब वे लड़ाई लड़ना चाहते हैं, भले ही कितनी भी विपरीत परिस्थितियाँ क्यों न हो लेकिन अभी भी समानता और न्याय के रास्ते उनके लिए इतने आसान नहीं हैं, 'तर्पण' उपन्यास इस सच को भी बताता है। शिवमूर्ति की इस बात के लिए तारीफ की जानी चाहिए कि इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने न सिर्फ इस समाज का प्रामाणिक चित्र खिंचा है, वरन् उसे कैसे आगे बढ़ना चाहिए, इसका रास्ता भी दिखाया है।

हालाँकि उपन्यास का अन्त कुछ-कुछ ड्रामाई और फिल्मी हो गया है। चंदर द्वारा 'भाई जी' पर किये जाने वाले हमले की घटना हो, या फिर पियारे द्वारा उसे अपने ऊपर लिया जाने वाला अभियोग हो, बात उस तरह से नहीं पचती, जैसे कि इस उपन्यास में

दिखाई गयी है यदि यहाँ भी उसी स्वाभाविकता के साथ कहानी को आगे बढ़ाया गया होता, जैसा कि पूरे उपन्यास में किया गया है, तो वह अधिक प्रामाणिक और तर्क-संगत होता। फिर अन्त तो और भी कमजोर हो जाता है, जब 'पियारे' गया-जगन्नाथ जी के नाम पर 'तर्पण' के लिए जाते हुए सोचता है। मुझे लगता है कि लेखक द्वारा धर्म के इन मठों को सांकेतिक नहीं बनाना चाहिए था, वरन इसके बरक्स उसके द्वारा इन्हें तोड़ना चाहिए था। शिवमूर्ति जैसे कथाकार से हम यह उम्मीद करते हैं कि वे सामाजिक परिवर्तन की इस आगे बढ़ती हुई प्रक्रिया में धर्म के जालों और उलझावों को साफ करने का प्रयास करें, न कि चिपके रहने का मेरे हिसाब से उपन्यास का अन्त उतना स्वाभाविक और प्रामाणिक नहीं है, जितना कि इसे होना चाहिए था फिर भी शिवमूर्ति की इस बात के लिए तारीफ तो की ही जानी चाहिए कि यह उपन्यास 'तर्पण' उस परम्परा को आगे बढ़ाने वाली रचना है, जिसमें न सिर्फ कलात्मकता की कसौटी को बरकरार रखा गया है, वरन उसे अनिवार्य रूप से सामाजिकता के साथ भी जोड़ा गया है।

युवा आलोचक। 'आस्कर आवार्ड ये कठपुतली कौन नचावे' पुस्तक प्रकाशित।
विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर आलेख और समीक्षाएँ प्रकाशित।
सम्पर्क : बलिया, उत्तर प्रदेश
मोबाइल : 09450546312

रजनी दिसोदिया

नब्बे के बाद का भारत

साम्प्रदायिकता और जातिवाद आज के भारतीय समाज की वे दो वास्तविकताएँ हैं जो समय के साथ-साथ ज्यादा मुखर और जटिल होती चली जा रही हैं। साम्प्रदायिकता अधिकाँशतः हिन्दू-मुस्लिम का धार्मिक पूर्वाग्रह लिए हुए है तो वहीं जातिवाद अगड़ी, पिछड़ी और दलित जातियों के बीच का संघर्ष है। यह सब इतना सरल और एकपक्षीय नहीं है जितना प्रायः समझ लिया जाता है। यह संघर्ष और टकराव चाहे वह सम्प्रदायों को लेकर हो या जाति को लेकर अपने आप में नए लोकतान्त्रिकरण समीकरणों में होने वाला शाश्वत सत्ता संघर्ष है। यह संघर्ष कूटनैतिक राजनैतिक चालों से शुरू होकर खूनी संघर्ष में भी बदलता रहता है। ऐसे संघर्ष किसी भी समाज में लगातार होते रहते हैं। भारतीय समाज भी इससे अछूता नहीं रहा है। देव-दानव, बौद्ध-ब्राह्मण, आर्य-अनार्य जातियों के संघर्ष की लम्बी परम्परा इतिहास के गलियारों में दबी पड़ी है। किन्तु ज्यों-ज्यों मानव सभ्यता आगे बढ़ रही है, उससे यह अपेक्षा की जाती रही है कि अब वह अपने सत्ता संघर्षों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाएगी।

वरिष्ठ कथाकार शिवमूर्ति ऐसे संवेदनशील लेखकों में रहे हैं जिनकी दृष्टि बराबर इन घिनौने हिंसक होते संघर्षों पर पड़ती रही है। इन संघर्षों के नीचे दबी पड़ी मानवता के लिए उनकी लेखनी हमेशा सक्रिय रही है। उनका 'त्रिशूल' नामक उपन्यास जैसा कि इसके नामकरण से ही संकेतित है, मूलतः हिन्दू साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर लिखा गया है। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों और तनाव को लेकर शिवमूर्ति गुजरात के मुख्यमंत्री के 'क्रिया की प्रतिक्रिया' वाले सिद्धान्त को कुछ इस तरह पेश करते हैं कि वह उलट जाता है। उनके अनुसार हिन्दू साम्प्रदायिकता के कारण मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जन्म

होता है। उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक प्रश्न करता है–''कहाँ से शुरू करूँ महमूद की कहानी...? वहाँ से जब पुलिस उसे घर से घसीटकर ले जा रही थी....चौराहे पर लाठियों से पीट रही थी और मुहल्ले से कोई आदमी बचाने के लिए आगे नहीं आ रहा था। या...जब इसी चौराहे पर वे लोग उसकी छाती पर त्रिशूल अड़ाकर मजबूर कर रहे थे, ''बोल साले, जै सिरी राम...''

वहाँ से क्यों नहीं जब बड़ी मस्ज़िद के परिसर में भीड़ उसे घेरे खड़ी थी और तय नहीं कर पा रही थी कि आगे क्या करना चाहिए?''

और फिर वह शुरू करता है वहाँ से जहाँ महमूद लौन में डहेलिया के पौधे लगा रहा है और कथावाचक जिसका कि महमूद घरेलू सहायक है, उन पौधों में पानी दे रहा है। तभी शास्त्री जी जो कि उपन्यास में कट्टर हिन्दूवाद के सक्रिय कार्यकर्ता हैं, का आगमन होता है। बाबरी मस्ज़िद तोड़े जाने के दौरान राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा अयोध्या–परिक्रमा पर रोक लगा दिए जाने पर क्षुब्ध शास्त्री जी जहाँ कथाकार के साथ आस्तिक-नास्तिक की बहस में उलझ जाते हैं वहीं महमूद दौड़कर कुर्सियाँ लगाता है। यही महमूद पिछले पाँच महीने से जब से यहाँ आया है दौड़-दौड़कर शास्त्री जी के सारे काम करता है। न तो कभी शास्त्री जी यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि महमूद कौन धर्म का है? और न कभी कथावाचक को ही यह लगता है कि यह भी कोई बताने वाली बात है। यही महमूद इन्हीं शास्त्री जी के कहने पर निरपेक्ष भाव से बाबरी मस्ज़िद के तौड़े जाने पर लड्डू बाँट रहा है। कुछ दिन बाद तैश में आकर शास्त्री जी कहते हैं ''धरम के नाम पर इन मुसलमानों ने देश की छाती को चीरकर दो टुकड़े कर दिए तो फिर यहाँ क्या करने के लिए रह गए? अपनी ऐसी-तैसी कराने...?'' तब भी महमूद उन लोगों के बीच पूरी तनमयता से चाय के कप रख और उठा रहा है और कथावाचक उस समय चाय के कप रखते–उठाते महमूद का चेहरा देखने की कोशिश करता है जो बकौल उसी के ''निर्विकार था प्रतिक्रियाहीन।''–''क्या यह बहरा है? तब? गाली खाकर भी कोई तरह प्रतिक्रियाविहीन रह सकता है?'' यह प्रश्न कथावाचक के मन में पैदा होता है। उपन्यास के अन्त तक हिन्दुओं की कट्टरता उनकी षड्यन्त्रपूर्ण ढंग से फैलाई गई साम्प्रदायिका से यह मेहनती और मासूम इस कदर आतंकित हो उठता है कि वहाँ से भाग निकलने के सिवाए उसे कोई रास्ता नहीं सूझता। कथावाचक की तमाम सहृदयता, मानवीयता और अपनापन उसे थाम नहीं पाते। आत्मरक्षा को भटकते इस युवा के लिए कथावाचक सोचता है–''तब किस घर गया होगा महमूद? कहीं नियति को यही तो मंजूर नहीं कि वह किसी न किसी 'काला पहाड़' (मुस्लिम कट्टरपंथी) की शागिर्दी करे?'' वास्तव में लेखक यह बताना चाहता है कि गरीब और मजदूर का कोई धर्म नहीं होता वह न हिन्दू होता है और न मुसलमान। हाँ, अपनी गरीबी से उत्पन्न दुख–दर्दो से जूझने के लिए जिस आस्था की उसे जरूरत पड़ती है उसके लिए वह कभी हिन्दू तो कभी मुसलमान होने के कुछ संस्कार जी लेता है और इसी कारण धर लिया जाता है। महमूद का नमाज पढ़ना भर, अपने धर्म के किसी

गरीब दर्जी से सुख-दुख के दो बोल बोल लेना भर उसे कट्टरवादी मुसलमान सिद्ध किए जाने के लिए काफी होती है। फिर अपने आप को बचाने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह किसी दहशतगर्द असामाजिक तत्व की शागिर्दी में चला जाए।

साम्प्रदायिक दंगे होते ही क्यों है? कैसे किसी आदमी के सारे गुण-दोषों के ऊपर उसके धर्म की पहचान इतनी हावी हो जाती है और उसकी सारी मानवीयता उसके हिन्दू या मुसलमान होने के नीचे दब जाती है। उपन्यास में शास्त्री जी के द्वारा सीधे-सीधे यह पूछ ही लिए जाने पर कि आप आस्तिक हैं या नास्तिक? कथावाचक कहता है—''मैं आस्तिक हूँ इस अर्थ में कि इस ब्रह्माण्ड का नियामक कोई सत्ता है पर उस सत्ता को राजा रामचन्द्र में केन्द्रित नहीं मानता क्योंकि ऐसा करना ईश्वर की क्षमता और व्याप्ति को कम करके देखना है। वास्तव में ईश्वर का किसी एक धर्म से कोई लेना-देना नहीं वह उससे ऊपर व परे की चीज़ है।'' ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कथावाचक उसे डी. एन. ए. में समाए गुणसूत्र के रूप में व्याख्यायित करता है कि जैसे डी. एन. ए. में समाए गुणसूत्र किसी प्राणी की पूरी नस्ल के स्वरूप गुणधर्म को निर्धारित व नियमित करता है उसी प्रकार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण में समाया ईश्वर ही इस पूरे ब्रह्माण में व्याप्त जीवन-जगत-प्रकृति के स्वरूप गुण-धर्म को निर्धारित व नियमित करता है। अलग-अलग धर्मों, सम्प्रदायों ओर समाजों का ईश्वर अलग-अलग नहीं है वह एक ही है। किन्तु प्रत्येक समाज उसके स्वरूप की कल्पना भिन्न-भिन्न तरीके से करता है। यहाँ लेखक यह बताने और समझाने का प्रयास करता है कि साम्प्रदायिक दंगों को ईश्वरीय आस्था से कुछ लेना देना नहीं है। ऐसा कहकर वह हिन्दू कट्टरपंथियों की ज़मीन हिला देना चाहता है जिसके ऊपर वे साम्प्रदायिकता का महल खड़ा करते हैं।

लेखक की मान्यता है कि यदि किसी की ईश्वर में अटूट आस्था है तो ऐसा व्यक्ति और समूह साम्प्रदायिकता हो ही नहीं सकता। तो फिर क्या कारण है कि भगवान के नाम पर मस्ज़िद को तोड़ा जाता है और अल्लाह के नाम पर मन्दिरों को नेस्तनाबूद किया जाता है? ऐसे अवसरों पर तो इन्सान से उसकी इन्सान होने की मूलभूत पहचान ही छीन ली जाती है और वह केवल हिन्दू या मुस्लिम नाम भर रह जाता है। उपन्यास का प्रमुख पात्र महमूद सामान्य दिनों में जिसका नाम जानने की किसी को फुरसत या जरूरत तक नहीं है। साम्प्रदायिक तनाव फैलाने के लिए उसकी एक-एक गतिविधि पर नज़र रखी जाती है, वह किससे मिलता है? किससे बात करता है? कथावाचक का घरेलू नौकर होने के बावजूद पहले आस-पड़ोस के सभी हिन्दू परिवार 'चेलवा' के नाम से उसे साँस तक लेने की फुरसत नहीं देते थे। उसका नाम क्या है यह तक किसी को नहीं मालूम था और न किसी को इसे जानने में कोई रुचि थी। उपन्यास बताता है कि साम्प्रदायिक तनाव के दिनों में अपने-अपने सम्प्रदाय में लामबन्द हुए लोग हर किसी को पकड़-पकड़कर उसका धर्म और जाति बाँचने लगते हैं।

''यह बात छिपाकर आपने अच्छा नहीं किया।

कौन सी बात?

यही कि आपका नौकर मुसलमान है।

इसमें छिपाने की कौन-सी बात है?...रोज तो आपके सामने ही बीस दफ़े उसका नाम लेकर पुकारा जाता था...

महमूद, महमूद। आप सुनती नहीं थीं क्या?

पता नहीं। मुझे तो 'महँगू' सुनाई देता था।''

उपन्यास बताता है कि सामान्य दिनों में तो सब कुछ सामान्य तरीके से ही चलता है, किसी को किसी के धर्म से कोई खास मतलब नहीं होता। पर तनाव के दिनों में हम विशेष चौकस और चौकन्ने हो जाते हैं क्योंकि हमारे आस-पास दूसरे सम्प्रदाय के प्रति इस कदर ज़हर घोला जाता है कि मासूम बच्चे तक इसकी चपेट में आ जाते हैं। कथावाचक का ही बेटा जिसके घर महमूद काम करता है, एक दिन आकर बताता है—'' 'पापा' आज हमारे स्कूल में मुसलमान आए थे। बोलते हुए उसकी आँखें भय से फटी पड़ रही थी। जब कथावाचक ने पूछा कि मुसलमान कौन होते हैं? तो वह जवाब में बताता है—बच्चे पकड़ने वाले, आग लगाने वाले, छूरा भोंकने वाले।'' यह न केवल उस एक बच्चे की समझ है बल्कि सभी बच्चों को ऐसा ही बताया और समझाया गया है। जब उसे बताया जाता है कि महमूद भी तो मुसलमान है। इस पर वह साफ़ मुकर जाता है कि नहीं महमूद तो भाईजान है वह मुसलमान नहीं है। अर्थात् हम प्रायः एक दूसरे धर्मावलम्बियों के प्रति इसी तरह की बेसिर पैर की अफ़वाहों और अपवादों के साथ बड़े होते हैं, उनके साथ हमारा प्रायः कोई सीधा अनुभव जगत नहीं होता इसीलिए वास्तविकता से परे हम इन बे सिर पैर की बातों पर यकीन करने लगते हैं। जो सीधे दूसरे धर्मावलम्बियों के सम्पर्क में रहे होते हैं उनके अनुभव भिन्न होते हैं। उपन्यास में बताया गया है कि मुसलमानों की छवि को लेकर गढ़े गए ऐसे अपवाद नियोजित तरीके से बावरी मस्ज़िद विध्वंस के समय फैलाए जाने लगे थे।

लेखक हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता को लेकर काफ़ी गम्भीर है। वह इसकी जड़ तक में पहुँचना चाहता है। इसलिए शास्त्रीजी को पर्याप्त अवसर दिया जाता है कि वे अपनी बात रखें। कथावाचक और उनके बीच की बहस उपन्यास में अच्छा खासा स्थान घेरती है। हिन्दू साम्प्रदायिकता का आधार वह इतिहास बताया जाता है जिसे हिन्दुओं ने इस्लामिक शासन काल के दौरान जिया, ''आप काशी में, मथुरा में जाकर देखिए। किस तरह मन्दिर की छाती पर चढ़कर मस्ज़िद मूँग दल रही है। इसी मथुरा में सिकन्दर लोदी ने मन्दिरों को तोड़कर मूर्तियों के भग्न अवशेषों से कसाइयों के बटखरे बनवा दिए थे। हमारे इन मर्मस्थलों पर आक्रांताओं को घाव करने की क्या जरूरत थी? और अगर यह ज्यादती, यह भूल हुई तो इसे सुधारा क्यों नहीं जा सकता?'' हिन्दू साम्प्रदायिकता यह मानती है कि किसी भी जीवित जाति के इतिहास में चार-पाँच सौ बरस कोई बड़ी बात नहीं। दूसरी ओर लेखक की मान्यता है कि इतिहास में की गई गलतियों का परिमार्जन

वर्तमान में करने चलेंगे तो बात बहुत दूर तक जाएगी क्योंकि लेखक आज के कितने ही मन्दिरों के नीचे ध्वस्त बौद्ध विहारों के अवशेष दबे हैं। अगर बौद्धगण आज अपने ध्वस्त बौद्ध विहारों का पुनर्निर्माण उन्हीं गर्भगृहों पर करने की जिद शुरू कर दें तो...साढ़े चार सौ साल पुरानी गलती का सुधार शुरू हुआ है तो लगे हाथों इक्कीस-बाईस सौ साल पुरानी गलती भी सुधार ली जाए।...हिन्दू साम्प्रदायिका का दूसरा बड़ा आधार वह डर है जिसके तहत एक-एक मुसलमान चार-चार शादियाँ करके और एक-एक से चौदह-चौदह बच्चे पैदा करके अपनी आबादी बढ़ा रहा है और एक दिन आएगा जब इनकी आबादी भारत की दो-तिहाई आबादी हो जाएगी क्योंकि ये तो परिवार नियोजन पर भी विश्वास नहीं रखते। तब दो-तिहाई के बहुमत से देश का संविधान बदल कर ये भारत को एक इस्लामिक कन्ट्री बना देंगे। तब फिर से सारे मन्दिरों को तोड़-तोड़कर मस्ज़िदें बनाई जाएँगी। देश पर फिर बाबर की सन्तानों का राज होगा और भारत माता जार-जार रोएगी। इसीलिए हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन बराबर यह प्रयास करते हैं कि मुसलमान या तो देश छोड़कर चले जाएँ और अगर वे भारत में ही रहना चाहते हैं तो हिन्दुओं की अधीनता स्वीकार करके रहें। देश का संविधान उन्हें यह इज़ाजत नहीं देता इसलिए ये साम्प्रदायिक संगठन समय-समय पर इतिहास के उन मुद्दों का उठाते रहते हैं जिनसे मुसलमानों को यह संकेत देते रहें कि वे उनके अत्याचारों को भूले नहीं हैं। देश का विभाजन भी हिन्दू साम्प्रदायिकता का महत्वपूर्ण आधार है। उनके अनुसार देश विभाजन का एकमात्र कारण मुसलमान हैं और जब उन्होंने देश के टुकड़े कर ही दिए तो फिर अब देश के सारे मुसलमानों को पाकिस्तान चले जाना चाहिए। लेखक ने इस उपन्यास में पहले कारण का तो फिर भी तार्किक जवाब देने की कोशिश की है पर दूसरे और तीसरे आधार का कोई सटीक जवाब लेखक ने नहीं दिया है। लेखक भारतीय जनगणना जो हर दस साल में होती है, से आँकड़े लेकर दूसरी आशंका का समाधान कर सकता था। रही देश विभाजन की बात तो उसका कारण सत्ता के अभिलाषी हिन्दू शिष्ट समुदाय और मुसलमान शिष्ट समुदाय दोनों थे। हिन्दू साम्प्रदायिकता का एक बड़ा कारण जिसकी ओर लेखक ने कोई ध्यान नहीं दिया, वह आजादी के बाद सरकार की मुलसमानों के प्रति तुष्टिकरण की नीति है जिसके तहत सभी सरकारें मुस्लिम समुदाय को केवल धार्मिक समूह के रूप में देखती और पहचानती है, उसके आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थान के लिए प्रयासरत नहीं रहतीं।

हम सब जानते हैं कि भारतीय समाज और राजनीति में मण्डल और कमण्डल का आगमन आगे पीछे ही हुआ है। कमण्डल की राजनीति जो अपने से पूर्व राजनीति का ही अलग पड़ाव थी, ने जहाँ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की स्थिति को तेज कर दिया वहीं मण्डल की राजनीति ने जातीय ध्रुवीकरण को बढ़ा दिया। अब न केवल विभिन्न जातियाँ (दलित, पिछड़ी, अगड़ी) लामबन्द होने लगी बल्कि सभी अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिए आपस में ही उलझने लगीं। इस दृष्टि से शिवमूर्ति ने न केवल दलित-सवर्ण संघर्ष जो काफ़ी हद तक हिंसात्मक हो चुका है, को उपन्यास

में बखूबी उकेरा बल्कि पिछड़ी जातियों का आपस में लामबन्द होना और सवर्णों के साथ उनके टकराव को भी उजागर किया है। उपन्यास के कथावाचक, शास्त्री जी, क्लब का चौकीदार और दरोगा जी सभी तीनों-चारों पिछड़ी जातियों से आते हैं। फिर भी सभी की जातीय चेतना भिन्न है। कथावाचक ने अपने ऊपर जातिगत अस्मिता को हावी नहीं होने दिया। शास्त्री जी अपने आपको अगड़ी जातियों में शामिल कराने की पुरजोर कोशिश में लगे हैं। दरोगा जी और क्लब का चौकीदार का जातीय बोध उन्हें आपस में जोड़ता है, सुख-दुख में एक दूसरे के साथ रहने और देने की आन्तरिक प्रेरणा देता है। क्लब का चौकीदार अपनी ही जाति के मुख्यमंत्री को मिसराजी द्वारा (...कोई अपने असल बाप के बीज का पैदा निकले जो इस मुख्यमंत्री को गोली मार दे तो नगद दस हजार इनाम दूँगा। मुँह चूम लूँगा ऊपर से।) गाली दिए जाने पर जहाँ क्षुब्ध होता है वहीं इसी प्रसंग में दरोगा जी द्वारा मिसरा जी को चुनौती दिए जाने से (मुँह सम्भाल के बोल बे बाभन, नहीं तो...) उसकी झुकी पीठ सीधी हो जाती है क्योंकि उसकी जाति के मुख्यमंत्री के अपमान का बदला उसी के जाति भाई दरोगा द्वारा ले लिया जाता है। वह दरोगा के इस कृत्य को मर्दों का काम कहता है। इसी प्रसंग में कथावाचक की जातीय अस्मिता को झकझोरता हुआ वह व्यंग्य करता हुआ वह कहता है –''...और आप एक ठो नौकरी क्या पा गए, सब भूल गए। एकदम खिलाफ़ै हो गए...लगता है कभी उनका (ब्राह्मणों, ठाकुरों) लात-जूता नहीं मिला खाने को?...हमारी सिफ़ारिश को मारो गोली। मुला एक बार दरोगा जी को देख तो आओ।...बड़ा मरद आदमी निकला जवान।'' कहने के साथ बूढ़ा (क्लब का चौकीदार) कमर सीधी करके चलने लगा है।''

पिछड़ी जातियों द्वारा अपने सामाजिक–सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाकर समाज में मान्यता हासिल किए जाने के प्रयासों को भी उपन्यास में देखा जा सकता है। उपन्यास में शास्त्री जी जो मूलतः पिछड़ा वर्ग से हैं अपने आपको क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए क्या-क्या पापड़ बेलते हैं, इस पर लेखक ने अच्छा व्यंग्य उन्हीं का वर्ग के अन्य पात्र से करवाया है। क्लब का चौकीदार शास्त्री जी की पोल पट्टी खोलते हुए कहता है–''लड़कों के नाम में 'चन्देल' जोड़ दिया है। कहते हैं कि हमारे पुरखों ने बिहार पर कि बंगाल में कहीं चालीस-पचास साल राज किया है। और जनजातियों को एक बार सर पर छत्र धारण करने का मौका मिल गया, बे सब छत्री हो गए।'' साफ़ पता चलता है कि लेखक ने इस प्रकार की प्रकार की प्रवृत्तियों का कहीं समर्थन नहीं किया। पर यह भी ध्यान रखा कि इस पर व्यंग्य किसी अन्य वर्ग से न करवा कर उसी वर्ग के अन्य पात्र से करवाया है। जब उद्देश्य जाति और वर्णविहीन समाज बनाने का है तो उसमें दलित क्षत्रिय और ब्राह्मण सब बराबर है। जो लोग केवल अपनी-अपनी जाति छिपाने और उसे उच्च जातिगत पहचान दिलाने में जुटे हैं वे वास्तव में जाति व्यवस्था का निवारण चाहते ही नहीं हैं। वे केवल स्वयं को उस नरक से निकाल कर बाकियों के साथ वही व्यवहार करना चाहते हैं जो कल तक उन्हीं के साथ होता था। शास्त्री जी के चरित्र को जिस तरह से लेखक

ने गढ़ा है उससे यही संकेत मिलता है कि जातीय उत्थान का यह रास्ता गलत है।

दलित और सवर्ण टकराव भी उपन्यास का एक और महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। इस टकराव को भी लेखक ने बदली हुई परिस्थिति में उकसे बदले हुए रूप में ही प्रस्तुत किया है। कथावाचक अपने कार्यालय के किसी बाबू के यहाँ बेटा पैदा होने पर उसके जन्मोत्सव पर उसके गाँव जाता है। यह मण्डल के बाद का बदला हुआ गाँव है। यहाँ जातीय अस्मिता में रचे-बसे गाँव के दर्शन होते हैं। यहाँ बिना जाति जाने कोई आगे कदम नहीं बढ़ाता। कथावाचक का बाबू इसी कारण यहाँ आते ही कथावाचक के नाम में 'सिंह' जोड़ देता है। जिससे गाँव के लोग उन्हें ठाकुर मानकर नाहक उनकी जाति खोजने का प्रयास न करें। गाँव में एक बाबा (बाबा पागलदास) हैं जिनकी दूर-दूर तक के गाँवों में ख्याति है किन्तु गाँव के सवर्ण उनकी कुटी पर जाने ओर उनके सामने पड़ने से कतराते हैं। ''दिक्कत खास कुछ नहीं। बात यह है कि बाबा छोटी जाति के हैं। उनके सब चेले भी छोटी जाति के हैं इसलिए हम लोग कभी जाते नहीं वहा...'' गाँव के जनार्दन द्विवेदी कहते हैं। अब उनकी समस्या देखिए जैसे बड़ी ही सच्चाई से वे स्वीकार भी करते हैं—''कभी-कभी कोई बात इतनी छुपाने वाली होती है कि हम अपने मन में उसे सोचने से भी कतराते हैं। उसी तरह की सच्चाई यह भी है कि एक सामान्य ब्राह्मण एक नीची जाति को (चाहे वह कोई नामी साधु ही क्यों न हो।) वह भी अपने गाँव में प्रणाम करे, यह....यह.... अपनी तो असम्भव है।'' हम सभी जानते हैं कि शहरों स्थिति भिन्न है। शहरों में अपेक्षाकृत सोच व कर्म में उदारता आ गई है पर ऐसा कैसे है कि हम ही जब गाँव में होते हैं तो भिन्न तरह से सोचते और व्यवहार करते हैं और जब शहर में होते हैं तो भिन्न तरह से। गाँव के जर्नादन द्विवेदी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। (एक विचित्र बात और सुनिए। जैसे ही गाँव छोड़कर शहर जाता हूँ, सोच और व्यवहार में उदारता आ जाती है। पर वे दकियानूसी विचार रास्ते में ही कहीं छिपे इन्तजार करते रहते हैं जैसे ही लौटता हूँ फिर कंधे पर सवार हो जाते हैं।) वास्तव में देशकाल और वातावरण का हमारे व्यवहार पर गहरा प्रभाव होता है। उसके साथ हमारे सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्यवहार की संगति कहीं हमारे अवचेतन मन में विद्यमान होती है। हमारे अन्तर्मन में विद्यमान इस संगति का हमारे बाह्य संसार में कोई तार्किक कारण न होने पर या बहुत स्पष्ट न होने पर भी व्यवहार में उसका असर स्पष्ट दिखलाई पड़ जाता है। यद्यपि इसे हम बराबर सायास प्रयास से नियंत्रित, सीमित और परिवर्तित कर सकते हैं। मनोविज्ञान की भाषा की भाषा में इसे हमारे परिवेश के साथ हमारे व्यवहार की कंडिशनिंग कहा जा सकता है। शहरों के बनने और विकसित होने की पृष्ठभूमि में धर्म और जाति का वह स्वरूप शामिल ही नहीं है जो भारतीय ग्रामीण व्यवस्था का आधार रहा है। शहर व्यक्ति को इकाई मानता है और उसे उसका प्राप्य उसके व्यक्तिगत गुण-दोष के आधार पर देता है। गाँव धर्म और जाति को इकाई के रूप में स्वीकारता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उसके व्यक्तिगत गुण-दोषों के आधार पर न देकर उसकी जाति और धर्म के आधार

पर देता है।

त्रिशूल में नब्बे के बाद का भारत है। इस भारत में सवर्ण और दलित के सम्बन्ध काफ़ी हद तक बदल चुके हैं। दलितोद्धार की विभिन्न गतिविधियाँ स्वयं सवर्णों द्वारा भी संचालित की जाती थी और प्रायः दलितों द्वारा सवर्णों की ओर बड़ी आशा और बेचारगी के साथ देखा जाता था। समाज को कब, कैसे और कितना बदलना है इसके निर्धारक सवर्ण ही थे। अतः उदारता और सहानुभूति के भाव से भरे सवर्णों और कृतज्ञता से दबे दलितों के बीच टकराव और वह भी हिंसात्मक टकराव की घटनाएँ काफ़ी कम थी। अब स्थिति बदल गई है अगड़ी, पिछड़ी और दलित जातियाँ अब अपेक्षाकृत अधिक लामबन्द होने लगी हैं। उनके जातिगत समीकरण अब बदल रहे हैं। दलित और पिछड़ी जातियाँ अपने सामाजिक और राजनैतिक उत्थान के लिए स्वयं प्रयासरत हैं। दूसरों के नेतृत्व में खड़ा होने से अधिक अब वे अपना नेतृत्व खुद खड़ा करने लगीं है। उनकी आत्मनिर्भरता को देख और अति उत्साह में उनके प्रतिक्रियावादी व्यवहार से बिदक कर अगड़ी जातियाँ अपनी सारी उदारता और सहानुभूति भूल अपना वर्चस्व पुनः कायम करने हेतु उनसे उलझ पड़ी हैं। वे हिंसात्मक रुख अपना रही हैं यद्यपि पिछड़ी और दलित जातियों की ओर से उन्हें बराबर कड़ी टक्कर मिल रही है। उपन्यास के जनार्दन द्विवेदी अगड़ी जातियों की इन बदली हुई मानसिकता के द्योतक हैं—''हम भी बराबरी के कायल हैं। युगों से दबे-कुचले इन लोगों की गरीबी दूर हो। अशिक्षा और अज्ञान दूर हो। धार्मिक कुरीतियों की जकड़न से मुक्ति मिले। लेकिन इनके अन्दर ऊँची जातियों के प्रति नफ़रत की भावाना भी बढ़ रही है। ये हम लोगों के खेत में मजदूरी नहीं करते ताकि हमारे खेत परती पड़े रहें। हम पेरशान हैं। इनके नए-नए लौंडे निकल रहे हैं, उनमें अवज्ञा का भाव इस कदर है कि आँखों में आँखें डालते हुए सामने से निकल जाएँगे, न 'पैलागी' करेंगे न प्रणाम। देखकर सूतीभर खून घट जाता है।...इसके चलते इनकी बात सही मानते हुए भी मन में इनके प्रति नजदीकी या सहानुभूति नहीं उभरती।'' यही कारण है कि जब बाबा पागलदास की कुटी पर लोकगायक पाले का सत्संग होता है तो उसके सभी तर्कों और बातों से सहमत होते हुए भी तिवारी जी रनवीरपुर की (अगड़ों की) सेना के हमले की निन्दा नहीं करते। सत्संग में दलितों द्वारा उठाए प्रश्नों और तर्कों का कोई तर्कपूर्ण जवाब जब अगड़ों को नहीं सूझता तो वे सत्संग में बाबा पागलदास और लोकगायक पाले पर सशस्त्र हमला कर देते हैं। इस हमले में निर्गुणी बाबा पागलदास मारे जाते हैं, उनका आश्रम जला दिया जाता है। अगड़े इस सब से प्रसन्न हैं कि इससे दलितों और पिछड़ों के बढ़े हुए हौसलों पर लगाम लगाई जा सकेगी। पर अब स्थिति बदल गई है। लोकगायक पाले अपने पास सशस्त्र स्वयंसेवक रखने के कारण न केवल बच जाता है बल्कि जोरदार टक्कर देकर अगड़ों के अंहकार को चुनौती दे भी जाता है। यद्यपि उपन्यास के अन्त में वह भी मारा जाता है पर इस संकेत के साथ की अब दलितों और पिछड़ों को हथियार के बल पर कुचलना उतना आसान नहीं रहा जितना पहले कभी इतिहास में सम्भव था। दूसरी ओर

आजाद भारत में दलित और पिछड़े भी उन जगहों और पदों पर पहुँच चुके हैं जिन पर कभी केवल सवर्णों का ही एकाधिकार था इसलिए शासन की ओर से भी सवर्णों को वह अन्ध समर्थन नहीं मिल सकता जैसा कभी द्रोण द्वारा क्षत्रियों (अर्जुन) को और राम द्वारा ब्राह्मणों (शम्बूक वध) को मिल जाया करता था। इसलिए बाबा पागलदास को मारकर और उसकी कुटिया जलाकर भी सवर्ण भयभीत हैं क्योंकि ''थानेदार तो सवर्ण है पर एस. पी. छोटी जात का है। वह दबाव बनाएगा तो थानेदार ढील नहीं दे सकता।'' इसलिए चैन अगड़ों का भी लुट चुका है। उपन्यासकार संकेत देता है कि जब तक इस नए आजाद भारत की सामाजिक व्यवस्था दुबारा से तय नहीं हो जाती तब तक स्थिति कमोबेश यही रहेगी। संविधान ने राजनीति क्षेत्र से यह शुरूआत कर दी है।

उपन्यासकार ने निश्चित रूप से सभी जातियों के अन्तर्मन को निष्पक्ष होकर टटोला है यद्यपि उसका दलित और पिछड़ी जातियों की ओर रहा है। धार्मिक मामले में लेखक पूरी तरह हिन्दू साम्प्रदायिकता पर केन्द्रित रहा है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बर्र का छत्ता समझ कर उसने उसमें हाथ डाला ही नहीं।

'चारपाई' कहानी-संग्रह तथा एक आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर कहानी, आलेख तथा समीक्षाएँ प्रकाशित।
मिराण्डा हाउस में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत।
सम्पर्क : 10 मिराण्डा हाउस, टीचर्स फ्लैट, छात्र मार्ग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
मोबाइल : 09910019108

टेकचन्द

प्रेमचन्द और रेणु की परम्परा का विस्तार

प्रेमचन्द और रेणु के बाद भारतीय गाँवों की किसी ने कायदे से सुध ली है तो वह शिवमूर्ति हैं। प्रेमचन्द और रेणु के बाद भारतीय गाँवों और उनके बाशिन्दों की क्या गति हुई इसकी जीवन्त प्रस्तुति शिवमूर्ति के कथा-साहित्य में मिलती है। जिस 'विश्वसनीय तरीके' से उन्होंने ग्रामीण परिवेश को अपने लेखन में स्थापित किया है वह प्रेमचन्द और रेणु के बाद सम्भव नहीं हो पाया। इस मायने में शिवमूर्ति प्रेमचन्द और रेणु को अपना पूर्वज मानते हैं। जब उनसे पूछा गया कि आप की सारी कहानियाँ, तीनों उपन्यासों का परिवेश ग्रामीण है। हिन्दी में कौन लेखक आपको दिखाई देते हैं। जिनके लेखन में गाँव का यह परिवेश विश्वसनीय तरीके से आया है? जिनको आप अपना पूर्वज मानते हों?[1] इस सवाल के जवाब में शिवमूर्ति कहते हैं उस रूप में तो प्रेमचन्द और रेणु ही दिखाई देते हैं। ...रेणु प्रेमचन्द के आगे की परम्परा के लेखक हैं। ...रेणु के बाद वैसा कलम का धनी मुझको दिखाई नहीं देता।''[2] शिवमूर्ति को पढ़ते हुए विश्वास होता जाता है कि उक्त पूर्वजों की विरासत को उन्होंने मज़बूती से सम्भाला है। प्रेमचन्द और रेणु के बाद भारतीय गाँवों पर बदली देशी राजनीति, अफ़सर शाही तथ वैश्विककरण के दबाव बढ़े। इस कारण गाँवों तथा जन-मन का यथार्थ और संश्लिष्ट हो गया। इस जटिल व संश्लिष्ट होते परिवेश का प्रमाणिक लेखा-जोखा शिवमूर्ति के कथा-साहित्य में मिलता है। अब तक शिवमूर्ति के तीन उपन्यास, एक कहानी संग्रह व एक नाटक प्रकाशित हुए हैं। कसाईबाड़ा में दिखता है कि सारा गाँव शोषण तन्त्र में शामिल हो गया हैं, त्रिशूल में गाँव का खराब होता धार्मिक माहौल है, तर्पण में एक दूसरे तरह का जातीय उभार है। आखिरी छलाँग तक आते-आते लगता है कि शहरी संस्कृति के सामने गाँव ने सरेन्डर कर दिया है।'[3] यह एक बेहद संक्षिप्त वाक्य एक है जो उन

के साहित्य पर प्रभात रंजन ने सवाल के तौर पर पूछा था। लेकिन उक्त तीनों उपन्यास और भी बहुत कुछ कहते हैं। त्रिशूल न केवल मन्दिर मण्डल की बल्कि आज के समाज कें व्याप्त उथल-पुथल और टूटन की कहानी है। देशव्यापी उथल-पुथल को कथ्य बनाकर लेखक जातिवाद के विरूप और साम्प्रदायिकता की साजिश को बेबाकी और निर्ममता से बेनकाब करता है। ओछे हिन्दूवाद को ललकारता है।''[4] हिन्दू मोहल्ले व परिवार में मुस्लिम नौकर 'महमूद' की कारूण कहानी गंगा-जमुनी तहज़ीब के अवशेषों के विनष्ट होने को दर्शाती है। मात्र एक घर का नौकर, महमूद तन-मन से पूरे हिन्दू मौहल्ले की सेवा करता है। सुबह से देर रात तक वह इस परिवार की जिन्न के से उत्साह से सेवा करता है। लेखक बताता है कि—लेकिन यह तो हुई उसकी घरेलू व्यस्तता। इससे बढ़कर व्यस्तता रहती है उसकी जनसेवा के चलते। मुहल्ले में हम लोगों के आने की अवधी ज्यों-ज्यों बढ़ रही है। उसकी जनसेवा का आयाम विस्तार पाता जा रहा है। मिसराजी के घर, मेरे दाएँ पड़ोसी लाल साहब के घर, उनके बगल में अकेली रहनेवाली मास्टराइन के घर उड़ा हुआ बिजली का फ्यूज़ जोड़ने के लिए इसी की बुलाहट होती है। इन घरों की औरतों की औरताना चीजें बाज़ार से लाने का काम भी धीरे-धीरे उसके जिम्मे लगता जा रहा है। दैनिक उपयोग की घरेलू चीजों के अलावा लाल बहू को रोज दोपहर में गोलगप्पे खाने की चाट पड़ी है। लाल साहब डेली पैंसेजरी करते हैं। जिस दिन सात वाली ट्रेन से नहीं लौटते उस दिन दस बजे वाली ट्रेन से रिसीव करने उनका स्कूटर लेकर स्टेशन पहुँचना भी महमूद के जिम्मे। इस बेगारी के लिए वे महमूद को देवर तक कह देती हैं। मास्टराइन का गैस सिलिन्डर भराने, शाही जी के गमलों की देखभाल और उनके क्लब का रजिस्टर सदस्यों के बीच घूमाने का काम भी यदा-कदा महमूद के ज़िम्मे पड़ने लगा है। पत्नी इन दिनों महमूद की जनसेवा से इतनी त्रस्त है कि आए दिन खीझती और भुन-भुनाती है। ...उस पर गवाही साखी की नौबत ऊपर से।'[5] इतनी सेवा का 'फल' यह हिन्दू मौहल्ला महमूद को इस रूप में देता है कि जब उनका कट्टरपन जोर मारता है तो महमूद की सर्वाधिक सेवा पाए शास्त्रीजी ही अपने पोते के अपहरण के झूठे केस में उसे फँसा देते हैं। यह प्रसंग बेहद दर्द भरा है। लेखक भी पसोपेश में है कि कहाँ से शुरू करूँ महमूद की कहानी? वहाँ से जब पुलिस उसे घर से घसीट कर ले जा रही थी...चौराहे पर लाठियों से पीट रही थी और मुहल्ले का कोई आदमी बचाने के लिए आगे नहीं आ रहा था। ...या जब इसी चौराहे पर वे लोग उसकी छाती पर त्रिशूल अड़ाकर मज़बूर कर रहे थे 'बोल साले जै सिरीराम...' जाड़े की कुहरे से अन्धी मध्य रात्रि। जेड़ की पत्तियों से टप-टप चूता पानी। थाने के अन्दर से रहरहकर उठता उसका आर्तनाद और सुनसान सड़क पर ठण्ड से ठिठुरते असहाय खड़े गीले होते हम...लेकिन क्या यह केवल महमूद की कहानी है? ऐसे कितने ही सवाल है जो त्रिशूल के ज़रिये 'ओछे हिन्दूवाद को ललकारते हैं'[6] कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जिस कर्मभूमि रंगभूमि में साझे संघर्ष का बिगुल बज़ाकर साम्राज्यवादी शक्तियों से लड़ते रहे वह संघर्ष यहाँ अन्तर्विरोधों में दम तोड़ता दिखाई दे रहा है। अन्धे सूरदास के नेतृत्व में सारा समाज

जाति-धर्म निरपेक्ष होकर आन्दोलनरत् था वही समाज 'मण्डल-कमण्डल' में डूबता मरता दिखाई दे रहा था। जैसे मस्जिद नहीं एक साझी परम्परा साझी विरासत ध्वस्त कर दी गई। महमूद इस साझी संस्कृति का प्रतीक है जो अपने ही लोगों द्वारा छला गया। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक मुजफ्फरनगर कांड से सुलगी आग बुझी नहीं है। शिवमूर्ति ऐसी स्थिति का आभास पहले ही कर चुके हैं 'हिन्दू जनमानस में मुसलमान की तस्वीर जानी दुश्मन के रूप में उभारी जा रही है।' साथ ही यह भी कह सकते हैं कि रेणु के गाँव वाले भारतीय राजनीति का जो ककहरा सीख रहे थे वे यहाँ मंजे हुए शातिर खिलाड़ी हो चुके हैं 'शास्त्रीजी' ऐसा ही एक चरित्र है। सारतः त्रिशूल कलेजे में उतर जाता है।

'आख़िरी छलाँग' भारतीय किसान द्वारा भविष्य भूमि पर लगाई गयी छलाँग है। किसानी 'मरजाद' पर जान दे देने वाला प्रेमचन्द का किसान यहाँ देश के विकास में अपना हिस्सा चाह रहा है। छोटी जोत का किसान 'पहलवान' बेटे को हर सम्भव इंजिनियर बनाना चाहता है। उसे लगातार उन दबाबों से जूझना पड़ रहा है जो सरकार के नीतियों के नाम पर उसके सिर पर बाद दिये हैं। 'पहलवान' का सारा जोर जैसे यथास्थिति से निकल जाने में लग जाता है। पहले ही दृश्य में वह भी होरी की तरह घर से निकलना चाह रहा है। होरी ज़मींदार को पालागन करने जा रहा है और धनिया उसे विदा करती है। पहलवान जा रहा है। लड़की के लिये वर खोजने। यहाँ भारतीय समाज सीधे बाज़ार की गिरफ्त में आया दीख रहा है। पहलवान को पहलवानिन तैयार कर रही है। ग़रीब से ग़रीब मा-बाज भी औलाद के दाम लगा रहे हैं। दुल्हा के मुँह जैसे फैजाबादी बन्डा चढ़े क माँगे हीरो होण्डा[7] पहलवान एक तरफ दहेज दानवों से परेशान है दूसरी और खेती में पैदावार से ज्यादा ''आनेवाली लागत से पहलवान मरजाद त्याग दो-दो हाथ करने को तैयार है। कभी-कभी पहलवान को बहुत तेज़ गुस्सा आता है। मन करता है कि लाठी उठाकर सब को पीट डालें। गाँव के हिस्से की बिजली शहर के पार्कों और सड़कों पर रात-रात भर जलाकर खत्मकर देने वालों को पीटें। गाँव के विकास का पैसा बीच में हड़प जाने वालों को पीटे। मिलावटी खाद और नकली कीटनाशक बेचने वालों को पीटें। फ़र्ज़ी मुकदमें में फँसाने वालों को पीटें। लाठी लेकर दौड़ते जाएँ और पार्कों और सड़कों के किनारे लगे हज़ारों बाट के बल्ब और ट्यूब तोड़ फोड़ डालें। यही बल्ब तो उनके गाँव के हिस्से की सारी बिजली सोखे ले रहे हैं। 15-16 रुपये की लागत से पैदा होने वाले गेहूँ का समर्थन मूल्य 8-10 रुपये तय करने वालों को पीटें...।''[8] किसान जीवन आज उतना एक रेखीय नहीं रह गया है जो प्रेमचन्द के समय था। आज किसान खेती को घाटे का काम मानता है जबकि उसकी फसल से व्यापारी लगातार फल-फूल रहे हैं। मात्र खेती किसानी की आमदनी लागत पूरी नहीं कर सकती। पहलवान यह बात अच्छी तरह समझ गया है कि जिस परिवार में बाहर से नगदी की आमदनी नहीं है उसका आज के ज़माने में गुज़र होना मुश्किल है। जैसे गड्ढ़े से खोदी गई मिट्टी उसी गड्ढे को भरने के लिए पूरी नहीं पड़ती वैसे ही खेती-किसानी की आमदनी खेती-किसानी के खर्चे भर

को भी नहीं अँटती। और कहाँ से अँटे। डीज़ल, बिजली खाद, कीटनाशक, जोताई मड़ाई मजूरी-सबका रेट तो हर साल दस पाँच रुपये बढ़ जाता है। नहीं बढ़ता तो किसान की पैदावार का दाम।'[9] शिवमूर्ति का किसान न केवल इन समस्याओं से जूझ रहा है बल्कि वह अमेरिका के किसान व सरकार के सम्बन्धों पर भी नज़र रखे हुए है। पहलवान और खेलावान की बातचीत एक बड़े विमर्श की तरफ ले जाती है। ''किसान के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा। इन्ही परिस्थितियों में ज़िन्दगी की नाव खेना है। पहलवान कुछ बोल नहीं रहे थे। केवल सुन रहे थे जिन किसानों का सब कुछ बना-सम्भला देखते हैं वह भी झूठ है। उनके घर में ज़रूर बाहर से चार पैसे भेजने वाला कोई होगा। खेती की कमाई से खेती का ही खर्च पूरा नहीं कर सकता कोई माई का लाल। दूसरे मुल्कों की क्या दशा है। मइया? क्या पूरी दुनिया के किसान इसी तरह हैं? न मरने में न जीने में। कोई खेलावन से पूछता है। ऐसा नहीं है। पश्चिम के देशों में किसानों को भारी साब्सिडी दी जाती है। सस्ती दर पर खाद बिजली, बीज दवा वगैरह मैंने कहीं पढ़ा था अमेरिका अपनी गायों को रोज चौबीस डालर की सब्सिडी देता है। एक डॉलर कितना होता है? पचास के नोट से जरा सा कम समझो। चौबीस डॉलर माने हज़ार रुपये से ऊपर रोज हज़ार रुपये? ऐसा कहीं ही सकता है। बिल्कुल ऐसा ही। खेलावन जोर देकर कहते हैं—तब जाकर वहाँ के किसानों को पोसाता है। अपने यहाँ किसानों के बारे में इस तरह सोचने वाला कौन है? अपने यहाँ क्यों नहीं सोचा जाता?[10] कोई और सोचे या न सोचे पर सुधीजन सोच सकते हैं कि प्रेमचन्द ने किसान को जिस मिट्टी पर छोड़ा था वह अब किस ज़मीन की ओर छलाँग लगा रहा है। 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर साधू को भोजन करा मोक्ष पाना चाहता है। इस फेर में वह सवा सेर गेहूँ कर्ज लेता है। जिसे चुकाने के लिये वह अपनी कई फसलें पंडित जी को दे देता है, खेत गिरवी रख अपने ही खेत में मज़ूर बन जाता है। भूखों मर जाता है। तो बेटे को विरासत में अपने ही खेतों में बेगारी मिलती है। इसी तरह का 'मोक्ष' 'आखिरी छलाँग' लगाकर पहलवान पाना चाहता है, लेकिन बेटे को इंजीनियर बनाकर। बेटे को इंजीनियर बनाने के लिए पहलवान खेत बेचने को तैयार है क्योंकि वह जानता है कि गड्ढे से खोदी गई मिट्टी उसी गड्ढे को भरने लिए पूरी नहीं पड़ती...जिस परिवार में बाहर से नगदी की आमदनी नहीं है उसका आज के ज़माने में गुज़ार होना मुश्किल है।''[11] जिस तरह 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर प्रेमचन्द के जीवन का असली पात्र है। वैसे ही पहलवान भी शिवमूर्ति का जीवन्त चरित्र है। आखिरी छलाँग की रचना प्रक्रिया से अवगत कराते हुए शिवमूर्ति लिखते हैं— उन्हीं दिनों गाँव गया तो पड़ोसी गाँव के वर्मा जी मिलने आए (मैं लंबी बीमारी के बाद स्वस्थ हुआ था) वर्मा जी अपने गाँव के सबसे बड़े जौतदार हैं। पाँच-छः एकड़ की जोत वाले। दो बेटियों और बेटों वाले वर्मा जी के बड़े बेटे का चयन गत वर्ष इंजीनियरिंग की परीक्षा में हो गया था। उन्हीं दिनों इंजीनियरिंग की फीस याकयक कई गुना बड़कर पचास-पचपन हज़ार सालाना हुई थी। पहले वर्ष की फ़ीस तो उन्होंने किसी तरह जमा

करा दी लेकिन दूसरे वर्ष इन्तजाम नहीं हो पा रहा था। इसके लिये वे अपना एक खेत बेचना चाहते थे, पर पत्नी सहमत नहीं थी। उनका कहना था कि जब दो-दो जवान बेटियाँ शादी के इन्तज़ार में घर में बैठी हैं तो बेटे की फ़ीस के लिए खेत बेचने से अच्छा है कि बेटे की पढ़ाई ही बन्द करा दी जाय।... बेटे के पढ़ाई भी ज़रूरी थी खेत भी बेचने से बचाना था। लेकिन कैसे? वही संकट इस कहानी का 'बीज' है।[12] स्पष्ट हो जाता है कि शिवमूर्ति उसी जीवन्त यथार्थ का सिरा पकड़कर आगे बढ़ रहे हैं जो परम्परा रूप में प्रेमचन्द और रेणु ने बुना था।

तर्पण शिवमूर्ति का तीसरा महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। तर्पण दलित जीवन को चित्रित करने वाला अपने ही ढंग का उपन्यास है। अपने ढंग का इसलिए कि इसमें दलितों को निपट शोषित व सवर्णों को सिरे से शोषक नहीं दर्शाया गया है। तर्पण में दोनों पक्षों के विपक्ष को भी देखा दिखाया गया है। दलितों सवर्णो के द्वन्द्वों की सीधी सी कथा है, किन्तु दोनों के चरित्र बेहद जटिल व संश्लिष्ट हैं। कहानी बहुत बड़ी नहीं किन्तु घटनाक्रम विशिष्ट है। गाँव में ब्राह्मण युवक चन्दर दलित युवती रजपत्ती से बलात्कार की कोशिश करता है। रजपत्ती और साथ की अन्य स्त्रियों के विरोध के कारण वह सफल नहीं हो पाता। उसे भागना पड़ता है। लेकिन दलित बलात्कार किए जाने की रिपोर्ट लिखाते हैं। 'झूठी रिपोर्ट' के इस अर्धसत्य के जरिये शिवमूर्ति हिन्दू समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था के घोर विखण्डन का महासत्य प्रकट करते हैं। इस पृष्ठ भूमि पर इतनी बेघकता पक्षता और ईमान के साथ अन्य कोई रचना दुर्लभ है।''[13] उपन्यास पढ़ते हुए इस बात का अहसास भी होता चलता है कि लेखक ने कहीं पक्षपात नहीं किया है। जो जहाँ है, जैसा है उसे उसकी पूरी रंगत के साथ कथा में रख दिया है। यही शिवमूर्ति की विशिष्टता है। वे जाति के आधार पर शोषक और शोषित की परिभाषा नहीं गढ़ते । वे समाज शास्त्रीय दृष्टि से संवेदना का ताना-बाना बुनते हैं। शोषक-शोषित के एक रेखीय नहीं बहुआयामी चरित्र की रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—ऑटोमेटिक रूप से आप जहाँ पैदा हुए हैं। वह आपके सोच की प्रभावित तो करता ही है। समाज की संरचना भी जटिल होती है। शोषक और शोषित की परिभाषा भी बदलती रहती है। जो जाति जहाँ प्रमुख हो जाएँगी वही शोषक बन जाएगी। शोषक और शोषित के लिए अलग-अलग जातियों का होना भी जरूरी नहीं है। दुनिया के सारे हरिजन शोषित हुए ऐसा तो नहीं है न? इसी नज़रिये से देखना चाहिए जो लोग वर्गीकरण कर देते हैं और इसी नज़रिये से देखना चाहिए। चीजों को, तो मेरे ख्याल से वे हकीकत से दूर हो जाते हैं।''[14] शिवमूर्ति इसी बोध के कारण हकीकत से दूर नहीं हो पाते। तर्पण में चित्रित अवध का गाँव, गाँव के चरित्र रजपत्ती भाई जी, मालकिन, धरमू पंडित इत्यादि अपनी पूरी आत्मा और शरीर से यहाँ प्रकट हुए हैं। दलितों का शोषण करने के लिये सवर्ण बिना पाप-पुण्य विचारे मनु की संहिताओं को आधार बनाते आए हैं। इसके प्रतिकार के लिये दलित भी सम्वैधानिक प्रावधानों तथा अम्बेडकरवादी विचारधारा को ढाल व हथियार की तरह प्रयोग करते हैं।

बलात्कार की कोशिश के बदले वे 'रेप' होने की रिपोर्ट लिखवाने की योजना बनाते हैं। ऐतिहासिक तर्कों के सहारे वे इसे झूठ नहीं स्ट्रटेजी मानकर चलते हैं। झूठ नहीं, स्ट्रेटजी! कलयुग में सिर्फ सच के भरोसे जीत नहीं हो सकती। वे तो हमेशा ही स्ट्रेटजी के तौर पर झूठ बोलते और जीतते आए हैं। सिर्फ एक झूठ बोलकर कि वे ब्रह्मा के मुँह से पैदा हुए हैं और हम पैर से, वे हज़ार साल से हमसे अपना पैर पुजवाते आ रहे हैं। अब एक झूठ बोलने का हमारा दाँव आया है तो हमारे गले में क्यों अटक रहा है।''[15] यहाँ होरी की तरह 'मरजाद' पालन में खुद को मारने वाला बोध नहीं है और न ही सूरदास वाला भाव कि वे हमारी झोंपड़ी जितनी बार जलाऐंगे हम उतनी ही बार फिर-फिर बनाऐंगे।''[16] यहाँ तो सारे वाद-विवाद से परे इज्जत की लड़ाई जीतने की कवायद है। मजदूरी आन्दोलन में वर्ग संघर्ष करने वाले पियारे को माई जी डेढ़ पंक्तियों में ही 'मार्क्सवाद' और 'आम्बेडकरवाद' का फर्क समझा देते हैं। 'वह वर्ग संघर्ष था। रोटी के लिए। यह वर्ण संघर्ष है। इज्जत के लिए। इज्जत की लड़ाई रोटी की लड़ाई से ज्यादा जरूरी है। इसीलिए इस लड़ाई के लिए सरकार ने हमें अलग से कानून दिया है। हरिजन एक्ट। हम इस कानून से इस नाग को नाचेंगे।[17]

लेकिन जातिवाद का जो नाग सदियों से दलितों, पिछड़ों का लहू चूस-चूसकर अमर हो गया है क्या उसे मात्र 'हरिजन एक्ट' से नाथा जा सकता है? एक्ट बनाया तो डॉ. अम्बेडकर ने लेकिन उसे लागू कौन करता है। सैंकड़ों वर्षों से सत्ता में सेंध लगाए बैठा वर्ग ही दरोगा, मुन्शी, सी.ओ. कप्तान, जज और नेता, मन्त्री है। फिर कानून कैसे अपना काम करे? घोड़े को ज़बरदस्ती नदी तक तो लाया जा सकता है लेकिन पानी वह अपनी मर्जी से ही पियेगा। रपट लिखवाने में ही दलितों की हालत खस्ता हो जाती है। थाने का दृश्य बेहद वीभत्स किन्तु यथार्थपरक है। खूब हिम्मत कर जब ये लोग थाने पहुँचते हैं तो वहाँ लोगों को गैर कानूनी ढंग से सींखचों में ठूँस रखा था। अपने बन्द आदमी को खाना देने आई औरत की स्थिति और बात भाई जी विक्रम व पियारे को हिलाकर रख देती है। हवालात में बन्द आदमी को टट्टी-पेशाब तक की इजाजत नहीं ''मार-मार के खलरी उधेड़ दिए हैं। न खाना, न पैखाना। धमकी देते हैं कि डकैती में फँसा देंगें। फँसा दोगे तो फँसा दो। चाहे फाँसी पर चढ़ा दो। खस्सी बेच के आठ सौ मिला है। तीन हज़ार कहाँ से लाएँ? चार दिन से बैकल बौरही की नाई दौड़ि रहे हैं। ग़रीब आदमी की कोई सुनवाई नहीं। कोई साथ देने वाला नहीं। तीन छोटे बच्चे हैं। उन्हें कोई दाना पानी देने वाला नहीं। नहीं छोड़ना तो जेहल भेजो। ई का कि कुकुर-बिलार की नाई बन्द करके कोंच रहे हो। भगवानों इनही लोगन की तरह आन्दर-बहिर होई गए हैं।''[18] पहला ही अनुभव इन्हें भावी संघर्ष के अग्निपथ का बोध करवा देता है। शोषक भी दौड़ता-फिरता है शोषित भी। थाना, कोर्ट-कचहरी, जज, गवाह सब दोनों से माल ऐंठते हैं। पैसा खिलाकर चन्दर न केवल छूट जाता है—सवेरे मोटर साईकिल पर फट-फट करते हुए चन्दर चमरौटी की गली में तीन चक्कर लगाता है। माथे पर चुनरी वाले अँगोछे को बाँधकर और कन्धे

पर बन्दूक टाँगकर देखकर पूरे टोले में सन्नाटा छा जाता है।... तो क्या सिर्फ दिन भर की गिरफ्तारी के लिए इतनी कोशिश-पैरवी की गई।[19] स्पष्ट हो जाता है कि-''खाली कोशिश-पैरवी नहीं काम आती थाना पुलिस में ले जाके मोटी थैली कुरै' दिया होगा। रुपये की माई पहाड़ चढ़ती है। फूँस की गंगा में खून-कतल तक धुल जाता है।''[20] रिश्वत देकर छूटा चन्दर और ज्यादा खूँखार होकर उभरता है। कानून और थाना-तहसील का डर भी जाता रहता है। चमरौटी में हड़कम्प मच जाता है। जो लोग धरमू पंडित और उसके बेटे चन्दर के खिलाफ लामबन्द हुए थे उनमें फूट पड़ गई। सभी अपना-आपा बचाते घूम रहे थे—''सुनते हैं टोले के कुछ कमज़ोर दिलवालों ने धरमू के दरवाजे पर जाकर सरेन्डर कर दिया है। हमसे इस झगड़ें से क्या मतलब महाराज।''[21] लोग दहशत में हैं क्योंकि चन्दर और धरमू ने हरिजन एक्ट को भी धता बता दिया। जाने अब क्या हो? चन्दर को सजा दिलवाने के फेर में लोग खुद सजा भुगतने लगते हैं।''[22] रुपये की माई वास्तव में पहाड़ चढ़ गई और घूस-गंगा में चन्दर के सब पाप धुल गए''[23] ऐसा देखकर फरियादी को डराने वाले की भी जुट गए हैं ''तरह-तरह की बातें सुनकर रजपत्ती की माँ दहशत से मरती जा रही है। दो दिन से न खुद घर से बाहर निकली न बेटी को निकलने दिया।''[24] अब अगर थाने वाले रजपत्ती या उसके परिवार का बयान लेने आ रहे हैं तो भी उनकी गति अपराधी जैसी हो रही है। रजपत्ती का पिता ''पियारे घबरा जाता है। उसे भी गिरफ्तार करेंगे क्या? कोई भरोसा नहीं। थाने के हवालात में हो रही एक आदमी की दुर्गति देख चुका है। वह अन्धेरे में खेतों की तरफ खिसक जाता है।''[25] रजपत्ती को थाने में बुलाया है। लड़की अगर थाने गई...लवंगी कह रही है—''चन्दर से तो बच गई। अब थाने के सिपाहियों से बच जाए तो जानें। तेरह हैं तेरह। अब देखो तमाशा बिना दामाद का पाँव पूजे ही नाना बन जाऐंगे। अबल्यों तब न बनी अब बनी।''[26] भगदड़ सी मच जाती है। ...भाई जी हिम्मत बँधाते हैं तो विक्रम जोश पैदा करता है। वे लोग पियारे और रजपत्ती को मजबूती से बयान देने की बात कहते हैं। पूरा टोला फिर जुट जाता है। क्योंकि आगे बढ़ने में ही भला है। भाई जी ने रजपत्ती को समझा दिया जाता है कि सारे मुकदमें का दारोमदार तुम्हारे बयान देने पर ही है बिटिया दरोगा से भी बड़ा पुलिस का हाकिम लेगा बयान।''[27] कितने लोग कितनी दफा लेंगे बयान घबड़ा जाती है रजपत्ती। एक बार उसके ननिहाल की एक मल्लाह की लड़की का ऐसा जानलेवा बयान तीन-दिन तक थाने के सिपाही-दारोगा लिए थे कि वह बेहोश हो गई थी।...इस बार फूलन गाँव में बोट माँगने आई थी तो बता रही थी जेल में औरत की बस जान नहीं निकालते। बाकी सब करम कर डालते हैं।''[28]

दोनों तरफ हालात बदतर थे। रजपत्ती की शिकायत ही उसके लिये आफत बन गई थी। धरमू पंडित रिश्वत और जान पहचान का सहारा ले रहे थे तो चन्दर की (माँ चमर दोख भगाने को) टोने-टोटकों और पूजा पाठ का। रसपत्ती के ससुर को कुल खानदान की इज्जत के साथ इस बात का भी डर था कि 'कल को इसी बात बयान'

के चलते बिरादरी भोज-भात माँगने लगे तो उसका खर्चा कौन देगा।''[29] सभी के अपने अपने डर, शंकाएँ और असमंजस हैं। लेखक ने हर एक को तौल-ताल कर चित्रित किया है। उक्त हालात में गाँव-ज्वार के लोग किन मनःस्थितियों से गुजर सकते हैं लेखक से छिपा न रहा सब का सब बिना लाग लपेट के प्रस्तुत कर दिया। यहाँ पता चलता है कि संविधान की पीठ पर आज़ादी मनाते देश में दलितों पिछड़ों की स्थिति आज तक वैसी ही थी। पहले सामंती समाज से डरते थे आज उनकी पुलिस से । कानून जैसे अगड़ों की बपौती हो चला था। सम्भावित भविष्य और भोगे गए अतीत को लेकर दोनों पक्षों के भय व आक्रोश हैं– हथकड़ी। हथकड़ी लगवा दिया चमाइन ने ठाकुरों-बामनों की औरतें दाँतों तले उँगली दबा रही हैं। इब इन्हीं लोगों का ''राज'' रहेगा। कलयुग में।''[30] दूसरी और भी भोगे हुए अतीत को लेकर देह-मन में आक्रोश व्याप्त हैं। आपको तो ऐसी भी नजीर मालूम होगी, जिसमें सुप्रीम कोर्ट ने होल्ड किया हो कि बामनों को चमाइन पटकने की छूट है। तभी बाप पूत दोनों जन जुट पड़े हो।''[31] खूब उठा पटक होती है। चन्दर को जेल भी होती है। चमारों में खुशी बामनों में गम की लहर दौड़ जाती है। चन्दर जेल से ना छूटे इसके लिये दलित समाज चन्दा भी करता है। चन्दर की अम्मा को खबर लगती है तो चमारों की एकता पर अपनी बिरादरी को कोसती है। एक उन लोगों की बिरादरी है कि एक की लड़ाई को सब अपनी लड़ाई समझ रहे हैं। एक हम लोगों की बिरादरी है कि सब दूर से मजा ले रहे हैं। या इस डर से चुप हैं कि उनके खेत में चमार काम करना न बन्द कर दे।''[32] प्रेमचन्द के बाद भारतीय ग्रामीण समाज में आया यह एक बड़ा बदलाव था। अब दलित सवर्णो के खेत में मजूरी करने से इंकार कर सकते हैं। दलितों का 'असहयोग' सवर्णो को असहाय बना सकता है। आखिर अपनी-अपनी फसल सबको प्यारी होती है। कानून के सहारे यह एक बड़ा बदलाव है जिसे शिवमूर्ति ने बखूबी पकड़ा है। अब सवा सेर गेहूँ के शंकर और उसके बेटे को बेगार कर मरने की ज़रूत नहीं। चमार किसी भी हाल में टूटने को तैयार नहीं है। पंडिताइन पचास रुपये देकर रमझारि की दादी को तोड़ना चाहती है तो वह अलग ही तेवर दिखाती हुए कह देती है। पचास रुपल्ली में धरम लेने चली है पहले : वैसे' धरम लेता है बेटा फिर 'ऐसे' धरम लेती है महतारी। नहीं बेचना हमें अपना धरम।''[33] यही वह तेवर वह रंग है जो आज़ादी के बाद ग्रामीण दलित समाज में आया है। इसका आधार अम्बेडकरवादी किया धार तथा मनु स्मृति के बरक्स रचे गए समता मूलक संवैधानिक प्रावधान हैं। संवैधानिक प्रावधानों के पालन तथा मनुस्मृति की अवहेलना पर सवर्ण बुरी तरह दुखी हैं। दरअसल कानून ही बड़ा जालिम बनाया गया है। चमारों के लिए।...शहर के हाकिमों ने ऐसा शिकंजे वाला कानून बनाया ही क्यों? अपने शहर में चलाते रहे अपना कानून। हमारे गाँव में हमारा कानून क्यों नहीं चलने देते है'[34] पाला बदल चुका है। दलित अब उस पाले में हैं जहाँ जीत तय मानी जाती है। वहाँ से चले 'दाँव' की काट नहीं है। यह दाँव कानून है–'बड़ा

बेढ़ब कानून है मामा जी बताते हैं। जैसे पहले ब्रह्म-हत्या का कोई प्रायश्चित नहीं था वैसे ही अब इस 'चमर दोखी' कानून की कोई काट नहीं है। जेल जाने के सिवा। ब्रह्म-हत्या का पाप तो हत्या हो ने पर लगता था चमरदोख तो चमार कह देने मर से लग जाता है। भइया चमार को चमार न कहें तो क्या कहे?'' शौक से कहिये लेकिन पहले जेल जाने के लिए सतुआ पिसान बाँध लीजिए।''[35] धरमू पंडित ने दिन रात एक कर दिया। चमार भी जुटे रहे। चन्दर दो महीने जेल में रहा। तमाम तिकड़म लगाकर धरमू पंडित चन्दर की ज़मानत करवाने में कामयाब होते हैं। चन्दर और खूंखार होकर जेल से बाहर आता है। वह जेल से गाँव तक नेता की तरह जुलूस लेकर चलना चाहता है। 'चन्दर भईया जिन्दाबाद' के नारों के बीच वह गाँव आता है। अब चन्दर खिलाफत करने वालों को निपटाने का बीड़ा उठाता है। गाँव भर के तनाव व्याप्त है। जेल में बने नए 'सम्बन्धों' के कारण चन्दर सीधे मचरौटी में धावा मारता घूमता है। 'चमारो' की नाच का करिन्गा (विदूषक)[36] चन्दर के जेल प्रसंग को नाटकीय ठंग से पेश करता है। 'तो जेल जाने पर उनकी पंडिताइन कैसे रोती है।'' कैसे लौंडिया अरे पूत के कुकर में धरमू गए जेहलखनावा गर जेहलखनावा हो गए जेहलखनवा मुंगरन मार परत होई हैं।''[37] चन्दर और उसका परिवार बेहद अपमानित महसूस कर रहे हैं। चन्दर बदला लेने की ठान लेता है। वह सबसे पहले इस सारे प्रकारण के सूत्रधार भाई जी थी अकल ठिकाने लगाने की सोचता है। हलवाहिन की खबर पर वह माई जी को मीठे पर फेरता है। ''गुस्सा होने के बाबजूद वह इतना मूर्ख नहीं है कि अपनी लायसेंसी बन्दूक से दिन दहाड़े मर्डर करके फाँसी चढ़ जाए लेकिन ललकारते हुए एकाध मील दौड़ाने और दो-चार हवाई फायर करने से ही धाक जम जाएगी। हमेशा-हमेशा के लिए गाँव में आना बन्द कर देगा। यह डर गया तो टोले को पस्त करने में कितना समय लगेगा''[38] 'धाक जमाने' और 'टोले को पस्त' करने का यह दाँव चन्दर पर उल्टा पड़ जाता है। जान बचाकर पेड़ पर चढ़ भाई जी पर वह दो फायर करता है। तीसरा फायर करने के लिये वह पेटी से कारतूस निकालता है। इतने अन्तराल में ही झाड़ी में दुबका मुन्ना बाहर आता है और डण्डे का भरपूर वार चन्दर के सिर पर करता है। चन्दर बेहोश। भाई जी पेड़ से उतरकर मुन्ना को चाकू पकड़ाते है कि ''काट ले साले की नाक। फिर मौका नहीं मिलेगा। चारों तरफ नाम हो जायेगा''[39] बोहोश चन्दर की नाक काटकर दोनों भागते हैं। छिपी हलवाहिन पूरे गाँव में हल्ला कर देती है। हमला करने वाले फरार हैं। हड़कम्प मचा है। कोई रिश्तेदारी, कोई शहर। जो जहाँ खप सकता था खप गया। आसपास के गाँवों के ब्राह्मण चन्दर की कटी नाक को अपनी इज्जत से जोड़कर देखते हैं। वे चमारों को सबक सिखाने के ठानते हैं तो चमार भी कट्टे बम के साथ मुकाबले को तैयार हैं। गाँव में पी.ए.सी. लग जाती है। बेहद तनाव भरे माहौल में गाँव और गाँव के लोग रह रहे हैं। घटनाक्रम एकदम नाटकीय मोड़ लेता है। भाई जी के बुलावे पर शहर पहुँचे पियारे को शहर जाकर गाँव के बनिये फेंकू से पता चलता है। पियारे

को पता चलता है कि चन्दर के ऊपर जानलेवा हमला व नाक काट लेने का शक भाई जी, पियारे और उसके बेटे मुन्ना पर है। पियारे भी इस तरह का अरमान पाले था। उसे मुन्ना पर गर्व होता है। ''कब से जोर जुल्म सह रही है उसकी जाति। पीढ़ियाँ गुजर गई सहते-सहते। कोई माई का लाल न पैदा हुआ मुहाँ-मुँही जवाब देने वाला। और आज उसके बेटे ने ऐसा कर दिखाया तो छिपे-छिपे घूमने का क्या मतलब? यह तो दुनिया-जहान में डंका पीटकर बताने वाला काम है। लेकिन नाक क्यों काटा? सीधे मूँड़ ही क्यों नहीं काट लिया।''[40] पियारे सीधे थाने पहुँचकर समर्पण कर देता है। और इल्जाम अपने सिर पर ले लेता है। घर-परिवार, वकील और मुन्ना के समझाने पर भी पियारे नहीं मानता और सारा इल्जाम अपने सिर लिये जेल जाने को तैयार है। ''नहीं वकील साहब मुझे जेल जाना है। जेल की रोटी खाकर पराश्चित करना है। इस पाप का पराश्चित कि कान-मूँछ दबाकर इतने दिनों तक उन लोगों का जोर-जुल्म सहता रह गया।''[41] मुन्ना की माँ भी इसी में उनकी 'मुक्ती' मानती है। ''जेल वाहन की जाली से मुँह सटाकर फागुन की ठंडी पुरवा की फेफड़े में मरता है। पियारे और आँखें मूँद लेता है। उसे लगता है जैसे पुरखों का 'तर्पण' करने के लिए 'गया-जगन्नाथ जी' जा रहा है।''[42] जैसे पियारे अपने साथ-साथ तमाम दलितों पिछड़ों के शोषण अन्याय, डर, भय और कायरता को बोध का तर्पण करने जा रहा है।

अपने बेटे मुन्ना के इस कारनामें को अपना बताकर सजा भुगतने के पीछे पियारे की मंशा किसी तरह यश कमाने की नहीं है। वह मुन्ना को तो बचा ही लेता है। साथ ही 'कान-पूँछ दबाकर इतने दिनों तक उन लोगों का जोर जुल्म सहता रहा''[42] जाने का प्रायश्चित भी करना चाहता था। जो काम नई पीढ़ी के मुन्ना ने किया उसे करना तो पियारे भी चाहता था लेकिन उसके डर ने उसे ये नहीं करने दिया। हाँलाकि उसके मन और आत्मा में आक्रोश पहले से ही व्याप्त था। चन्दर पर हमला करने की मंशा पर जब दरोगा पियारे से पूछता है तो पियारे मानों समूचे दलितों, शोषितों, पिछड़ों का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। ''कब से प्लान कर रहा था मारने कीं।'' बहुत दिन से सरकार। जब से इसने मेरी बेटी की राह रोकी बल्कि जब से मेरी बड़ी बेटी को इन लोगों ने डसा बल्कि और पहले-पचीसों-पचासों साल पहले। जब से इन लोगों का जोर-जुल्म देखा। एक युग से या कहिये पिछले जन्म से सरकार।''[43] वास्तव में यह कई पीढ़ियों का जन्म-जन्मान्तर का, सदियों का संताप था जो पियारे की कमज़ोर देह मगर दृढ़ आवाज से छलक पड़ राह था। ''तर्पण'' का अर्थ ही बदल दिया पियारे ने। पियारे ने पुरखों की जड़ता, प्रतिक्रियाविहीनता और सहनशीलता का तर्पण कर दिया। मुन्ना व भाई जी के रूप में क्रान्ति के अगुवाओं को भी बचा लिया। यहाँ होरी के मरने से गोबर पैदा होने वाले भाव-बोध का विस्तार है। समर्पण से ना केवल पियारे ने अपना जीवन सार्थक कर लिया बल्कि क्रान्ति का बिगुल भी फूँक दिया। जेल से छूटकर जिस बाजार के बीचों-बीच 'चन्दर जिन्दाबाद' के नारे लगवाता हुआ जीप पर सवार जुलूस सा निकालता है। उसी बाजार

के बीच से हथकड़ी लगवाए पियारे पैदल निकलना चाहता है। सींखचों के पीछे खड़े पियारे को जब उसी के वर्ग का चौकीदार फत्ते कहता है।'' वाह बहादुर इलाके में बिरादरी का नाम कर दिया। नाक और मुँह से धुँआ छोड़ते हुए पियारे कहता है—''लेकिन एक अरदास है फत्ते भइया। दीवान जी से कहिएगा, कल चालान कटे तो थाने से बाजार तक मुझे पैदल ही लेकर चले।''[44] यह फसल को नष्ट होने देकर शोषक को नष्ट कर देने वाले उस भाव का विस्तार है जो ''हलकू'' के माध्यम से प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया था। यहाँ उस विचार को ही नष्ट करने का भाव है जो विचार जातिगत उत्पीड़न का आधार है। चन्दर की खोपड़ी पर वार और नाक काटने का प्रतीकात्मक अर्थ भी। उसे खोपड़ी में पनपते 'असमानता' के विचार और जातिगत श्रेष्ठता की 'नाक काटना' एक युगान्तकारी घटना और क्रान्ति का सूत्रपात है।

शिवमूर्ति ने कुल जमा 116 पृष्ठ की छोटी सी रचना में महाकाव्यात्मक तत्त्वों का समावेश किया है। दलित जीवन का कोई पक्ष ऐसा नहीं है जो छूटा हो। तर्पण पढ़ने के बाद ये पंक्तियों सार्थक लगती हैं। ''अनेक चरित्रों के साथ अवध का एक गाँव अपनी पूरी सामाजिक, भौगोलिक संरचना के साथ यहाँ उपस्थित है। गाँव के लोग-बाग प्रकृति, रीति-रिवाज, बोली-बानी-सब-कुछ शिवमूर्ति के जादू से जीवित-जाग्रत हो उठे हैं। युगों की शापित चेतना जब अपने प्रतिरोध और प्रतिशोध पर परवान चढ़ती है तो उसकी नज़र वर्तमान तक ही महदूद नहीं रहती वह अतीत के सारे अभिशप्त पुरखों का तर्पण करती है और वैयक्तिकता सामूहिकता में ढ़लकर क्रान्ति का नया पाठ रचती है। संक्षेप में कहें तो तर्पण ऐसी औपन्यासिक कृति है जिसमें मनु की सामाजिक व्यवस्था का अमोघ संधान किया गया है। एक भारी उथल पुथल भरी यह उपन्यास भारतीय समय और राजनीतिक में दलितों की नई करवट का सचेत, समर्थ और सफल आख्यान है।''[45] इतने सशक्त ढंग से इतना जीवन्त कथानक इतने प्रभावी ढंग से रच पाना एक सशक्त भाषा के बिना से संभव नहीं हैं। जब भाव-संवेदन के स्तर पर शिवमूर्ति, प्रेमचन्द व रेणु की परम्परा में आते हैं तो उनकी भाषिक चेतना भी उसी परम्परा का निर्वाह करती है। अवध प्रान्त की बोली-बानी, खाँटी मुहावरे में यहाँ प्रकट हुई है। एक जीवन्त कथा की भाषा भी उतनी ही जीवन्त होनी चाहिये। शिवमूर्ति इस तालमेल को पहले से अन्तिम पृष्ठ तक बनाए रखते हैं। कथा के प्रारम्भ में ही गन्ने वे फसलों की किस्म और विशेषताएँ बताने में यह स्पष्ट हो जाता है। कि लेखक का अपनी कथा-भूमि से सीधा सरोकार है। ''बुलबुल गन्ना गल्ला बनाने के लिए छिलके का सिरा दाँत से खींचो तो पेड़ी तक छिलता चला जाता है।...पीली-पीली फूली लाही (अगैती सरसों) खेत में बित्ते-बित्ते भर के सिर हिलाते मटर के पोल्ले...'' फसलों को किसानी समझ के अलावा लेखक ने स्त्री मन को भी बखूबी प्रस्तुत किया है। चन्दर की बदतमीजी पर रजपतिया गुर्राकर 'खबरदार? 'दूर ही रहना' कहती है तो चन्दर खुद हैरान '' खबरदार? खबरदार बोलना कब सीख गई। इन 'नान्हों' की छोकरियाँ? इतनी हिम्मत।''[47]

इसके बाद वह चन्दर के लिये 'हरामजादे' शब्द का भी प्रयोग करती है। यह प्रेमचन्द के बाद की बदलती भाषा व रेणु के बाद की राजनैतिक चेतना के विस्तार से उपजी भाव-भाषा व राजनीति व कानून (समता मूलक कानून) की समझ से यह सम्भव हो पाया। राजपतिया की पुकार पर परेमा की माई की ललकार-पकड़-पकड़। भागने न पावै। 'पोतवा' पकड़ि के ऐंठ दे। हमेशा-हमेशा का 'गरह' कट जास।''[48] यह दलित स्त्री का प्रतिरोध है जो भाव-भाषा के स्तर पर मुख्य के साहित्य में मिलना दुर्लभ है।

गँवई अन्दाज से संवाद मुहावरों की शक्ल लेकर प्रकट होते हैं। पंडिताइन ने कहा- ''जहाँ गुड़ रहेगा वहाँ चिडँटा जाबै करेंगे। एक बार चमाइन का राज क्या आया, सारे चमार, पासी खोपड़ी पर मूतने लगे। इतनी हिम्मत कि लाठी लेकर घर पर ओरहन देने चढ़ आए।''[49] यहाँ एक बड़े सामाजिक-सांस्कृति बदलाव को रेखांकित किया है लेखक ने। यह लेखन की रचनात्मकता का उत्स है कि भाषिक तेवर से भी उसने वर्चस्ववादी परम्परा का तर्पण कर दिया। और यह सब सायास नहीं है। कथा सूत्र कहीं टूटता नहीं। गँवई दिमाग में लेखक अपने विचार नहीं ठूँसे। वो स्वभाविक रूप से पात्रों का प्रतिरोधी स्वर है। ''किसी गुमान में मत भूलिए पंडिताइन। अब हम हमऊ चमार नहीं हैं कि कान पूँछ दबाकर सब सह, सुन लेंगे। चिऊँटे को गुड़ का मजा लेन महँगा कर देंगे।''[50] स्पष्ट हो जाता है कि वर्चस्ववादी भूमिका बदल चुकी है। भाषा के स्तर पर भी। यह आस्मितावादी उभार है जिसे शिवमूर्ति ने बड़ी सजगता, सहजता से सिरजा है। यह प्रतिरोध का दौर है। वर्चस्ववादी संस्कृति पर सवाल उठाने और जवाब खोजने का समय है। गाँव-गिराव के दलितों-शोषकों की बदलती मंगिमा की शिवमूर्ति ने खासा पकड़ा है। सवर्णों के खेतों में चोरी की बात पर विक्रम का जवाब युग परिवर्तन की घोषणा है ''क्यों नहीं करेंगे चोरी।'' विक्रम नए लड़कों से कहता है। सारे खेतों पर उन्हीं लोगों का कब्जा क्यों है। हमारे हिस्से में नहीं छोड़ा इन लोगों ने। मजदूरी से अनाज मिल जाएगा लेकिन साग-पात गन्ना, गंजी, मटर चने का स्वाद हमे कैसे मिलेगा? क्या इनका स्वाद लिये बिना ही हमारी जिन्दगी बीत जाऐगी। तब इनकी चोरी जुर्म क्यों है। जुर्म है तो यह जुर्म हम हजार बार करेंगे।''[51] यह तर्क की भाषा है क्योंकि दलितों की आस्था नहीं रही लादी गई परिभाषाओं में। यह पाप-पुण्य नैतिक-अनैतिक, धर्म-अधर्म की परिभाषा बदलने वाला तेवर है। यह सामाजिक परिवर्तन की भाषिक अभिव्यक्ति है। बेलौस और बेधक। जोर-जुल्म से मोर्चा लेने की भाषा है ''सुनकर चौधरी की खुद की धोती ढीली पड़ गई। इस गाँव के चमार बड़े सरकस हैं। जब बामनों के खिलाफ मोर्चा, खोल दिए हैं तो उसकी क्या औकात।''[52] औकात बताने का यह माद्दा बहुजन पार्टी के सत्ता में आने तथा समतामूलक संवैधानिक प्रावधानों से पैदा हुआ है। चन्दर की जमानत अर्जी खारिज होने पर कचहरी में उत्सव मनाने का साहस कोई छोटी बात नहीं। ''मुन्ना दौड़कर एक किलो/लडडू ले आया और बरामदे में खड़ा होकर टोले से बहस सुनने आए लोगों तथा मुन्शियों को बाँटने लगा। भाई जी किसी

परिचित से बात करते हुए रह रहकर ठहाके लगाने लगे।''[53] वास्तव में यह जश्न और उत्सव का समय है। शिवमूर्ति न केवल इस उत्सवधर्मी समय का हिस्सा है बल्कि हमें भी उसमें शामिल करते हैं। भाव-भाषा की ऐसी ही बानगी उनके अन्य उपन्यासों 'त्रिशूल' व 'आखिरी छलाँग' तथा 'केशर-कस्तूरी' की कहानियों में देखने को मिलती है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द व रेणु की परम्परा को शिवमूर्ति ने पूरी तरह सम्भाला है।

सन्दर्भ

1. शिवमूर्ति से प्रभात रंजन की बातचीतः साक्षात्कार : अनभै साँचा, पृष्ठ 142, अंक 19 जुलाई-सितम्बर 2010, 2. वही, 3. वही, पृष्ठ 142 , 4. वही, पृष्ठ 145, 5. त्रिशूल, पृष्ठ 15, 6. वही, पिछला कवर पृष्ठ, 7. आखिरी छलाँग, नया ज्ञानोदय, अंक 59, जनवरी 2008, पृष्ठ 86, 8. वही, पृष्ठ 93, 9. वही, पृष्ठ 93, 10. वही, पृष्ठ 84, 11. वही, पृष्ठ 79, 12. नया ज्ञानोदय, पृष्ठ 74, अंक 59, 13. तर्पणः अन्तिम कवर पृष्ठ, राजकमल प्र. सं. 2010, 14. अनभै सांचा पृष्ठ 142, अंक 19, 15. तर्पण, पृष्ठ 25, 16. रंगभूमिः प्रेमचन्द, 17. तर्पणः पृष्ठ 26, 18. वही, पृष्ठ 35, 19. वही-45, 20. पृष्ठ, 45, 21. वही, पृष्ठ 45, 22. वही, पृष्ठ 45, 23. वही, पृष्ठ 45, 24. वही, पृष्ठ 46, 25. पृष्ठ, वही 46, 26. वही, पृष्ठ 47, 27. वही, पृष्ठ 55, 28. वही, पृष्ठ 56, 29. वही, पृष्ठ 57, 30. वही, पृष्ठ 61, 31. वही, पृष्ठ 63, 32. वही, पृष्ठ 75, 33. वही, पृष्ठ 80, 34. वही, पृष्ठ 67, 35. वही, पृष्ठ 46, 36. वही, पृष्ठ 101, 37. वही, पृष्ठ 102, 38. वही, पृष्ठ 105, 39. वही, पृष्ठ 107, 40. वही, पृष्ठ 113, 41. वही, पृष्ठ 116, 42. वही, पृष्ठ 116, 43. वही, पृष्ठ 116, 44. वही, पृष्ठ 115, 45. वही, अन्तिमकवर पृष्ठ, 46. वही, पृष्ठ 8, 47. वही पृष्ठ 9, 48. वही, पृष्ठ 11, 49. वही, पृष्ठ 14, 50. वही, पृष्ठ 14, 51. वही, पृष्ठ 46, 52. वही, पृष्ठ 58, 53. वही, पृष्ठ 75

युवा कथाकार तथा समीक्षक। तीन आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित।
दिल्ली विश्वविद्यालय के श्रद्धानन्द महाविद्यालय में प्राध्यापक।
सम्पर्क : म.न. 166, नाहरपुर गाँव, रोहिणी, सेक्टर-7 दिल्ली-110085
मोबाइल : 9650407519
ई-मेल : tekchand.du@gmail.com

सरिता शर्मा

बहुस्तरीय साम्प्रदायिक हिंसा का तांडव

मुज्जफ्फरपुर में हाल में हुए दंगों के बाद शायर हाफिज खालिद दंगाइयों से मुखातिब होकर कहते हैं—'तेजी से तबाही की तरफ दौड़ने वालो, तलवार से दुश्मन की जबीं खम नहीं होती। अंजाम कभी जंग का अच्छा नहीं होता, बारूद कभी जख्म का मरहम नहीं होती।' सामाजिक एकता बनाये रखने की आवश्यकता को रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता में व्यक्त किया है जिसका अनुवाद महात्मा गाँधी ने इस प्रकार किया है - 'जिस युद्ध में भाई भाई को मारता है, वह युद्ध ईश्वर के विरुद्ध लड़ाई है। जो धर्म के नाम पर विद्वेष पालता है, वह ईश्वर को अर्ध्य से वंचित करता है.' तसलीमा नसरीन का उपन्यास 'लज्जा' बांग्लादेश की हिन्दू विरोधी साम्प्रदायिकता पर प्रहार करता है और उस नरक का अत्यन्त मार्मिक चित्रण करता है जो एक लम्बे अरसे से बांग्लादेशी हिन्दुओं की नियति बन चुका है। यह मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर जितनी तल्खी से आक्रमण करता है, उतनी ही तीव्रता से हिन्दू साम्प्रदायिकता की परतें भी उघाड़ता है। 'लज्जा' की शुरुआत बाबरी मस्जिद तोड़े जाने पर बांग्लादेश के मुसलमानों की आक्रामक प्रतिक्रिया से होती है। वे अपने हिन्दू भाई-हमला पर नोंहब कर देते हैं। मगर प्रश्न यह उठता है कि इस अत्याचार, लूट , बलात्कार और मन्दिर ध्वंस के लिए वस्तुतः जिम्मेदार कौन है? गीतांजलीश्री ने 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में साम्प्रदायिक दंगों के कारण दाम्पत्य सम्बन्धों में तनाव और व्यक्ति की असुरक्षा के प्रश्नों को उठाया था।

प्रेमचन्द और रेणु के बाद कथाकार शिवमूर्ति ने हिन्दी कथा लेखन में गाँव के जीवन, परिस्थितियों, राजनीति, छल-कपट को अपने लेखन में अत्यन्त संवेदनशील और प्रभावी ढंग से उकेरा है। शिवमूर्ति को निम्न वर्ग के पूरे परिवेश, पंचायत, प्रधान, थाना कचहरी, न्याय-अन्याय, शोषकों, अन्नदाताओं की बहुत बारीक समझ है। कसाईबाड़ा, सिरी उपमा

जोग, अकालदण्ड, भरत नाट्यम, तिरिया चरित्तर जैसी कहानियाँ लिख कर उन्होंने कथा साहित्य में स्थायी स्थान बना लिया है। बिना जादुई यथार्थ का सहारा लिये या दलित विमर्श अथवा स्त्री विमर्श का नारा लगाये शिवमूर्ति की कहानियाँ समाज के आर्थिक और सामाजिक हालात को मार्मिक ढंग से सामने ला देती हैं। शिवमूर्ति की कहानी 'कसाईबाड़ा' का पाँच हजार से ज्यादा बार मंचन हुआ है। उनकी एक कहानी 'तिरियाचरित्तर' पर बासु चटर्जी ने फिल्म का भी निर्माण किया था। शिवमूर्ति को कथाक्रम, लमही सम्मान और हंस पुरस्कार मिल चुका है। अपनी कहानियों की रचना प्रक्रिया के बारे में शिवमूर्ति कहते हैं- 'मेरे मन में कहानी सर्वप्रथम सूत्र रूप में कौंधती है...कोई घटना, सम्वाद को देखकर...। खासकर उसकी परिणति या मूलभूत वक्तव्य परिदृश्य के रूप में उभरता है...। फिर शुरू होती है उन परिदृश्यों को तारतम्य की प्रक्रिया, मेरी कहानियाँ मुख्यतः चरित्र प्रधान हैं। फिर बुनावट की प्रक्रिया। कथा में विश्वसनीयता और स्वाभाविकता लाने का कार्य। चरित्र ही मेरी कहानी का आद्यन्त है।'

'त्रिशूल' बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करने से पहले लिखा गया था। मंडल आयोग की सिफारिश को लागू करने की वजह से समाज में मची हलचल को धीमा करने के लिए रथयात्रा और अयोध्या आन्दोलन का जन्म हुआ। उपन्यास की शुरुआत उत्सुकता जगाती है और दर्शाती है कि यह कथा किसी एक स्थान की या समय की नहीं, युगों-युगों से जगह-जगह चलने वाली है। 'कहाँ से शुरू करूँ महमूद की कहानी? ...लेकिन क्या यह केवल महमूद की कहानी है?' उपन्यास का मुख्य पात्र कथानायक का नौकर महमूद है। महमूद नाम उसे साम्प्रदायिक तनाव के दिनों में सन्दिग्ध बनाता चला जाता है। जैसे-जैसे तनाव गहराता है, सभी पड़ोसी, जिनमें शास्त्री जी सबसे आगे हैं, एक हिन्दू मुहल्ले में मुसलमान की उपस्थिति बर्दाश्त नहीं कर पाते लेकिन कथानायक के अड़ जाने पर चुप रह जाते हैं। बाद में शास्त्री जी के बेटे के स्कूल से बिना बताये अपने रिश्तेदार के यहाँ चले जाने पर शास्त्री जी महमूद के खिलाफ अपने बेटे के अपहरण की नामजद रपट दर्ज कराते हैं। महमूद को पुलिस पकड़ ले जाती है। कथानायक उसे छुड़वाता है लेकिन महमूद को मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्त्व अपने साथ ले जाते हैं। कथानायक उसे वापस घर ले आता है लेकिन इस प्रक्रिया में महमूद एक आदमी से मुसलमान में इस कदर बदला जा चुका है कि वह कथानायक के घर न रुककर अपने घर के लिये चला जाता है। लेकिन कहानी के अन्त में महमूद के सुरक्षित माता-पिता के पास पहुँचने की सम्भावना नजर नहीं आती है क्योंकि उसके गाँव में भी दंगे फैल चुके हैं और अब्बू अम्मी कहीं और जा चुके हैं।

उपन्यास में दर्शाया गया है कि हिन्दू और मुस्लिमों के बीच तथा अगड़े और पिछड़ों के बीच किस तरह राजनीतिक उद्देश्य से जो खाई पैदा की जा रही थी। कथानायक पूछता है 'तो क्या आपकी पार्टी सत्ता में आयी तो सचमुच मुसलमानों को देशनिकाला दे देगी? मस्जिद नेस्तनाबूद कर देगी?' शास्त्रीजी कहते हैं-'बिलकुल कर देगी। आपने हमारे नेता का ऐलान नहीं सुना? अपनी मस्जिद ये कटुए जहाँ चाहे ले जायें।' इस कहानी में साम्प्रदायिकता के विरोध को बहुत सशक्त ढंग से प्रकट किया गया है। कथानायक मन्दिर

मस्जिद की समस्या पर सोचता रहता है-'मेरा वश चले तो मैं मन्दिर मस्जिद दोनों को जमींदोज कराकर वहाँ बच्चों के खेलने के लिए पार्क बनवा दूँ। लेकिन मेरी सुनेगा कौन? मेरी आँखों के सामने मासूम बच्चों की चीख चिल्लाहट, अबलाओं का क्रन्दन और लपलपाती लपटों में धू-धू करके जलते गाँव नजर आते हैं.' त्रिशूल की कहानी एक ओर हिन्दू-मूस्लिम साम्प्रदायिकता को दर्शाती है, तो दूसरी ओर हिन्दू समाज के जातिवादी स्वरूप की परतों को उघाड़ती है। धर्म की आड़ में दिये जाने वाले तर्क किस प्रकार स्वार्थों पर आधारित होते हैं इसका नमूना भी 'त्रिशूल' में देखने को मिलता है। एक मन्दिर का पुजारी मुस्लमान नाई की झोंपड़ी में आग लगवा कर उसपर कब्जा कर लेता है। साम्प्रदायिक हिंसा के माहौल में इन बातों पर लोग ध्यान नहीं देते हैं। छोटी और बड़ी मानी जाने वाली जातियों में साम्प्रदायिकता को लेखक ने भीतर से पहचाना है। जब कथानायक महमूद को छुड़वाने जिलाधिकारी आवास जाता है तो वहाँ लोक गायक पाले की लाश के साथ प्रदर्शनकारी ग्रामीण जन समुदाय की भारी भीड़ आयी हुई है। वहीं उसे पाले के बारे में पता चलता है जो भाजपाई विधायक गुलाब सिंह और उनकी पार्टी की हिन्दुत्ववादी विचारधारा के खिलाफ लोगों में लोकप्रिय गीत रचता था, उन्हें सुनाता था इसीलिए गुलाब सिंह ने उसकी हत्या करवा दी। पाले के गीत और तर्क दलित चेतना के प्रतिनिधि हैं। 'छुआछूत और जाति पाति में सारा मनई जरत है ..। अरे बड़े कसाई बड़े कसाई साधो पाण्डे बड़े कसाई।' वह पार्टीबाज रामभक्तों के लिए कहता था 'इनकी 'माया' में मत फंसिए। यह मारीच की सन्तान हैं।...ऐसे रामराज्य से भगवान बचाए जिसमें ब्राह्मण के फलने फूलने के लिए शूद्र का सिर काटा जाना अनिवार्य होता है.' पाले दलित अस्मिता का प्रतिनिधित्व करता है और ऊँची जातियों के खिलाफ असन्तोष और क्षोभ प्रकट करता है। दलित अस्मिता को शिवमूर्ति इस तरह परिभाषित करते हैं-'अस्मिता का मतलब अपने अधिकार को अपने प्राप्य को चिन्हित करना और उसे पाने का और अभिव्यक्त करने का प्रयास करना है। अस्मिता माने अपने वजूद को सामने लाना, शब्दों में। इस प्रकार से कि लोगों को लगे कि आप भी हैं। आपका भी वजूद है। आपको चिन्हित किया जाना चाहिए। अस्मिता का यही अर्थ है.' प्रतिरोध का एक और स्तर भी है जहाँ क्लब में दरोगा जी और मिसिर जी आपस में लड़ पड़ते हैं क्योंकि मिसिर जी ने मुख्यमन्त्री को गाली दी। दरोगा जी मुख्यमन्त्री की जाति के हैं इसलिए वे चौकीदार से मिसिर जी का लगवाया भाजपाई झण्डा मंगवाकर उससे जूता पोंछने चल देते हैं।

कथानायक पाल साहब साम्प्रदायिक सद्भाव में विश्वास रखते हैं और मुसलमान नौकर महमूद को पारिवारिक सदस्य की तरह अपने साथ रखते हैं। वह अन्दाजा नहीं लगा पाते हैं कि महमूद का मुसलमान होना ही हिन्दू सम्प्रदायवादियों के लिए सब से बड़ा अपराध है। शास्त्रीजी हिन्दू साम्प्रदायिकता के कट्टर समर्थक हैं। पाल साहब से पहली मुलाकात में वे कहते हैं—'गाय पाल कर आप सच्चे हिन्दू धर्म निबाह रहे हैं। गो ब्राम्हण की सेवा। आप को देखकर ही लगता है कि आप आस्थावान व्यक्ति हैं। और जीवन का मूल है आस्था'। शास्त्रीजी साम्प्रदायिकता का जहर फैलाने के लिए तरह-तरह के तरीके

अपनाते हैं जैसे राम मन्दिर के निर्माण के लिए चन्दा इकट्ठा करना, राम भक्तों को अयोध्या भेजना, अस्थि कलशों का आयोजन, मुसलमानों की सम्पत्ति पर कब्जा। महमूद के खिलाफ अपने पोते के अपहरण की फर्जी रिपोर्ट तक वे करते हैं। उत्तेजक नारे और भाषणों के कैसेट समाज के वातावरण को जहरीला बनाते हैं। जब तक महमूद के धर्म को वे नहीं जानते, तब तक वह उनका प्रिय चेला और तमाम कार्य करने वाला महत्त्वपूर्ण लड़का है। उसके हाथ की चाय पीने या प्रसाद के लड्डू घर-घर पहुँचाने से शास्त्रीजी और अन्य हिन्दूवादियों का धर्म नष्ट नहीं होता, पर जैसे ही उसके मुसलमान होने का पता चलता है तमाम गुनाह उन्हें दिखाई देने लगते हैं। मुसलमानों के प्रति उनके मान में गहरी नफरत है-'मैं कहता हूँ, अभी भी वक्त है। इन 'कटुओं' को खदेड़कर पाकिस्तान भगा दिया जाये। वर्ना पचास साल बाद क्या होगा जानते हैं?'

शिवमूर्ति की हर रचना में पशु पक्षी की उपस्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि उनके नाम होते हैं और उनके निश्छल स्वभाव और आचरण की तुलना मानव के कपटपूर्ण व्यवहार से की गयी है। गाय, बछड़ा और कुत्ता पाल साहब के पालतू पशु हैं और महमूद उनकी सेवा करता है। लेखक ने इन पशुओं का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है जो पाठकीय संवेदना को प्रभावित करता है। 'छोटे बछड़े को भी शास्त्रीजी खास आदमी लगते हैं। वह हौदी में मुँह डालना भूल जाता, बल सुलभ कौतुहल से बड़ी बड़ी आँखें निकालकर ताकता है। पास आने पर पैर से कमर तक क्रमवार सूंघता है। महमूद के प्रति गाय बछड़े का व्यवहार हमारी संवेदना को ओर सघन करता है। गाय, बछड़ा और कुत्ता झबुआ महमूद के दुख को समझते हैं।

'त्रिशूल' में जीवन के यथार्थ की और लोगों द्वारा बोली जाने वाली जीवन्त भाषा है। कहानी दिलचस्प और प्रवाहमान है जिसे पढ़ते हुए पाठक की उत्सुकता लगातार बनी रहती है। शिवमूर्ति कहते हैं-'भाषा की ताकत मैं लोकजीवन और लोक गीतों से बटोरता हूँ। मैं प्रचलित मुहावरों की शक्ति संजोता रहता हूँ। अपनी कहानियों में मैं इस शक्ति को विस्तार देता हूँ।' कथ्य और शिल्प के महत्व के बारे में वह बताते हैं—'कथ्य और शिल्प दोनों महत्वपूर्ण हैं। एक आत्मा है तो दूसरा शरीर। कथ्य रूपी आत्मा न हो, तो शिल्प मुर्दे को सजाने का उपक्रम बनकर रह जाएगा, लेकिन शिल्प पर ध्यान न दिया जाये और अनगढ़ रूप में चीजें सामने आएँ, यह भी मेरी नजर में क्षम्य नहीं है। रस परिपाक में शिल्प का यह महत्वपूर्ण योगदान होता है।' जीवन्त पात्रों और चलचित्र की तरह चलने वाली कथा वाला यह उपन्यास जातीय और साम्प्रदायिक हिंसा का घिनौना चेहरा सामने लाता है। किस्सागोई की अनूठी पद्धति इसे दिलचस्प और पठनीय बनाती है।

जानी मानी लेखिका, कहानी-संग्रह प्रकाशित, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ, आलेख और समीक्षाएँ प्रकाशित।
सम्पर्क : सरिता शर्मा, मकान नं.-1975, सेक्टर-4
अर्बन इस्टेट, गुडगाँव-122001
मोबाइल : 09871948430

लता

ग्लोबल युग में किसान

हम सब ग्लोबल युग के नागरिक है, जहाँ एक राष्ट्र खुली हवा में साँस लेने के लिए दूसरे राष्ट्र को पेड़ लगाने के हेतु मजबूर करता है। पूँजी के अपार बहाव, श्रम के संचार को इस युग की प्राण-वायु का जा सकता है। यह ग्लोबल युग प्रत्येक मनुष्य को ग्लोबल स्वप्न दिखाता हैं, मध्यवर्ग की आँखों में सपना है विदेशी जाने का, पड़ोसी से बड़ी गाड़ी खरीदने का। उच्च-वर्ग की आँखों में सपना है अपना करोबार बढ़ाने का, परराष्ट्र में व्यापार करने का। किन्तु विकास की इस अंधी दौड़ में एक वर्ग ऐसा भी है जिसकी आँखों के सपने कभी पूरे नहीं होते। किसान-आदिवासी इस ग्लोबल युग के स्पेशल इकॉनामिक जोन से बहार दिखलाई पड़ते हैं। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया बेशक पूरी दुनिया पर प्रभाव डाल रही है व कई मायनों में इसके सकारात्मक पक्ष भी हम देखते हैं किंतु वंचितों के मसले पर भूमण्डलीकरण खामोश है, यहाँ आकर यह प्रक्रिया एक फेलियर की भाँति दिखलाई पड़ती है। किसान की आँखों के सपने उसकी आँखों में ही रह जाते है उन्हें पूरा होने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता। जोसेफ स्टिगलिट्ज ने 'ग्लोबलाइजेशन एण्ड इट्स डिस्कंटेट्स' नामक किताब में लिखा है ''मेरा मानना है कि भूमण्डलीकरण मुक्त व्यापार के लिए बंधनों को हटाने, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को नजदीक लाने एवं एकजुट करने के लिए एक अच्छी शक्ति हो सकती है इसमें क्षमता है कि यह विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को समृद्ध कर सके, विशेषकर गरीबों को। लेकिन मैं यह भी मानता हूँ कि जिस रूप में भूमण्डलीकरण को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के समझौते के रूप में लागू किया गया है उस पर तर्कपूर्ण ढंग से पुनः विचार करने की आवश्यकता है।'' यहाँ एक तथ्य यह भी विचारणीय है कि 1990 के उदारवाद से पूर्व भी किसानों की दशा शोचनीय ही थी। दरअसल भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने अर्थव्यवस्था में असंतुलन पैदा किया है, कृषि क्षेत्र

की उपेक्षा की जा रही है। 'भूमि' जिस पर खेती की जाती थी, उदारवाद के उपरांत वह 'औद्योगिकरण' के लिए इस्तेमाल हो रही है।

समग्रता में यदि किसान जीवन की समस्याओं पर विचार करे तो उदारवाद से पूर्व भी किसान की दशा सोचनीय थी; 1870 में कृषि समितियाँ, 'संघ' व इसके उपरांत 'किसान आंदोलन' इसके प्रमाण है। महाजनी सभ्यता में भी किसान के शोषण को देखा जा सकता है। प्रेमचंद के होरी से लेकर राजू शर्मा के 'हलफनामें' पाता किसान आज शिवमूर्ति के पहलवान के रूप में 'आखिरी छलाँग' लगाने को विवश है। होरी की 'मरजाद' पालने की लालसा में किसान शोषण सहने को मजबूर है। उदारवादी व्यवस्था ने 'जमीन' के प्रति नजरिया बदला है, जिस कारण कृषि-योग्य जमीन कम हो रही है—''सन् 1990 से 2000 के बीच यदि कृषि भूमि 57,000 हेक्टेयर प्रति वर्ष की दर से घटी थी तो 2000 से 2005 के बीच कृषि योग्य भूमि के घटने की दर 2,95,500 हेक्टेयर प्रति वर्ष रही।'' लागत से भी कम पूँजी मिलना; इसके पीछे मूलभूत कारण है, दूसरी ओर जमीन के दाम प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। कृषि उत्पादों की स्थिति दयनीय है, किसान के उत्पादों के लिए 'न्यूनतम समर्थित मूल्य' निर्धारित है जबकि अन्य उत्पाद 'अधिकतम रिटेल मूल्य' से बेचे जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों में जहाँ सोने का दाम दुगुना हुआ है, जमीन का दाम चार गुना बढ़ा है, वहीं किसान की पैदावार का दाम घटा है, ''दुनिया के स्तर पर देखो कि 1995 में गेहूं की अन्तराष्ट्रीय कीमत 216 डॉलर थी जो 2001 में घटकर 133 डॉलर प्रति टन हो गई। कपास की कीमत 98 डॉलर से घटकर 49 डॉलर प्रति टन हो गई। भारत में 1998 में कपास की कीमत 1,400 से 1,800 के बीच गिर गई थी। इसी अवधि में सोयाबीन की कीमत 273 डॉलर से घटकर 178 डॉलर प्रति टन हो गई।''

इसके साथ ही जलवायु असंतुलन, प्राकृतिक आपदा भी किसान के जीवन पर बुरा प्रभाव डाल रही है। किसान कर्ज के बोझ तले दबकर आत्महत्या करने को विवश है। कर्ज न चुका पाने की स्थिति में उसकी जमीन छीन ली जाती है। केवल भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में किसान आत्महत्या कर रहे हैं। आज विश्व चिन्तन की धुरी आतंकवाद, उदारवाद, पर्यावरण है किन्तु किसान के प्रति रवैया उदासीन है। यह किसान के विस्थापन का, कृषि योग्य जमीन के हस्तांतरण का युग है व सब खामोश है। कई स्थानों पर स्वयं सरकार भी साठ-गाँठ से भूमि से भूमि हथिया रही है, खेती में ठेकेदारी को भी लाया जा रहा है, किन्तु विरोध दिखलाई नहीं पड़ता या दबा दिया जाता है। यदि आँकड़ों पर दृष्टि दौड़ाएँ तो स्थिति की भयावहता दिखलाई देगी—''वर्ष 1998 से 2005 तक 9000 से अधिक किसान आत्महत्या कर चुके थे। पंजाब जैसे समृद्ध राज्य भी आज किसानों की बदहाली का शिकार है। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में भी यह संख्या तेजी से बढ़ रही है। वर्ष 2001 में 49, 2002 में 105, 2003 में 143, 2004 में 441, 2005 में 429 और 2006 में सितंबर तक यह आँकड़ा 900 तक पहुँच गया।'' यह मृत्यु का आंकड़ा उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। 40 फीसदी किसान खेती छोड़ना चाहते हैं, ऐसी अवस्था में हमारा देश किस दिशा में जा रहा है, ऐसी अवस्था में हमारा देश किस दिशा में जा

रहा है। इस पर विचार करने की आवश्यकता है, हमारे देश में लगभग 26 करोड़ लोग आज भी भूख पेट सोते हैं, एक ओर जहाँ शहरीकरण की प्रक्रिया पैर पसार रही है, जगह-जगह मॉल संस्कृति पनप रही है वहीं दूसरी ओर 'स्लम' की संख्या में भी ईजाफा हो रहा है। इस पूरी स्थिति को संतुलित ढंग से समझने की जरूरत है। विशेषकर कृषि के मामले पर उदारीकरण को खामोश नहीं बैठना चाहिए। यहाँ भी उसे अपना मानवीय पक्ष साबित करना होगा, यदि ऐसा नहीं हुआ तो किसान दुनिया से गायब हो जाएगा।

शिवमूर्ति का उपन्यास 'आखिरी छलांग' किसान आत्महत्या की समस्या को उजागर करता है। किसान हर तरफ से शोषण सह रहा है, उदारवाद से पूर्व व अब, किसान की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। उपन्यास का शीर्षक 'आखिरी छलांग' किसान की जिजीविषा, जीने की ललक का प्रमाण है। शिवमूर्ति का किसान पहलवान है, जो अपनी सब समस्याओं से जूझने का दम रखता है। पहलवान को घर के तमाम खर्चे, बेटी का ब्याह, बेटे की इंजीनियरिंग की फीस व कर्ज का दुःख लगातार सालता रहता है—''पिछले साल तो किसी तरह बेटे की इंजीनियरिंग की फीस भर दी गई। इस साल कोई रास्ता नहीं दिखता। तीन साल हो गये गन्ने का बकाया अभी तक नहीं मिला। सोसायटी से ली खाद का कर्ज न चुका पाने के चलते पिछले साल पकड़ लिए गये थे। हर दूसरे महीने ट्यूबवेल के बिल की तलवार सिर पर लटक जाती थी। तकनीकी व्यवस्था ने किसान को जहाँ लाभ पहुँचाया है वहीं उसकी बड़ी भारी कीमत भी वसूल की है। कर्ज का बोझ किसान को चैन से जीने नहीं देता, इस पर प्राकृतिक आपदा उसकी फसल को भी बर्बाद कर डालती है। पहलवान भी मौसम की मार झेलने को मजबूर है, वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जितनी बड़ी खेती उतना बड़ा नुकसान। क्योंकि खेती में लागत अधिक है व मुनाफा कम। आज भारत उदारवाद के अगले चरण एफ.डी.आई. की ओर बढ़ रहा है किन्तु भारतीय किसान आज भी प्रताड़ित है। वह भूख व गरीबी की प्रवंचना झेलने हेतु मजबूर है। ''खेती-किसानी की आमदनी, खेती किसानी के खर्चे भर को भी नहीं अटती और कहाँ से अटे। डीजल, बिजली, खाद कीटनाशक, जोताई, मड़ाई, मजूरी सबका रेट तो हर साल दस पाँच रुपये बढ़ जाता है। नहीं बढ़ता तो किसान की पैदावार का दाम। इसलिए जितनी लम्बी खेती उतना ही लम्बा घाटा। जितनी ज्यादा पैदावार उतना ज्यादा घाटा।'' पहलवान अपने खेतों की पैदावार बढ़ाने के लिए यूरिया खरीदना चाहता है लेकिन धन का अभाव उसके हाथ रोक लेता है। कर्ज न चुका पाने के चलते भरे बाजार उसे बेइज्जत होना पड़ा। पहलवान यह सोचकर क्षुब्ध है कि पूरे बाजार में उसकी चर्चा हो रही है, दरअसल यही बेइज्जती किसान आत्महत्या का मुख्य कारण रही है। बैंक के कर्मचारी भी यहाँ केवल गरीब किसान को ही डराते-धमकाते हैं, कई बड़ी कम्पनियाँ करोड़ों का लोन लेती हैं उनकी कोई जाँच-पूछ नहीं की जाती—''गाँव का बूढ़ा सम्पत भीड़ से निकलकर एकदम अमीन के मुँह से तर्जनी सटाकर बमकता है- बड़ी-बड़ी मिलों, फैक्ट्रियों पर सिर्फ बिजली का ही लाखों का बकाया है, उनसे वसूलने की हिम्मत तुम्हारे बाप की भी नहीं है। सारा कानून सिर्फ किसानों, मजदूरों के लिए है?'' वर्तमान व्यवस्था

को यहाँ देखा जा सकता है। जमींदारी के जमाने से अब तक किसान की जिंदगी में कोई खास बदलाव नहीं आया है। पहलवान बेटी के विवाह व बेटे की फीस चुकाने के लिए अपना खेत बेचना चाहता है। पहलवान का पड़ोसी खेलावन उसे किसान की प्रवृत्ति के विषय में बतलाता है, कि किसान लड़ना नहीं चाहता, यदि अपने साथ हुए अत्याचार के खिलाफ किसान आवाज नहीं उठायेगा तो एक दिन उसे मरना ही होगा—''नहीं लड़ेगा तो मरेगा, मर तो रहा ही है और जल्दी मरेगा, देश दुनिया के नक्शे से गायब हो जाएगा। कोई रोक नहीं सकता। बहुत सारे मुद्दे हैं जिनसे लड़ना जरूरी है। जैसे सरकार की नीतियाँ, गेहूँ पैदा करने में लागत बारह रुपये प्रति किलों आती है लेकिन गेहूँ बिकता है सात रूपये किलो, आलू और प्याज किसान के घर पैदा होता है तो दो रूपये किलो बिकने लगता है। दो महीने बाद जैसे किसान के घर से बाहर निकला दस रूपये किलो हो जाता है। पिछले पैंतीस साल में जमीन सौ गुनी महँगी हो गयी। सोना पचहत्तर गुना, डीजल पचास गुना जबकि गेहूँ सिर्फ सात गुना। सारी मन्दी किसानों के लिए ही है।'' यदि परिस्थितियाँ ऐसी ही रही तो वह दिन दूर नहीं जब किसान इस देश के नक्शे से गायब हो जायेगा। दरअसल किसान उपेक्षित है क्योंकि वह हमारी तरह उपभोक्ता नहीं है, सरकार की नीतियों से भी इसी कारण वह गायब है।

उपन्यासकार 'पांडे बाबा' के माध्यम से किसान-आत्महत्या को रेखांकित करने का सफल प्रयास करता है। पाण्डे बाबा ने ट्रैक्टर व ट्रॉली के लिए लोन लिया था, जमीन गिरवी रखकर बैंक ने धोखे से पुरानी तारीख डाल कर जमीन की नीलामी कर डाली। इस घटना ने पांडे बाबा को पूरी तरह तोड़ डाला। यहाँ बैंक की कार्यप्रणाली को भी देखा जा सकता है। पहले बैंक के कर्मचारी किसान को लोन लेने के लिए उकसाते हैं जबकि उन्हें एहसास है कि वह कर्ज चुका नहीं पायेगा ताकि वह जमीन हथिया सके। इस घटना के उपरांत पांडे बाबा आत्महत्या कर लेते हैं। ''महीनों बड़ा हड़कम्प रहा। अखबारों में और टी.वी. चैनलों पर पांडे बाबा की आत्महत्या का मामला छाया रहा। माँग उठी कि किसानों की ऋण-नीति की पड़ताल होनी चाहिए। जो ऋण किसान की भलाई के लिए दिया जाता है वहीं उसके गले का फंदा कैसे बन जाता है? जब खेती की आमदनी से इतनी भारी रकम की वापसी हो ही नहीं सकती तो उसे किसानों को अपने गले में बाँधने के लिए उत्साहित क्यों किया जाता है?'' आज बैंक भी साहूकार व जमींदार की भांति किसान का शोषण कर रहे हैं। पहलवान भी कर्ज व घर की अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। किसानी जीवन की विद्रुप स्थिति को यहाँ देखा जा सकता है। पहलवान सपने में पांडे बाबा को देखता है जहाँ पांडे बाबा उसे अपने पास बुला रहे हैं, दोनों हाथ फैलाकर आत्महत्या के लिए उकसाते हैं, इस सपने से पहलवान डर जाता है। पांडे बाबा की बरसी पर पूरे जिले के किसान एकत्रित होते हैं, जहाँ विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता है। यहाँ आकर पहलवान का दृष्टिकोण पूरी तरह बदल जाता है। जीवन के प्रति लालसा उसमें जागती है वह सजग हो उठता है, अपने अधिकारों के प्रति, सरकार की नीतियों के प्रति।

शिवमूर्ति का किसान, यहाँ आकर मौत से समझौता नहीं करता, वह जीवन से हारा नहीं है, वह बेफ्रिक होकर जीना सीख गया है, उसने समस्या के समाधान को खोजने का प्रयास किया है, उसे एहसास हो चुका है कि 'आत्महत्या' किसी समस्या का समाधान नहीं किसान तो हमेशा ही परिस्थितियों से जूझता आया है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह आत्महत्या करे। 'आखिरी छलाँग' एक प्रतीक है जीवन के प्रति सकारात्मक सोच का। पहलवान पहले की भाँति अन्त में बेफ्रिक हो छलाँग लगाता है—''सारी चिन्ता झोको भाड़ में। खेत रेहन होने की चिन्ता, बेटी के ब्याह की चिंता, बेटे के फीस की चिन्ता, ट्यूबवेल के बिल की चिन्ता, सबको झोंको भाड़ में।'' यह छलांग मौत से जूझने का उपाय है, भारतीय किसान मरना नहीं चाहता, वह आखिरी साँस तक जिन्दगी जीने की लालसा लिए मुसीबतों से जूझ सकता है।

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से पी-एचडी.। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख, समीक्षा और कहानियाँ प्रकाशित। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक महाविद्यालय में सहायक प्रवक्ता के पद पर कार्यरत।
सम्पर्क : हिन्दी विभाग, श्यामा प्रसाद मुखर्जी महाविद्यालय, दिल्ली
मोबाइल : 09999562635
ईमेल : lata06jnu@gmail.com

जनार्दन

दो जातियों के बीच शह और मात

देश को आजाद हुए पैंसठ साल हो गए परन्तु जातियों उपजातियों में बटी देश की जनता को अपनी जातिगत मूढ़ताओं, जटिलताओं, विषमताओं एवं मनुवादी धार्मिक बेड़ियों से मुक्ति अभी भी नहीं मिल पाई है। तमाम हवाई राजनीतिक उन्नति के दावों के बावजूद जातियाँ वर्ग नहीं बन पाई हैं और सदियों से एक ही जगह खड़े-खड़े बजबजा रही हैं। देश को व्यवस्था देने वाले नेताओं को पता था कि इस जड़ता को तोड़ने के लिए कुछ उपबन्ध करने होंगे इसीलिए उन्होंने वंचितों, दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों एवं अल्पसंख्यकों को संविधान के माध्यम से कानूनी सहायता देने के सरकारी प्रावधान किए परन्तु सरकार की तरह वे (कानून) अल्प मात्रा में ही सफल रहे और गाहे-बगाहे आलोचना के शिकार होते रहे। यह सही है कि विश्व की कोई भी जाति या समुदाय ऐसा नहीं है जो जड़ता मुक्त रही हो किन्तु समय के साथ उनमें थोड़ा बदलाव जरूर हुआ। भारत की विडम्बना यह है कि यहाँ श्रेष्ठता का मानदण्ड आज भी जातिगत है—आज भी व्यक्ति की पहचान उसके कुल खानदान एवं जाति से की जाती है। अभी तक हम श्रम को सम्मान देना नहीं सीख सके। अकर्मण्यता को हसरत की निगाह से देखते हैं और इसीलिए श्रमशील जातियाँ हेय एवं अछूत समझी जाती है, जबकि कई दलित जातियाँ राजनीतिक रूप से काफी प्रगति कर चुकी हैं और सत्ता सुख भोग रही हैं।

तर्पण उपन्यास का प्लाट आधुनिक भारत के गाँवों का नक्शा प्रस्तुत करने वाला है। ऊँची जातियों के मजे करने के दिन लदने को है परन्तु इस सुविधा के मोह उन्हें बुरी तरह जकड़ा हुआ है। जिसे वे खोना ही चाहते। इसीलिए थोड़े खिसियाए से रहते हैं। गाँव के पियारे चमार की बेटी रजपतिया को सिवान में अकेला देख धरमू पंडित का बिगड़ैल बेटा चन्दर उसकी इज्जत लूटना चाहता है। परन्तु रजपतिया के चीखने चिल्लाने

पर आसपास काम करती औरतें आ जाती है और चन्दर अपने मनसूबें में कामयाब नहीं हो पाता। बेटे की शिकायत जब धरमू पंडित के यहाँ पहुँचती है तो जरा उनकी कैफियत देखिए—''वे इस बात में कोई तुक नहीं देखते कि सारे लड़के पढ़-लिखकर नौकरियाँ करने गाँव से बाहर चले जाएँ। हर परिवार में कम से कम एक लड़के को नंगा निकलना बहुत जरूरी है। जिसके नाम से सारा गाँव थर-थर काँपता रहे। शूद्रों, चमारों का राज आ गया इसलिए पहले वाला दबदबा तो अब क्या रहेगा लेकिन पैलगी अशीश तक बन्द कर दिया सालों ने। बिना कोई तवज्जों दिए मुँह उठाए सामने से चले जाते हैं। वे यह जरूर मानते हैं कि लड़की पर हाथ नहीं उठाना चाहिए था। यह इसकी मूर्खता है। पर अब डाटने-डपटने से लड़के का मनोबल गिरेगा।'' (तर्पण, पृ. 23)

यह गाँव के खानदानी पुरोहित के विचार हैं। आश्चर्य है कि आर्यसमाज के सामाजिक उद्धार से भी पंडित जी का माथा नहीं फिर पाया। मानना पड़ेगा कि बदलते समय के कारण गाँव थोड़ा बदले ज़रूर हैं, खास तौर पर दलित जातियों की माली एवं दिमागी हालत में थोड़ा सकारात्मक परिवर्तन ज़रूर हुआ है। उनमें अस्मितामूलक भाव जाग्रत हुए हैं, चालाकियाँ व चिरकुटई समझने लगे हैं। यही सयानपन ऊँची जातियाँ पचा नहीं पा रही हैं और मनोबल तोड़ने के चक्कर में धरमू पंडित की तरह आत्मघाती होती जा रही है। माना जाना चाहिए कि सदियों से शोषित और उत्पीड़ित जातियों में कुण्ठा ज्यादा होना चाहिए और हजारों साल से चैन से रहती आई बड़ी जातियों को सुर्खरू बने रहना चाहिए परन्तु हो इसका उल्टा रहा है। जैसे पागल कुत्ता हवा के प्रवाह से चौंधिया कर भौंकने लगता है उसी तरह दलितों की शिक्षा, खेत क्यारी, लोग-लुगाई को देखकर बड़ी जातियाँ भूखे अजगर की तरह बेचैन और कुण्ठित हो, मरने मारने पर अमादा हो जाती हैं। पहले ऐसा करना मर्दानगी जरूर रहा होगा किन्तु मनु के संविधान की जगह आधुनिक संविधान लागू होने से सारा सिलसिला लड़खड़ा गया है। रही सही कसर एससी/एसटी एक्ट 1989 ने पूरा कर दिया है। परन्तु सबसे अधिक आलोचना भी इसी कानून की हो रही है। 'तर्पण' में भी इसके दोनों पक्षों-सकारात्मक और नकारात्मक पर चर्चा हुई है।

शिवमूर्ति हमेशा की तरह इस उपन्यास में भी मूल समस्या पर नजर रखे हुए देखे जाते हैं। तिरियाचरित्तर की तरह यहाँ भी मूल में यौन कुण्ठा ही है, जो जाति के दम्भ से और अधिक विषैला हो गया है। व्यापक फ़लक का कथा होने के कारण यहाँ सवर्ण एवं दलित, दोनों समाज की स्त्रियों की सामाजिक हैसियत भी सामने आ जाती है और हम पाते हैं कि सभी जगह वह उपनागरिक ही हैं। वह सकारात्मक हस्तक्षेप करने लायक अभी भी नहीं समझी जा रही हैं।

वस्तुतः यह दो जातियों के मध्य शह और मात को दर्शाता हुआ उपन्यास है। धरमू पंडित यह लड़ाई अकेले शुरू करते हैं, बाद में धर्म के नाम पर व ग्राम पुरोहित होने के नाते उनकी पुकार पर, थोड़े न नुकुर के बाद ठकुरान टोला भी साथ हो जाता है। धरमू पंडित द्वारा धर्म की दुहाई दी जाती है—''जाने अनजाने कोई चूक हुई हो तो उसे

भूल जाइए लम्बरदार। सनातन से क्षत्रिय दुष्टों, पापियों, असुरों से ब्राह्मणों की रक्षा करते आए हैं। सी. ओ. साहब से कहकर मामला रफ-दफा करवाइए।'' (वही, पृ. 77) ठाकुर नत्थूसिंह सी.ओ. से धरमू का परिचय कराते हुए कहते हैं—''धर्मदत्त जी। हम सबके पुरोहित। हमारे पड़बाबा ने इनके बाबा को विंध्याचल से लाकर बसाया था। आजकल गाँव के चमारों के मारे परेशान हैं। उसी में आपकी मदद माँगने आए हैं हमलोग। वही मामला जिसमें आप उस दिन तफतीस में गए थे।'' (वही, पृ. 85) यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि आज भी धर्म के नाम पर तमाम आपसी वैमनस्य के बावजूद सवर्ण जातियाँ संगठित हो जाती हैं परन्तु तमाम जागरुकता के बाद भी भूख एवं गरीबी से दलित समाज बिखर जा रहा है और अपने शोषक जातियों का पिट्ठू बनने के लिए अभिशप्त है। जब धरमू का वकील कहता है कि अगर अपने बेटे को छुड़ाना है तो दो एक चमाइनों को फोड़ों उन्हीं की गवाही मान्य होगी, तब ''मालकिन हलवाहिन को बुलाकर कहती हैं—अब चन्दर को छुड़ाना तेरे हाथ में है। फिर उपाय बताती हैं। हलवाहिन बात समझ कर बेटे—पतोहू से अलग रहनेवाली रमझरिया की दादी को समझा-बुझाकर लाती है। ब्लाउज, जोड़ा धोती, नगद पचीस रुपए और दो मन गेहूँ।'' (वही, पृ. 79) लवंगी की इसी करतूत से पूरा केस पलट जाता है, क्योंकि अब दलित के खिलाफ़ दलित स्त्रियाँ ही गवाही देती हैं। लिहाजा चन्दर को मुचलके पर रिहा कर दिया जाता है।

चन्दर रिहा होकर हीरो हो जाता है, उसका आत्मविश्वास अपने चरम पर पहुँच जाता है, मानो धर्म की विजय हुई हो। धरमू पंडित गदगद हो जाते हैं—''धरमू ने बेटे को घर तक ले चलने के लिए किराए की जीप का इंतजाम किया है।...बेटे को सबसे पहले हनुमान जी का दर्शन कराने ले जाते हैं धरमू। मन्दिर के गेट से पाँच माला, पाँच तोला सिन्दूर और सवा किलो लड्डू खरीदते हैं। प्रसाद चढ़ाने के बाद पुजारी एक माला चन्दर के गले में डालकर माथे के बीचोंबीच लाल रोरी का टीका लगा देता है। दोनों लड़के भी एक—एक माला चन्दर के गले में डाल देते हैं।...चन्दर भैया जिन्दाबाद।'' (वही, पृ. 94) इस तरह चन्दर घर पहुँचता है। जहाँ वह ''घर में घुसते ही अपनी दुनाली बन्दूक निकालकर बाहर आता है, और हवाई फायर करता है—धाँय-धाँय'' (वही. पृ. 95) वस्तुतः यह सवर्ण समाज के अहम का धाँय-धाँय है, जिसकी अन्तिम परिणति अत्यन्त भयानक साबित होती है। चन्दर इंतकाम की आग में जलता रहता है। वह चमारों को सबक नहीं वरन दण्ड देना चाहता है। ध्यान देने वाली बात है कि अनु.जाति./अनु. जनजाति एक्ट 1989 के बन जाने के बाद भी भारतीय जनमानस में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया और ऊँची जातियों के चन्दर आज भी दण्ड देने की मानसिकता में जी रहे हैं। लिहाजा चन्दर दलित नेता भाईजी, जिन्होंने दलितों का साथ दिया था, को जान से मारना चाहता है। इसीलिए जब उसकी हलवाहिन लवंगी चमाइन भाईजी को गाँव में होने की सूचना देती है—''मैं माझेवाले खेत में सरसों काट रही थी। पेट में मरोड़ उठा, भीटे की ओर गई तो देखा उस पार पानी छूने बैठा था...चन्दर की देह से आँच निकलने लगी। वह किक मारकर तीर की तरह निकला।'' (वही, पृ. 105) परन्तु हुआ कुछ और भाई जी

को मारने के फेर में खुद उसी की नाक कट गई। दरअसल भाई जी को मारने की फिराक में निकला चन्दर भूल गया कि नया रंगरूट मुन्ना चमार (रजपतिया का भाई) भी वहीं है। मुन्ना, भाईजी की घात में बैठे चन्दर की नाक सब्जी काटने वाले चाकू से उतार देता है। उसे नककटवा करके सिर पर वार करता है। चन्दर बेहोश हो जाता है। मुन्ना और भाई जी फरार हो जाते हैं और मामला शान्त होने तक भूमिगत होने का निर्णय लेते हैं।

अब तो पूरे गाँव में हल्ला हो जाता है। पुलिस वारदातकर्ता का पता नहीं लगा पाती। कर्फ्यू लगने की नौबत आ जाती है। पूरा चमारटोला सकते में है, लोग बाग गाँव छोड़ रहे हैं। पुलिस चौकस हो जाती है। ''बड़े दरोगा ने फत्ते चौकीदार को तलब किया था और नीम के नीचे लुँगी लपेटे नंगे बदन नाई से चम्पी कराते हुए पुछताछ कर रहे थे—कुछ पता चला कि भाई के साथ दूसरा कौन था? ...दूसरे हम थे सरकार।...बड़े दरोगा आँख खोलकर देखते है। पियारे हाथ जोड़कर खड़ा है।'' (वही, पृ. 123)

पियारे के एकरारनामे से पुलिस का काम आसान हो जाता है। उसे (पियारे को) रिमाण्ड पर ले लिया जाता है। गौरतलब है कि जहाँ आम आदमी रिमांड से डरता है वहीं वह ''जेल के वाहन की जाली से मुँह सटाकर फागुन की टण्डी पुरवा को फेफेड़ में भरता है...उसे लगता है जैसे पुरखो का तर्पण करने के लिए जगन्नाथ जी जा रहा है।'' (वही, पृ.126)

यह उपन्यास पियारे के उच्च मनोभूमि पर समाप्त होता है, जहाँ वह आत्मविश्वास से भरा हुआ दिखता है। गरीबी व दलितों में इसी आत्मसाक्षात्कार की ज़रूरत है भी, क्योंकि अन्ततः मुक्ति भी इसी में है, सच्चा तर्पण भी यही है।

युवा समीक्षक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख, समीक्षा और कहानियाँ प्रकाशित।
आई.आई.टी. मुम्बई में कनिष्ठ तकनीकी अधीक्षक के पद पर कार्यरत।
सम्पर्क : हिन्दी कक्ष, तीसरा तल
मुख्य भवन, भा.प्रौ.सं. मुम्बई-400076
मोबाइल : 09969054221

कपिलदेव निषाद

धार्मिक उन्माद और त्रिशूल

शिवमूर्ति में 'त्रिशूल' न हो यह कैसे हो सकता है ? जहाँ-जहाँ शिव की मूर्ति होगी वहाँ-वहाँ मूर्ति के साथ त्रिशूल भी। शिव के साथ त्रिशूल का होना परम आवश्यक है। 'त्रिशूल' उपन्यास भारतीय धार्मिक उन्माद का कच्चा चिट्ठा खोलता है। इस देश में कई जातियाँ और संप्रदाय है। जिनका आपस में दूर-दूर तक नजदीकी सम्बन्ध नहीं है। कुछ अतीत (इतिहास) की मजबूरी होने के कारण एक बड़ा समुदाय छोटे समुदाय को स्वीकार करता है, इस बड़े समुदाय में घातक से घातक और भयानक से भयानक दोष, कमियाँ हैं। लेकिन वह अपने को साफ-दाफ समझता रहा है। इनके अपने दोष प्रबल होने से, इनके अपने इतिहास, साहित्य और समाज को बहुत नुकसान हुआ है और होता रहेगा। दरअसल यह समुदाय समझ ही नहीं पाता कि वह जो कुछ कर रहा है वह गलत है।

इस छोटे से उपन्यास में कथा मंदिर-मस्जिद (उत्तर प्रदेश) हिन्दू-मुस्लिम, ऊँच-नीच, छुआ-छूत को केन्द्रित किया गया है। महमूद (जैसा कि नाम से ही मुसलमान मालूम होता है) शास्त्री जी का सारा काम करता है तब कुछ भी अपवित्र नहीं होता, किन्तु जब हिन्दुत्व भाव जगता है तो सब कुछ अपवित्र, अशुद्ध होता जाता है। यही महमूद शास्त्री जी के फूल लगाने से लेकर बच्चे को स्कूल छोड़ने, स्कूल से लाने तक का काम करता है किन्तु जब बाबरी मस्जिद का मामला (राम मंदिर) उठता है तो वे अपने पोते को गायब करके महमूद पर अपहरण का केस लगाकर जेल भेजवाते हैं और निर्मम पिटाई भी करवाते हैं। शास्त्री जी गाय पालकर सच्चे हिन्दू धर्म का निर्वाह करते हैं फिर ईश्वर-अल्लाह पर ढेर सारी बहस भी करते हैं। लेकिन उनको यह समझ में नहीं आता है कि—''सभी धर्मों ने ईश्वर की कल्पना अपने समाज को नियंत्रित करके, उनके बेहतरी के लिए की, जबकि हमने इसका उपयोग किया है अपने ही भाइयों का शोषण करने और हराम की कमाई

खाने के लिए, यही नहीं, हमने शोषण से अपने भगवान तक को नहीं बख्शा उन्हें कोर्ट कचहरी तक घसीटा है।''

शास्त्री जी हिन्दुत्व के नाम पर तमाम ढोंग रचते हैं और मानवीय वातावरण को दूषित करके छोड़ देते हैं। पाले लोक गायक (छोटी जाति का है) जो हिन्दू धर्म ग्रन्थों, साहित्य और इतिहास के पन्नों से चुन-चुन कर जिन बुराइयों को समाज सामने लाता है उसे सुन कर बड़ी जाति वाले हिन्दू तिलमिला उठते हैं। पाले लोक गायक है। सुरीली आवाज में अपने पुराणो धर्म ग्रन्थों, रामायण, महाभारत में जो सामाजिक-धार्मिक कमियाँ हैं, उनको उजागर करता है, उन्हें गा कर सुनाता है, किन्तु उसके इस सत्य से सवर्ण लोग, धर्म के ठेकेदार खुश नहीं है अन्ततः शास्त्री जी उसकी हत्या करा देते हैं। उसकी टीम को निर्ममता से पीटा जाता है। उनके गाने बजाने का समान तोड़-फोड़ दिया जाता है। इस प्रकार इस लोक गायक के पूरे दल को खत्म कर दिया जाता है। हत्यारों को कोई सजा नहीं मिलती। खुले में साँड की तरह घूमते हैं और नीचता की हद यह कि उसकी (पाले की) हत्या का जश्न मनाया जाता है, बकायदा भोजन के साथ।

महमूद मुस्लिम है, यही उसका अपराध है। शास्त्री जी हिन्दू हैं, गाय पालकर हिन्दुत्व की रक्षा करते हैं और लोक गायक पाले की हत्या करा देते हैं, पर वे महान हैं। दरअसल समाज में अधकचरे समझ रखने वाले जन जैसे धूर्त, पाखंडी, दकियानूसी सत्य-असत्य में फर्क न करने की समझ, जड़ मूढ़मति लोग जब तक व्यावहारिक ज्ञान नहीं पाएँगे तब तक भारतीय समाज में राम-अल्लाह के नाम पर मरते रहेंगे और मारते रहेंगे। बड़ी मुश्किल से महमूद को थाने से छुड़ा कर लाना जोखिम उठाकर मुस्लिम बस्ती में जाना, काला पहाड़ से टकराना अपने आप में बड़ी घटना है। जब हिन्दू अत्याचार करते हैं तो क्या मुस्लिम पीछे रहेंगे। 10 सितम्बर से 14 सितम्बर 2013 के आस-पास मुजफ्फर नगर में इसी तरह के सांप्रदायिक-सामुदायिक दंगे हुए जिसमें बेवजह 30-40 लोग मारे गए। यह एक धार्मिक उन्माद, पागलपन है। पर हिन्दू या मुस्लिम होने पर किसी गैर धार्मिक के घर जा कर नौकर का काम करना और बेवजह गलत और झूठे केस में फँसा कर जेल भेजना, पिटाई करवाना, किसी भी समुदाय में ये बातें असंतोष और असहिष्णुता पैदा करता है। वे मुस्लिम हैं इसलिए हर हाल में अपराधी, आतंकवादी हैं और आप हिन्दू हैं, पाले की हत्या करवा देते हैं तो सन्त महात्मा हैं।

इस उपन्यास में काला पहाड़ नाम का जो पात्र है, वह मुस्लिम है, किन्तु काला पहाड़ क्यों बना? शास्त्री जी जैसे न जाने कितने और शास्त्री होंगे जो नफरत और धार्मिक उन्माद फैला कर वातावरण को दूषित करते हैं। राम मंदिर का परिक्रमा करते हैं पर मस्जिद गिरवाते हैं, जिसमें दो समुदायों का खून बहता है पर यह सोचने की बात कि हर हाल में इन्सान ही मरता है। बाबरी मस्जिद को गिराए जाने के बाद से उपजे तनाव में जब मुसलमानों की हत्या की जाती थी तो इसी काला पहाड़ ने न जाने कितने हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया था। एक दूसरी बात यह कि महमूद निर्दोष है, उसे अपहरण

के नाम पर फँसाकर थाने भेजवाना और उसके साथ अमानवीय व्यवहार करने और पाँच मुसलमानों के नामजद पर छोड़ना वातावरण को गम्भीर बनाता है। जब वह अपने मुस्लिम लोगों के बीच होता है तो सारी बात बताता है। प्रश्न यह है कि जब निर्दोष लोगों को फँसाया जायगा तो वे अपराधी बनने में पीछे क्यों रहेंगे ? अपराध किया ही नहीं फिर भी अपराधी है तो वह सोचेगा कि क्यों न अपराध किया जाय, जब अपराधी ही कहलाना है।

उपन्यास की भाषा बड़ी तीखा अनुभव कराती है। यह सरल सहज शैली में लिखा गया बड़ा उपन्यास है। इसका फलक बहुत बड़ा है। पढ़ते वक्त ऐसे लगता है, जैसे सब कुछ आँखों के आगे घट रहा हो। अवधी , भोजपुरी के शब्द यदा-कदा थीम को कथा में अर्थ गाम्भीर्य पैदा करते हैं किसी चमत्कार के लिए नहीं वे पात्र, वातावरण, देशकाल के हिसाब से आए हैं। 'त्रिशूल' शिवमूर्ति का ऐसा उपन्यास है जो कहानियों की लीक से हट कर नए दृष्टिबोध और नए तेवर के साथ सामने आता है। साम्प्रदायिकता और जातिवाद हमारे भारतीय समाज में लम्बे समय से जड़ जमाये बैठे हैं। इसकी आँच पर कुछ लोग राजनीति की रोटी सकते हैं; जिसके कारण समाज में जो जहर फैला है, वह चिन्ता का विषय बना। फलस्वरूप समाज में भयानक असुरक्षा, अविश्वास और बैर का भाव पनप रहा है, धर्म, जाति, और सम्प्रदाय के ठेकेदार, आदमी और आदमी के बीच की खाई लगातार चौड़ी करते जा रहे हैं।

त्रिशूल न केवल मंदिर-मण्डल की बल्कि आज के समाज में व्याप्त उथल-पुथल और टूटन की कहानी है। देश व्यापी उथल-पुथल को कथ्य बनाकर लेखक जाति, धर्म, सम्प्रदाय के विरूप और साम्प्रदायिकता की साजिश को बेबाकी, निर्भयता, निर्ममता से बे-नकाब करता है और ओछे हिन्दुत्व और छोटी समझ को ललकरता भी है।

सिनेमा में गहरी रुचि। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख प्रकाशित।
'स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिदृश्य और केदारनाथ सिंह का काव्य' पुस्तक प्रकाश्य।
पी.जी.डी.ए.वी. महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) में प्राध्यापक।
सम्पर्क : 100 (भूमि तल), पॉकेट-9
सैक्टर-21, रोहिणी, दिल्ली-110086
मोबाइल : 9013260706

ब्रजेश कुमार

विचारधारात्मक संघर्ष की गाथा

त्रिशूल हिन्दी के प्रख्यात कथाकार शिवमूर्ति का चर्चित पहला उपन्यास है। यह उपन्यास दृष्टिबोध के धरातल पर एक नई ज़मीन को गढ़ता है। त्रिशूल अर्थात् तीन शूल (तीन काँटे) हैं। जब आपके भीतर तीन शूल गडे हैं तो आपके भीतर जख्म बहुत गहरे होंगे। त्रिशूल प्रतीक है धार्मिक सम्प्रदाय का। त्रिशूल उपन्यास में साम्प्रदायिकता और जातिवाद को बहुत ही व्यापक स्तर पर उठाया गया है और उसको बेनकाब किया गया है। शैव, वैष्णव और, शाक्त अर्थात् हिन्दूवाद जब तक हमारे भीतर है तब तक साम्प्रदायिकता की समस्या खत्म नहीं हो सकती। हिन्दूवाद की कट्टरता को तभी खत्म किया जा सकता है जब समाज का दबा कुचला वर्ग संगठित हो। त्रिशूल के बारे में यह कहा गया कि यह एक जाति का दूसरे जाति के बीच विरोध या दंगा भड़काने वाली रचना है। किन्तु ऐसा नहीं है। यह हमारे समाज का दर्पण है। गुजरात-गोधरा काण्ड, सिक्ख दंगे, रामजन्मभूमि बावरी-मस्जिद विवाद, मुजफ्फरपुर हिंसा इत्यादि अनेक उदाहरण हमारे बीच मौजूद हैं। यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें हम आज भी अपना चेहरा देखने को अभिशप्त हैं। सम्प्रदाय का मतलब एक खास धर्म के मानने वाले लोगों के कुछ हित समान होते हैं। यह हित सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक हो सकते हैं। साम्प्रदायिकता ने साम्प्रदायिकतावाद की अवधारणा को बल दिया। साम्प्रदायिकतावाद ने एक धर्म को दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ दिखाने की मुहिम छेड़ दी। आज हिन्दू मुसलमान-ईसाई-सिक्ख सभी लोग अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए हैं। भारतीय समाज साम्प्रदायिकता विभाजन और आतिवाद के घेरे में घिर चुका है। सन् 1947 के भारत विभाजन ने साम्प्रदायवाद की जड़ें लोगों के दिलों में बैठा दीं और धीरे-धीरे इसको विस्तार दिया धर्म के कट्टरपन्थियों ने। कोई

भी धर्म बुरा नहीं होता, बुरा वह तब होता है जब वह राजनीति से मिल जाता है और अब धर्म राजनीति से ही जुड़ चुका है।

उपन्यासकार ने 'त्रिशूल' की शुरुआत निम्न पंक्तियों ले की है–

''कहाँ से शुरू करूँ महमूद की कहानी? वहाँ से जब पुलिस उसे घर ले घसीटकर ले जा रही थी...चौराहे पर, लाठियों से पीट रही थी और मुहल्ले का कोई आदमी बचाने के लिए आगे नहीं आ रहा था। या जब इसी चौराहे पर वे लोग उसकी छाती पर त्रिशूल अड़ाकर मजबूर कर रहे थे 'बोल-साले, जै सिरी राम'।''

महमूद जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह मुसलमान है और उसकी छाती में त्रिशूल अड़ाकर श्रीराम बुलवाने पर मजबूर किया जा रहा है। यह रामजन्मभूमि बावरी मस्जिद का मामला चल रहा था। हिन्दू और मुसलमानों में विरोध की स्थिति वढ़ गई है। उस महमूद को मारा-पीटा जा रहा है जो कभी हिन्दुओं के घर में एक सदस्य की तरह था। शास्त्री जी उसे चेलवा कहते थे। महमूद जिस मालिक के घर में रहता था उस घर के और उस मोहल्ले के सारे काम और सारी जिम्मेदारियाँ वह उठाता था किन्तु आज ऐसा क्या हो गया कि लोग उसकी जान लेकर ही छोड़ेगे। यहाँ धार्मिक उन्माद बढ़ चुके हैं। धर्म के नाम पर, धार्मिक भावनाओं को भड़का कर अपने हक में करने की असमर्थता बढ़ गई है। साम्प्रदायिकता एक भयंकर आग के रूप में फैल चुकी है। साम्प्रदायिकता में सन्तुलन नहीं बनाया जा रहा बल्कि विभिन्न धर्मो में हताशा और निराशी प्रकृत्ति फैलाई जा रही है। साम्प्रदायिकता का अगर सामाजिक मूल देखें तो इसका सामाजिक मूल उपनिवेशवाद है। उपनिवेशवाद ने समाज के भीतर आन्तरिक विभाजन को जन्म दिया। यह आन्तरिक विभाजन हुआ उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था, अल्पकालिक विकास तथा आर्थिक ठहराव के कारण। इसके कारण मध्यवर्ग आशंकाओं और निराशाओं से ग्रस्त हो गया और अपने आस-पास के परिवेश में ही अपने आप को असुरक्षित महसूस करने लगा। वह कुछ असामाजिक तत्वों के साथ मिल गया। इसी सन्दर्भ में उपन्यास के पात्र शास्त्री जी अपने पड़ोसी मित्र से बात कर रहे हैं कि–''...एक-एक 'मुसल्ला' चार-चार शादी कर रहा है और एक-एक से चौदह-चौदह बच्चे निकाल रहा है। परिवार नियोजन इनके लिए हराम है। यही रफ्तार जारी रही तो पचास साल बाद देश की दो तिहाई आबादी मुसलमान होंगे। तब दो-तिहाई बहुमत से देश का संविधान बदला जाएगा। और भारतवर्ष 'इस्लामिक कन्ट्री' घोषित होगा।''

मध्यवर्गीय मुसलमानों का यह सोचना था कि सरकारी कामकाजों में उनका हिस्सा बढ़ा दिया जाए तो स्थिति और मजबूत हो जाएगी और हिन्दुओं का यह सोचना था कि मुसलमानों का स्तर सुधारने से उनका हिस्सा मारा जाएगा। इस प्रकार यहाँ एक धर्म दूसरे धर्म के विरोध में आकर प्रतिस्पर्धी बन गया है। पंजाब, बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश इत्यादि सभी जगह लगभग यही स्थिति थी। साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण हमारी राष्ट्रीय चेतना विफल हो गई। साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के जो संघर्ष लोगों ने किए थे वह सभी धवस्त हो गए। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं में से अधिकतर नेताओं ने

यथास्थितिवादी व्यवस्था को कायम रखने पर बल दिया। अतः साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलन सफल न हो सका। और इसका परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायवादी सफल हो गए। धर्म अपने आप में साम्प्रदायिकता के लिए जिम्मेदार नहीं है। धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों में धर्म की कट्टरता का विरोध किया जाना चाहिए जो कि हो नहीं रहा है या हो भी रहा है तो बहुत ही सीमित स्तर पर। धार्मिक नियन्त्रण से मनुष्य के बहुत सारे क्रियाकलाप मुक्त नहीं हैं अर्थात् व्यक्ति के भीतर धर्म बहुत दूर तक चला गया है। त्रिशूल की निम्न पंक्तियों को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है। ''सुबह-शाम आरती-कीर्तन करना और घड़ी-घण्टा बजाना किसका धर्म है? पुजारी का। अगर पुजारी कहें कि घर का काम-काज छोड़कर हमारे साथ चलिए महीने-भर अयोध्या में घण्टा बजाने तो यह धर्म होगा कि अर्धम? महीने-भर वहाँ घण्टा बचाओगे तो यहाँ बाल-बच्चे क्या खाएँगे। बाबाजी का घण्टा? और पुजारी कैसे-कैसे?''

धर्म यह नहीं है कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान। बल्कि यह होना चाहिए कि बेटे का धर्म क्या है? पिता और पुत्र का धर्म क्या है? व्यक्ति और उसके समाज का धर्म क्या है? धर्म का अर्थ व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने से है। भारत-पाक विभाजन के समय भयानक मार-काट हुई और कुछ इसी तरह की मार-काट अयोध्या में हुई। इसी सन्दर्भ में निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– ''अयोध्या से लौटने वाले राम-भक्त अयोध्या की घटनाओं का बिना देखा हुआ आँखों देखा हाल सुना रहे हैं।...इन भक्तों के अनुसार भारत-पाक विभाजन के समय भी ऐसी भयानक मार-काट क्या हुई रही होगी, जैसी अयोध्या से लौटने के रास्तों में होती हुई वे देखते आ रहे हैं।''

हमारा राष्ट्र कभी साम्प्रदायिक था ही नहीं। धीरे-धीरे राष्ट्र की परिकल्पना हट गई और सम्प्रदाय प्रमुख हो गए। साम्प्रदायिक हितों की रक्षा राष्ट्रीयता के अन्तर्गत ही था किन्तु साम्प्रदायों ने अपना अतिक्रमण कर दिया है। साम्प्रदायिक हिंसा से कैसे निपटा जाए यह एक प्रश्न है। यह विचारात्मक संघर्ष की एक लम्बी गाथा है। साम्प्रदायवाद अपने आप को जब धर्म से अलग कर लेगा या राजनीति से अलग कर लेगा तो विकास की नई सम्भावनाएँ स्थापित हो सकती हैं। इतिहास के साम्प्रदायिक विचार को मानवीय परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है न कि धार्मिक या मजहबी परिप्रेक्ष्य में।

युवा कवि। 'मुझ में टूटता मैं' तथा 'बस्ती कभी नहीं बस्ती' काव्य संकलन प्रकाशित।
'कवि, कथाकार और चिन्तक' आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाश्य।
सम्पर्क : एच-459, नारायणा, नई दिल्ली-110028
मोबाइल : 9716236224

पाठकीय प्रतिक्रिया

1

प्रिय लेखक महोदय, नमस्ते। 24.04.81

मैं कहानियाँ कम ही पढ़ता हूँ क्योंकि कहानियाँ यथार्थ जीवन-पर कम ही आधारित होती हैं। आपकी सारिका में छपी कहानी (अगस्त 81) भरतनाट्यम पढ़ी पहले तो शीर्षक देखकर यही लगा था कि कहानी अच्छी नहीं होगी। लेकिन पढ़ने के बाद मेरा विश्वास गलत निकला, क्योंकि आपकी कहानी वर्तमान जीवन पर आधारित एक सत्य कहानी है। आपकी कहानी को जितनी बार पढ़ा जाएँ उतना ही कम हैं, क्योंकि कहानी बहुत ही अच्छी है। आपके लिखने का ढंग शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय जैसा हैं, उनकी कहानियाँ भी वर्तमान जन जीवन पर आधारित थी। आप इसी तरह कहानियाँ लिखा करें। धन्यवाद।

सुरेश चन्द्र वर्मा
8919, शिवपुरी उरई-285001 (जालौन)

2

प्रिय, शिवमूर्ति जी 7.7.81

आपकी रचना सारिका में 'भरतनाट्यम' नाम के शीर्षक से पढ़ा। इसमें एक ऐसी

घटना को आपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है जो आज के समाज में देखने को मिल जाती है। इस रचना के द्वारा आपने यथार्थ को जो कलुषता से संबंधित है वर्णन करने में पूरी सफलता पायी है। इस प्रकार की रचना विरले ही पढ़ने को मिलती है। इसके लिए मैं आपको प्रशंसा का पात्र समझता हूँ। आपने जो वर्णना दी है दिल को छू जाती है।

महान् उपन्यासकार एवं कथाकार, महामहिम प्रेमचंद को ग्रामीण एवं सामाजिक कुरीतियों को कथा के माध्यम से पात्रों के द्वारा जिस प्रकार चित्रण करने एवं सुधारने के उपायों को प्रदर्शित करने में सफलता मिली है। ठीक उसी प्रकार कुरीतियों को बेबसी को एवं हृदयविदारक परिस्थिति को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में आप को पूरी सफलता मिली है।

आशा है आप इस प्रकार की रचनाओं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर उनके ध्यान को ऐसी-ऐसी घटनाओं की ओर आकर्षित करेंगे और परिवर्तन के लिए कुछ सोचने को बाध्य करेंगे।

भगवान आपकी लेखनी को मजबूत करें, आप को बल और यश दें। इन्हीं शुभकामनाओं के साथ आपका।

शुभ्र ज्योति
द्वारा-श्री सुनीति कुमार, आजाद नगर पुरबसराय
मुंगेर-811201 (बिहार)

3

16.8.81

भाई शिवमूर्ति,

'सारिका' में प्रकाशित कहानी 'भरतनाट्यम' के लिए हार्दिक बधाई स्वीकारें।

आज की परिस्थितियाँ किस भयावह स्थिति तक मनुष्य को पहुँचने को विवश करती हैं—इसका पूर्ण दस्तावेज है यह कहानी। और नया लिख-पढ़ रहे हैं? पत्र देंगे।

शुभकामनाओं सहित

आपका
बसंत
189 बी/आर.के. एवेन्यू, राजेन्द्रनगर,
पटना-800016 (बिहार)

4

माननीय शिवमूर्ति, नमस्कार! 19.9.81

'सारिका' में छपी, कहानी 'भरतनाट्यम' पढ़कर ही आपको पत्र लिखने का मन हुआ है। किसी लेखक को पत्र लिखने का यह मेरा पहला ही अवसर है, पढ़ा तो काफी कुछ है लेकिन इस तरह पत्र लिखना पहली ही दफा हो रहा है।

मातृभाषा हिन्दी नहीं है सो, काफी गलतियाँ करूँगा तो इसे असहज नहीं मानियेगा। 'भरतनाट्यम' कहानी ने मन को अन्दर तक झिंझोड़ दिया। आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच की टक्कर एक सोचने समझने वाले इन्सान को किस तरह तोड़ के रख देती है, यह कहानी उसका स्पष्ट उदाहरण है। आप जिस विभाग में कार्यरत है वहाँ भी आपको रोज-रोज यह पता चलता रहता होगा कि इस तरह की सारी कशमकश और बुराइयों के लिए हमारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा कितना ज्यादा जिम्मेवार है, सरकार द्वारा बनाये गये कानून सही मायनों में कितने बेकार हैं बेमानी हैं। यह आप अच्छी तरह महसूस करते होंगे। एक अच्छा इन्सान अपनी अच्छाई के साथ रहकर इज़्ज़त से इस समाज में जी पाये यह मुमकिन नहीं लगता। पढ़ाया हमें आदर्शवाद जाता है और जब जीवन में कुछ करने का मौका आता है तो हमें यह बतलाया जाता है कि वो सब तो किताबी बातें थी, असल ज़िन्दगी में तो वाजिब-ना वाजिब तरीके से पैसा कमाना ही ध्येय होना चाहिए।

सारिका से ही पता चला कि आपका पहला कहानी-संग्रह 'कसाईबाड़ा' आने वाला है। यहाँ पंजाब में शायद मिल जाएगा।

आप अगर मुझे पत्र लिखेंगे तो मैं समझूँगा कि यह मेरा सौभाग्य ही है। नहीं भी लिखेंगे तो भी ऐसी कोई बात नहीं। आप जैसे व्यस्त इंसान के लिए शायद इतना समय नहीं निकल पाएगा। हाँ, यह जरूर है कि अगर आप पत्र लिखे तो अगली बार जब मैं उधर जाऊँगा तो आपसे मिलूँगा ज़रूर।

धन्यवाद।

भवदीय
सत्तनाम सिंह खुराना
नियर वाह्वट हाउस
मॉडल टाउन रोड
लुधियाना-141001

5

आदरणीय शिवमूर्ति जी, सादर अभिवादन। 22.12.81

एक लम्बे अरसे से पत्र लिखने की सोच रहा था,पर हर बार हिम्मत जबाव दे जाती थी कि आप उत्तर देंगे भी या नहीं?

'भारतनाट्यम' ने मुझे बहुत प्रभावित किया, इसे एक बार नहीं, कई बार पढ़ चुका हूँ, हर बार नया ही अहसास हुआ, इतनी सशक्त कहानी के लिए बहुत-बहुत बधाई। आशा है ऐसे ही ज्वलंत प्रश्नों पर अपनी कलम चलाते रहेंगे। आपका कहानी संग्रह प्रकाशित होने पर सूचित कीजिएगा।

शिवमूर्ति जी, क्या आप, इस बीस वर्षीय तरुण को अपना मित्र बनाना स्वीकार करेंगे, जो आप जैसे साहित्यकारों के संरक्षण व मार्गदर्शन में इस साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है।

क्या आप बतायेंगे कि आपकी पहली कहानी कब, कहाँ प्रकाशित हुई थी? अपने छात्र जीवन की स्मृतियों जीने को आमंत्रण, यह सिविल इंजी. का छात्र प्रेषित करता है। आशा है सकुशल होंगे, आपके पत्र की प्रतीक्षा में।

आपका ही

प्रभात सिंह चिरार

द्वारा : श्री चारूचंड (प्रवक्ता-गणित)

एम.जी. टेक्निकल इंस्टीट्यूट

हाथरस (अलीगढ़)

201401

6

13.01.85

आदरणीय भाई,

मैं कल आया था और आज जा रहा हूँ। बलिया में बैठे-बैठे सोचा कि आपसे मिलूँ पर आने पर पता चला कि भाभी जी सहित आप लखनऊ किसी ऑपरेशन के सिलसिले में गये हैं। ऑपरेशन सफल हो यही कामना है। लौटकर आप एक पत्र तो जरूर ही डाल देंगे कि भाभी जी कैसी हैं।

पिछले दिनों संजीव दा का पत्र आया था। उसमें उन्होंने फरवरी वाले 'लेखक सम्मेलन' के बारे में भी पूछा था सो मैंने कोई 'क्लीयर जवाब नहीं दिया है। आने का एक कारण यह भी था कि आपसे इस बारे में भी चर्चा हो। वैसे संजीवदा ने तो आपको भी पत्र लिखा ही होगा।

बलिया से राजेन्द्र जी ने कहा था कि एल.आई.सी का काम हो गया है तथा जिस किसी से मिलकर जो एक काम करना था वह आदमी नहीं मिल पाया है। सम्भव है कि राजेन्द्र जी 15-20 जनवरी के बीच आयेंगे। आशा है, इस बीच तो आप रहेंगे ही। उन्होंने 'सारिका' के उस अंक की 24 प्रतियाँ भेजी हैं जिसमें आपकी कहानी प्रकाशित हुई है। 'सिरी उपमा जोग' से जितती उम्मीद मैंने लगा रखी थी, उतनी अच्छी नहीं लगी। फिर भी एक ऐसा कथ्य तो था ही जिसने प्रभावित किया। आपकी शैली की झलक इस कहानी में भी मिली। मेरा मतलब उस शैली से है जो 'भरतनाट्यम' में है। सही है कि आदमी को जब बेहतर विकल्प मिलता है तो पुरानी चीजें खराब एवं ऊबाऊ लगने लगती हैं चाहे वो 'कसाईबाड़ा' के लीडर जी हों जिनको राजनीति के शौक के कारण मास्टरी 'गर्दन की मैल' लगती हैं या 'सिरी उपमा जोग' का वह अधिकारी हो जिसे नई बीवी मिल जाने पर उस पुरानी पत्नी के देह की प्राकृतिक सुगन्ध 'भूसे की गन्ध' में बदल जाती है, जो एक मजबूत नींव की तरह खड़ी है जिस पर उस अधिकारी का सारा वर्तमान वैभव एवं प्रतिष्ठा 'डिस्को' कर रही है। खैर, ऐसे कुछ लोग तो हैं ही। बलिया में भी। बस अब तो किसी अगली कहानी का इन्तजार है जो 'कसाईबाड़ा', 'भरतनाट्यम' या 'अकाल दंड' के टक्कर की हो।

आशा है आपका पत्र बलिया जरूर पहुँचेगा।

आपका ही

श्री प्रकाश

प्रतिभा प्रकाशन, शोरुम

खरौनी कोठी, बलिया, उ.प्र.

277001

7

प्रिय भाई शिवमूर्ति 14.06.87

शुभ नमन।

समझ में नहीं आता किस कहानी के लिए मैं आपको बधाई दूँ—'कसाईबाड़ा' के लिए या 'भरतनाट्यम' के लिए या 'तिरिया चरित्तर' के लिए। दो-एक साल पूर्व 'भरतनाट्यम' 'सारिका' में पढ़ने को मिली थी। महीनों तक उस कहानी की चर्चा होती रही—'सारिका' में और 'सारिका' के बाहर भी। आपने यथार्थ की जमीन पर एक बेरोजगार नौजवान की पीड़ा और उसके आंतरिक द्वन्द्वों को कलात्मक ढंग से रेखांकित किया था।

लम्बे इन्तजार के बाद इधर हंस में (जून अंक) आपकी बेजोड़ कहानी 'तिरिया चरित्तर' पढ़ने को मिली। वर्षों बाद प्रेमचन्द और फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानियों का स्वाद मिला? प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि और रेणु जी की ग्रामाचलीय भाषा संवेदना इस कहानी को सामान्य कहानियों से अगल करती है। दृष्टि और संवेदना ही किसी रचना

को कालजयी बनाते हैं, और ये दोनों तत्त्व इस कहानी के अन्तस्तल में मौजूद हैं।

नारी-उत्पीड़न को केन्द्र में रखकर हिन्दी साहित्य में अब तक जितनी भी कहानियाँ लिखी गयी हैं—उनमें 'तिरिया चरित्तर' का अलग से रेखांकित करना पड़ेगा। बिना किसी बड़बोलापन के 'कहानी' अपने समाज में नारी-शोषण की कहानी को आहिस्ता-आहिस्ता खोलती चली जाती है।

यह शिल्प का उत्कर्ष है कि इतनी लम्बी कहानी में कथाकार कहीं रुककर अतिरिक्त 'कमेंट' नहीं करता। विमली का शारीरिक व भावात्मक शोषण करने वाला हमारा समाज ज्योंही 'दागने' का निर्णय लेता है, त्योंहि पाठक के भीतर विद्रोह की एक लहर दौड़ जाती है। इतनी धीमी गति से सरकने वाली कहानी हमारे समाज के चिन्तन में एक सार्थक हस्तक्षेप करती है। इस प्रकार यह कहानी अपनी सामाजिक भूमिका बड़े सशक्त ढंग से निभाती है।

समझ में नहीं आता जहाँ शिवमूर्ति जैसे कहानीकार की चर्चा तक नहीं होती वहीं हिन्दी साहित्य के नामवर आलोचक मिथिलेश्वर जैसे सपाट व ऊर्जाहीन कथाकारों का नाम लेते नहीं अघाते। आखिर क्यों?

बहरहाल, आपके कहानी-संग्रह का इंतजार हम कब तक करें? आपकी कहानियों को इकट्ठे पढ़ने का एक अलग आनंद (?) होगा।

आपका
मृत्युंजय
ग्राम + पो. नदाँव
भोजपुर, बिहार

8

प्रिय शिवमूर्ति जी, 18.06.87

'हंस' में आयी आपकी 'तिरिया चरित्तर' एक कहानी ही नहीं एक, रिसर्च वर्क है। माटी की महक लिए रेणु की एक कहानी 'लाल पान की बेगम' पढ़ी थी, जिसे रेणु की मैं सर्वश्रेष्ठ कहानी मानता हूँ—लेकिन मासूम संवेदनाओं को जेहन में उतारने में आप यहाँ, रेणु को भी पीछे छोड़ गए हैं।

कहानी के आवेश में बंधकर कही आक्रोश से साँस तेज हो गई, तो कही बिमली के अनछुए चरित्र ने आँखों में आँसू ला दिए।

सड़ी-गली, तर्कहीन सारहीन माइथोलोजी का सही मूल्यांकन कर आप समाज-सुधारकों की पक्ति में खड़े हो गए हैं। समाज सेवियों व समाजशास्त्रियों को इस कहानी के सन्देश को जनता के बीच एक्सप्लेन करना चाहिए।

कथ्य की स्वाभाविकता के गाढ़े परदे में कहानी की फैन्टेसी कहीं नजर ही नहीं आती, जिससे कहानी में एक लय आ गया है। इस दृष्टि से यह कहानी 'कसाईबाड़ा'

और 'भरतनाट्यम' जैसी शानदार-चर्चित कहानियों से भी एक कदम आगे है।

अनुभवों की सूक्ष्मता से जो शब्दों की माला बनी है उसकी सुन्दरता देखते ही बनती है। यथा

—दिन भर ईट ढोने से थका शरीर। आँखों की पलकें जैसे चिपक जाती हैं आपस में

—और यदा-कदा गाँव के बच्चे मांस पर नजर गड़ाए गाँव के भेड़िए।

—बुढ़िया बिमली को मन की आँखों से देखती है।....विमली के एक-एक अंग को टटोल-टटोल कर पढ़ रही है—सीना। देह। कूल्हे। आखिर दुनिया भर के लौंडे-लपाड़ों के बीच दिन काटती है। उसकी बेटी। लात खाकर बिसराम के तन में भय समा गया है। आज की रात वह दूर से ही भौंकेगा। मेला देखेगी जलेबी खाएँगी?...

नाक न हो तो औरतें मैला खा लें व बाढ़ ही खेत खा गई जैसे मुहावरे प्रेमचन्द के घीसू पर दया करना तो काले कम्बल पर रंग चढ़ाना है और घर में पैसे ऐसे गायब थे जैसे—'चील के घोंसले से माँस' की याद दिलाते हैं।

औपचारिक बधाई से मन नहीं भर रहा है, क्या करूँ?

विनम्र
कंचन
पाटलिपुत्र मेडिकल कॉलेज, धनबाद
पी ओः बी सी सी एल टाउनशिप, बिहार 826005

9

प्रिय शिवमूर्ति भाई, 25.6.87

आज आपकी रचना 'तिरिया चरित्तर' हंस के जून अंक में पढ़ने को मिली। रचना सार्थक, सुगंठित और बेचैन करने वाली है। श्रमिक महिला का चरित्र स्वयं प्रकाशित प्रतिनिधिक और संतुलित है। कथा स्थितियों का निर्वाह तर्कपूर्ण और सहज रूप में हुआ है। परिवेश और पात्र, भाषा और लोकोक्तियाँ इस सुगंठित और गत्यात्मक महागाथा की प्राण हैं। कथा का निर्वाह ग्रामीण जीवन की दारुण निर्मम और जड़ जीवन स्थितियों को यथार्थता में चित्रित करने वाला है। अंतिम स्थल में रोमांटिक क्रान्तिकारिता की पूरी गुंजाइश थी, पर संतोष है कि आप समर्थ रहे हैं इस मोहजाल से बचने में।

इतनी सशक्त रचना देने के लिए साधुवाद स्वीकार करें।

आपका
श्री नाथ
144 ए, रामगली, हरजिंदरनगर, कानपुर उत्तर प्रदेश-7

10

आदरणीय शिवमूर्ति जी, मंडला
हार्दिक अभिवादन। 2.7.87

हंस के इस अंक में प्रकाशित कहानी 'तिरया चरित्तर' बेहद पसन्द आई। लम्बे कथ्य में परिवेशीय संतुलन को बनाये रखना रचनाकर्म की महत्ता को स्वीकार करती है।

विमली को अपने हालात में छोड़ने से पाठक की मानसिकता को पीड़ा अवश्य पहुँचती है किन्तु उसके लम्बे पीड़ात्मक जीवन के प्रति सहानुभूति प्राप्त करने में कहानी अवश्य धारदार है। विसराम के द्वारा पुरुषों का पाशिवक वृत्तियों का उद्घाटन प्रशंसनीय है।

अच्छी कहानी की रचना के लिए साधुवाद।

आपका
पूरनसिंह ठाकुर
द्वारा/दीपक प्रटिंग प्रेस
सेट्रल बैंक के पीछे
स्वामी सीतारामवार्ड मंडाला (म.प्र.)

11

प्रिय शिवमूर्ति जी, 05-07-87

आदाब!

आपको मेरा यह पत्र हैरानी में तो डालेगा ही क्योंकि न तो आप मेरे नाम से वाकिफ़ हैं और न ही मुझे इतनी अच्छी हिन्दी लिखनी आती है।

आपकी लम्बी कहानी 'तिरिया चरित्तर' पढ़ने का मौक़ा अब हाथ लगा। पहले गाँव जाना पड़ा, फिर बीमार-विमार रहा, और Multhi Lingual writers Camp (Bhopal) से आकर मैंने पत्रिकाएँ देखनी आरम्भ की। आप की इस कहानी ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। मैं इस कहानी की ख़ूबसूरती के लिए आप को मुबारक-बाद भेजता हूँ। आँचलिकता में भी आप का जवाब नहीं।

वास्तव में, यह एक नॉवल था, जिसे आपने जल्दी में समेटने की कोशिश की है। किरदार सभी जानदार है।

मैं आपकी, दूसरी रचनाएँ पढ़ना चाहता हूँ। जवाब की इन्तज़ार रहेगा।

आपका हितैषी
इकबाल दीप
शिव नगर
नई दिल्ली-110058

12

आदरणीय शिवमूर्ति जी, 19.7.87

सादर नमस्कार।

'तिरिया चरित्तर' पढ़ने के बाद 'विमली' को भूल पाना सहज नहीं है। विमली पढ़ी-लिखी नहीं है। मजदूर लड़की है। फिर भी उसमें न केवल जिम्मेदारी की भावना बल्कि जीवटता है और संघर्ष की अटूट शक्ति भी है। आज का समाज कितना दकियानूसी और पिछड़ा हुआ है। वह विमली के मार्फत बिल्कुल साफ दिखाई देता है।

कहानी सुगंठित है, मार्मिक है। विमली के साथ हुए अन्याय को जैसे विमली नहीं झेल पाती है, मुझ जैसा पाठक भी नहीं झेल पायेगा।

ऐसे निम्न तबकों पर लिखने वाले गिने चुने लोग ही हैं। आपकी इस कहानी ने रांगेय राघव व रेणु की याद दिला दी।

आपको बधाई व अभिवादन

सादर
बाबूलाल माली
रेलवे क्वार्ट, टी-131 बी
मद्सौर (म. प्र.)

13

प्रिय शिवमूर्ति जी, नमस्कार। 25.7.87

एक साधारण पाठक को अपने प्रिय लेखक का पत्र पाकर जो अव्यक्त खुशी हो सकती है, वैसी ही खुशी मुझे हुई। आपकी संवेदनशीलता और अपनापन का शाश्वत सुख मुझे आपके आतिथ्य से मिलेगा। स्वागत है आने का। आइए।

'अपराध' और 'किशनगंज के अहेरी' के कारण संजीव को तो मैं भली-भाँति ही जानता हूँ। एक सजग और मेहनती रचनाकार के रूप में वे मेरे अन्दर जरूर प्रतिबिम्बित हैं—अच्छा रहेगा आप दोनों आएँ, उस मौके पर मैं यहाँ एक गोष्ठी का आयोजन कराने की चेष्टा करूँगा। वैसे यहाँ या इस मेडिकल कॉलेज के छात्र एक तरह की सांस्कृतिक शून्यता में जीते हैं—पर कुछ छात्र हैं जो सांस्कृतिक तौर पर भी सार्थक रूप से सजग हैं।

आपकी कहानी मेरे कहने पर कई लोगों ने पढ़ा और सब ने इसे पूरे मन से एप्रिसियेट किया। दरअसल मेरी प्रतिक्रिया कुछ ज्यादा भावुक थी, और फिर अब कुछ देर भी हो गई है—लेकिन मुझे पूरा यकीन है कि शब्द-शैली से समृद्ध प्रबुद्ध पाठकों के सैकड़ों पत्र राजेन्द्र यादव के पास जरूर पहुँचे होंगे। वैसे खुद राजेन्द्र यादव की प्रतिक्रिया कि 'तरिया चरित्तर' इज्म विज्म से दूर एक जेंनुइन कहानी है, के पूर्वाग्रह से पाठक असहमत नहीं होंगे।

आपसे आकर्षित होने का एक और कारण है—आपके द्वारा कम (लेकिन निश्चित रूप से सही—सामायिक और एक मानक लकीर की) कहानियों का लिखा जाना। आज के ज्यादा कहानीकारों का हाल यह है कि उनकी एक कहानी अच्छी या चर्चित हुई नहीं कि वे अपने पाठकों को दर्जनों उबाऊ-निसार कहानियों से दण्डित कर देते हैं। नए कहानीकारों को चन्द्रधर शर्मा गुलेरी से सबक लेना चाहिए जो शायद मात्र तीन या चार कहानियों (चर्चित कहानी—उसने कहा था) के योगदान पर आज हिन्दी कहानी के इतिहास में एक सम्मानीय स्थान के हकदार हैं।

मुमकिन है स्वस्थ-सानन्द होंगे

प्यार और आदर से

के. के. मणि

धनबाद, झारखण्ड

14

आदरणीय श्री शिवमूर्ति जी, सादर अभिवादन। 11.6.88

कुशल हूँ कुशलता की कामना है। आगे कहना यह है कि 'तिरिया चरित्तर' एक ही बैठक में पढ़ गया। मन भरा नहीं। सोचा-कहानी और लम्बी होती तो थोड़ा समय और भी सार्थक होता। जहाँ तक मैं पढ़ सका हूँ, पिछले दशकों में भी ऐसी दूसरी कहानी नहीं लिखी हुई। पूरे कथानक में कहीं जोड़ नहीं है। जैसे तना, डाली, टहनी, पत्ती और फूल-फल आदि कोई अवयव वृक्ष में जुड़ा नहीं होता। सब कुछ वृक्ष का सहज विकास नहीं; वृक्ष ही होता है। ठीक वैसे सारा का सारा घटना क्रम एक ही है; एक ही कहानी में आत्मसात् है। न कुछ थोपा गया है, न ही कुछ यथार्थ से तिल भर विलग है। भाषा की पच्चीकारी जीवन्त ग्रामीणानुभवों की संवेदना को तरलायीत करती है। प्रेमचन्द की अनुभूति और रेणु तथा ज्ञानरंजन की अभिव्यंजना भी (यदि मैं चापलूसी नहीं करता हूँ कहीं-कहीं पीछे छूट जाती है।

हाँ, एक बात पर मन खीझता है—यहाँ तिरिया चरित्तर है कहाँ? सारा चरित्तर तो मरद का है। अगर सचमुच में इस मरद चरित्तर के विरुद्ध कोई जेहाद छिड़े तो वह वैचारिक ही सही, पर किसी महाभारत से कम भयावह कदापि नहीं होगा। और तब यह कहानी एक उपन्यास बन जाएगी। अबला जीवन की दारुण यंत्रणा की धधकती ज्वाला। जिसमें पुरुषों की समग्र पैशाचिक बर्बरता स्वाहा हो जाए और फिर कोई नया 'बिसराम' जन्म ही न ले। खैर, छोड़िए यह मेरी अपनी दृष्टि हो सकती है।

आप तथा आपके पूरे परिवार के प्रति यथोचित के साथ

आप ही का डॉ. जटा शंकर द्विवेदी

प्राध्यापक, हिन्दी डी.सी.एस.के.पी.जी.का. मऊ नाथ भंजन,

आजमगढ़

15

श्रद्धेय शिवमूर्ति जी। प्रणाम काशी

8.06.89

एक अपरिचित का पत्र सर्वथा अप्रताक्षित लगना अस्वभाविक नहीं, अतः पहले मैं अपने बारे में कुछ मोटी जानकारी दे दूँ। मैं आपकी कहानियों का पुराना पाठक हूँ। (फैन) प्रशंसक भी हूँ। यह मन्तव्य इस पत्र लिखने से ही स्पष्ट हो गया होगा—आशा करता हूँ आपके पास यह सब कुछ लिखते हुए अनायास भावुक हो उठा हूँ—सम्भवतः मेरा आपके प्रति किंचित श्रद्धाभाव ही है। मैंने यह पत्र एक विशेष प्रयोजन (स्वार्थ) से लिखा है। मैंने आपकी एक कहानी 'भरतनाट्यम' सारिका के किसी अंक में पढ़ी थी। अरसा हो गया।

पिछले दिनों उक्त अंक मुझे पुनः उपलब्ध हो गया—इस बीच मैं काशी के स्थानीय रंग कर्म में सक्रिय रूप से जुड़ा रहा, मौलिक नाट्यालेखन से रूपातरों के मंथन तक आपकी इस कहानी में मुझे लगा कि 'थियेटर' की संभावनाएँ दिखती है—आपसे निवेदन है कि उस कहानी के मंचीय रूपांतरण का अधिकार (क्षमा करे—अनुमति) देने की कृपा करें। यह निश्चय ही आपको मेरे ऊपर यथोचित अनुग्रह होगा

मैंने थोड़ा सा काम शुरू कर दिया है—अनुमति पत्र मिलते ही पूरा कर दूँगा और एक प्रति आपको उपलब्ध कराऊँगा। आशा है मेरे निवेदन पर अनुकूल विचार करेंगे।

विनायक मिश्र

बी 20/87 ए (पानीकल के पास)

भेलूबुरा, वाराणसी उत्तर प्रदेश-221010

16

श्री शिवमूर्ति जी, सादर अभिवादन। 8.9.89

सारिका वर्ष 21 अंक 290 में आपके द्वारा लिपिबद्ध कहानी 'भरतनाट्यम' ने मन को झकझोर डाला, एक शिक्षित बेरोजगार की इतनी मार्मिक स्थिति और उसकी निरीहता की सशक्त अभिव्यक्त किया। लगता है कि वास्तव में ही आपका जीवन वर्तमान के पूर्व संघर्षमय रहा होगा। वर्तमान स्थिति के पीछे असीम जिजीविषा का विद्यमान होना ही सफलता का कारण बना होगा। आपने ग्रामीण परिवेश में किन्हीं मूल्यों, मान्यताओं, आदर्शों, सिद्धान्तों को मापदंड मानकर जीवन के इच्छुक प्रत्येक शिक्षित बेरोजगार की पीड़ा

की वास्तविक स्थिति को प्रति-बिम्बित किया है।

वर्तमान समय में जीवन की वास्तविकताओं के समक्ष प्रत्येक आदर्शवादी का आदर्श अवश्य ही तार-तार हो जाता है। इसे मैंने अपने जीवन में देखा है और समाज में नित्य ही निकट से घटित होते देख रहा हूँ। निदान क्या और क्यों है?

आशा है कि अपने स्तर पर निदान के लिए निरन्तर प्रयास-रत रहेंगे। यह अपेक्षा भी केवल इसलिए है कि अभी तक बिक्री कर जैसे कामधेनु विभाग में रहकर भी आपके विचारों में आम आदमी के दर्द की टीस विद्यमान है।

आपके स्वस्थ्य ऐश्वर्यमय एवं सच्चरित्र जीवन की सद्कामनाओं सहित।

रामसेवक चौधरी (विधायक)
51–बी/दारुल शफा
लखनऊ, उत्तर प्रदेश

17

परमादरणीय शिवमूर्ति जी, मेरा नित्य का प्रणाम स्वीकारें। **31.07.90**

समय गुजर गया, कोई पत्र लिखे आपको। सचमुच की व्यस्तता या कृत्रिम व्यस्तता? न जाने क्या घेरे हुए है मुझे। पत्र-व्यवहार तक भूल गया मैं, सारे सम्बन्ध मेरे दूर-से हो गये। सारे रिश्ते-नाते, स्नेही-गुरुजन-बन्धुजन मुझसे रुठ गये। क्या यह अखबारी दुनिया में काम करते-करते खत्म होती संवेदनहीनता का परिणाम नहीं? लेखन पर विराम, न छपने की कसक, दूसरों की छपी रचना से अपनी रचना की तुलना करते पनपी ईर्ष्या, प्रकाशकों सम्पादकों के प्रति आक्रोश और मेरी कलम रुक गई।

कैसे हैं आप? क्या लिख रहे हैं? क्या छपने वाला है? आपकी गतिविधि? आजमगढ़ संगोष्ठी में आपका मित्रजनों से कुछ दूर रहकर चुपके से आना, चले जाना, ढेरों सवाल हैं?

आपका
विष्णुलाल गुप्त
52, मुशलापुरा, मऊनाथ भंजन
जनपद, मऊ, उत्तर प्रदेश–275101

18

परम प्रिय शिवमूर्ति जी, आपका पत्र? 11.10.90

केशर-कस्तूरी को लेकर एक साधारण कार्ड लिखा था, जिसके पीछे कारण यह था कि पत्र द्वारा सम्पर्क सधने पर विश्वास लगभग नहीं था। इसी कारण विस्तार से लिखना उचित नहीं समझा। आपकी भाँति तुलसीरमण का भी पत्र मिला था जिन्होंने कहानी की

खामियाँ हमारे शब्दों में जाननी चाही। मैं समझता हूँ आपकी कहानी पर 'क्रिटिकल कमेन्ट' लिखने का मन तभी बन सकता था जब और कोई कहानीकार इससे अच्छी कहानी लिख रहा होता। फिर भी तिरिया चरित्तर और केशर-कस्तूरी दोनों ही मुझे सामन्ती यर्थाथ और औपनिवेशिक परिवेश में फलते-फलते पूँजीवादी यथार्थ के मित्रवत ताल पर थिरकती लगीं। मैं समझता हूँ इस सीमा को तोड़ने की कोशिश कोई भी कहानी नहीं कर रही है और यह तभी संभव है जब जनतांत्रिक जनवाद अर्थात् समाजवादी यथार्थ की कहानी लिखी जाये, मसलन मुख्य पात्र की हत्या हो न आत्महत्या, पात्र स्थितियों को स्वीकारने के बजाय उन्हें बदलने के लिए संघर्ष करे, वह क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी विचारधारा को आत्मसात करता चले। बस, संघर्षशील प्रक्रिया की कोई कड़ी हो कहानी। यहाँ नई होने के कारण कहानी पहचान और पाठक की तलाश के खतरे से नहीं बच सकती, पर किसी को तो यह खतरा ओढ़ना ही पड़ेगा।

'कसाईबाड़ा' की बहुत तारीफ सुनी, पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। आगरा संगोष्ठी में 'सर कलम करने' की बात के साथ आपने मुझसे बहुत कुछ कहा, बदले में मैंने भी व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर बहुत कुछ कहा आप लोगों से हमारा कहा अभी हमारे द्वारा लिखी जा रही 'कहानी की पहचान' पर समीक्षा में भूमिगत है जिसके अभी 10 पृष्ठ ही लिखे जा रहे हैं। पूरी हो जाने पर किसी पत्रिका को भेजूँगा, हंस को नहीं, जिसका स्पष्ट कारण पक्षपाती दृष्टि का होना है। साहित्य का क्षेत्र हमारे जीवन का कर्म-क्षेत्र भी नहीं है। खैर, संगोष्ठी में कहानी की पहचान का मानदण्ड नहीं ढूँढ़ा जा सका, परन्तु टिप्पणी में मैं अवश्य ढूँढ लूँगा, दुख इस बात का है कि समीक्षा में 'विद्यमान चाटुकारिता' पर किसी ने बहस नहीं की। और समीक्षा, समीक्षा के लिए नहीं, फतबा और शेखी के लिए और अपने को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए हो रही हैं।

आपका
एम.एल.कश्यप
द्वारा–ई.एन. सिंह
अशोक नगर, पोस्ट-सराय तल्फी, बरेली, उत्तर प्रदेश

19

21.10.93

महान कथाकार, आदबा अर्ज! आशा है सुकशल होंगे।

आपका लघु उपन्यास 'हंस' में पढ़ रहा हूँ। बहुत अच्छा जा रहा हैं। शैली, भाषा और कहानीपन अति सुन्दर है। अच्छा चल रहा है। अगली किस्त का इंतजार है।

आप हिन्दी के महान कथाकार है। आश्चर्य है कि उर्दू वाले आप से वाक़िफ़ नहीं, यह उर्दू की बदक़िस्मती ही तो है। क्यों न आपकी रचनाओं का अनुवाद किया जाए।

आपका क्या ख़्याल है। मेरा विचार है कि 'हंस' में जो उपन्यास चल रहा है उर्दू में पसन्द किया जाएगा।

आपकी कहानी तिरिया चरित्तर भी बहुत सुन्दर थी। आप एक सफ़ल दास्तान गो हैं। कहानी लम्बी होने के बावजूद पन्सद की जाती है।

माफ़ करें हिन्दी लिखने का अभ्यास नहीं है। पढ़ लेता हूँ। कोई गलती हो तो क्षमा।

आपका प्रशंसक

हैदर जाफ़री सय्यद

पोस्ट बाक्स 468

कानपुर, उत्तर प्रदेश 208001

20

श्रद्धेय शिवमूर्तिजी, सादर अभिवादन नरकटियागंज

6.4.10

आशा है आप स्वस्थ एवं सानन्द होंगे। आप की सर्जनात्मकता, चिन्तनशीलता एवं संवेदनशीलता के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। जीवन की व्यस्तता के क्षणों में आप समस्त दायित्वों का निर्वाह करते हुए जो कुछ लिख रहे हैं, रच रहे हैं उसकी हम सराहना करते हैं। आपकी कहानियों को पढ़कर लगता है कि कोई कलाकार कागज के कैनवस पर जीवन की अनुभूतियों, विविध अनुभवों को बड़ी ही समर्थता से उकेर रहा हो, आप मिट्टी से जुड़े कथाकार हैं जो अपने व्यापक अनुभव से हमारे सामने जीवन की परतें खोलता चलता है। निस्सन्देह हम आपकी रचनाशीलता के कायल है, मेरी शुभकामनाएँ स्वीकारें।

रमेश ऋतंभर

आर्य समाज गली,

नरकटियागंज 845 455 (बिहार)

21

18.08.17

भाई शिवमूर्ति, आपके दर्शन पहली बार 'हंस' में हुए। आपकी 'कसाईबाड़ा' तथा 'भरतनाट्यम' कहानियों की मात्र चर्चाएँ सुनी 'तिरिया चिरत्तर' पढ़ी तो जी करता है दूसरी भी पढ़ूँ...पर, खैर कभी सुयोग मिलेगा।

आपका लेखन और कथ्य गजब का है। यहाँ एक राजस्थानी कहावत उद्घृत कर रहा हूँः— *तिरिया चरित्तर न जाणे कोय*

खसम मार के सत्ती होय।

लेकिन हर कहीं वास्तविकता तक कोई नहीं पहुँचता। भेड़ें हैं लोग, एक भेड़ जिधर चली...बाकी सब भेड़ चलते चलते उधर ही चल निकलेंगे और औरतें तो हद दर्जे की भेड़े हैं, (बाल विधवा बिरजा के सन्दर्भ से देखें) कोई चाहे कितना ही सताए, उत्पीड़ित करे—छूरा घोंप दे पर 'राम की बनी' उफ़्फ़ तक नहीं करेंगी। एकाध (मनतोरिया की माँ की तरह) विरोध करना भी चाहेंगे तो पुरुष प्रधान समाज उसे सह नहीं सकता, पुरुष 'अहं' को चोट जो लगती है।

मैथिलीशरण जी की ''अबला...। आँखों में पानी कब तक आँखों में यह पानी (लहू) लिए टपकाती रहेगी निरीह पशु की तरह?

एक सही तस्वीर से समाज को रूबरू करवाने के लिए आपको बधाई। आप आगे और भी तहलका मचाएँगे—ऐसी संभावनाओं के साथ शुभ कामनाएँ। शेष शुभ

आपका

मदन सैनी

पो. श्रीडूंगरगढ़-331803 (चूरू) राजस्थान

आदित्य विक्रम सिंह

दर्शकों के जेहन में हमेशा मौजूद रहेगा

शिवमूर्ति मूलतः ग्रामीण जीवन और ग्रामीण परिवेश से आये सरकारी अधिकारियों के जीवन के कथाकार है। उनके कथा साहित्य में गाँव अपने यथार्थ स्थिति में ही आता है। गाँव का जीवन सबसे ज्यादा प्रभावित होता है वहाँ कि राजनीति से, और गाँव की राजनीति का अर्थ प्रधानी, पंचायत और प्रमुखी (ब्लाक)। शिवमूर्ति अपनी अधिकतर कहानियों में इन सारे तत्वों का ठीक से जिक्र करते हैं और उनके यहाँ इनका जो वर्णन मिलता है वह गाँव की स्थितियों का सघनतम बयान होता है। आज की कहानियों में गाँव भी मिलते हैं और किसान भी, मगर जिसकी नजरान्दाज़ी होती है वो हैं गाँव और किसानों की मूल समस्याएँ। शिवमूर्ति की कहानियों की एक और बड़ी विशेषता—ग्रामीण संसार की जो दुनिया है उसकी मुहावरेदार भाषा, उनका विट और उनके अनकहे दुःख, ये सब शिवमूर्ति की कहानियाँ कहती हैं।

शिवमूर्ति की कहानियों को अगर सिनेमा में उपयोग के नजरिये से देखें तो आप पाएँगे की अधिकतर कहानियों में एक दमदार पटकथा के तत्व मौजूद होते हैं और कई कहानियों पर फ़िल्में भी बनी है जो चर्चित रहीं है पर कहानी के बरक्स नहीं। तिरिया चरित्तर उनकी चर्चित कहानियों में से एक है, जिस पर इसी शीर्षक से फिल्म बनी है। यहाँ इसी फ़िल्म पर थोड़ी बात-चीत की जाएगी परन्तु स्वतन्त्र रूप नहीं बल्कि कहानी को ज़ेहन में रखकर। फिल्म का निर्देशन बासु चटर्जी ने किया है। यह फिल्म 1994 में रजतपट पर आई। इस फिल्म का निर्माण दूरदर्शन और राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम के आर्थिक सहयोग से हुआ था। फिल्म में मुख्य कलाकार थे नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, राजेश्वरी, एम एस ज़हीर।

जब भी किसी चर्चित कृति पर फिल्म बनती है तो सबसे पहले यही बात उठती है कि फिल्म ने मूल कृति की आत्मा के साथ कितना न्याय किया है। हालाँकि दोनों में विधागत अन्तर है तो कुछ परिवर्तन लाजिमी है परन्तु अन्तिम सवाल वही होता है की क्या जो लेखक कहना चाह रहा था वही मेसेज फिल्म भी दे रही है या नहीं? क्योंकि अमूमन फ़िल्में कहानी की ईमानदारी प्रस्तुति कर ले जाती है परन्तु भाव-प्रवणता में दृश्य माध्यम के सामर्थ्य को नहीं भुना पाती। कुछ इन्हीं सवालों के आलोक में तिरिया चरित्तर कहानी और फ़िल्म को देखतें हैं। तिरिया चरित्तर कहानी एक अवधी ग्रामीण पृष्ठभूमि की लड़की विमली के संघर्षों की कहानी है जिसे पुरुषवादी मानसिकता वाले समाज का शिकार होकर दोहरा अभिशाप झेलना पड़ता है। पहले उसका ससुर उसकी इज्जत तार-तार करता है और फिर पंचायत में उसकी इज्जत पर सवाल उठा कर उसे ही दण्ड दिलवाता है...ऊपर से पंचायत जो की अनादिकाल से पुरुषों के द्वारा पुरुषों के फायदे के लिए बनायी गयी थी, उसका फैसला आता है कि विमली ही दोषी है क्योंकि वह महिला है और उसके चरित्र का सर्टिफिकेट तो भर्तृहरि ने बहुत पहले ये सूत्र देकर आथराइज़ड कर दिया था की स्त्रीयाचारित्रम पुरुषस्भाग्यम...तो सज़ा मुकर्रर कर दी जाती है और उसे दण्ड भी उसका ससुर ही देगा। यही इस कहानी में जिस बात को हम शिद्दत से महसूस करते है; वह है विमली का संघर्ष। क्योंकि समाज की प्रताड़ना तो आम बात सी लगती है मगर विमली का हर कदम पर मुखर संघर्ष इस कहानी को मायने प्रदान करता है।

तिरिया चरित्तर फिल्म की शुरुआत होती है गाँव के एक हाल्ट नुमा रेलवे स्टेशन से, जहाँ विमली ट्रेन का इन्तज़ार कर रही है। तभी वहाँ गाँव के कुछ लठैत पहुँचते हैं और उसे ट्रेन से उतार घसीटते हुए गाँव में ले आते हैं, जहाँ पंचायत बुलाई जाती है, शाम को और उसकी गलतियों का फैसला करना है। फिर फिल्म फ्लैश बैक में दिखाई जाती है जिससे दर्शक विमली के जीवन के बारे में जानते हैं। उसका गाँव, माँ बाप, भट्ठा, कुइसा मिस्री, ड्राईवर, सब को निर्देशक उसी तारतम्यता से दिखाते हैं जैसा कहानी में वर्णित है। यहाँ एक बात का ध्यान रखना जरूरी है की कहानी को एस इट इज फिल्म में दिखाना महत्वपूर्ण नहीं बल्कि वैसा प्रभाव पड़ना महत्वपूर्ण है जैसा पाठक को कहानी पढ़ते समय महसूस होता है। और यहीं निर्देशक की प्रतिभा की भी अग्निपरीक्षा होती है। कहानी (फिल्म की) बढ़ते-बढ़ते वहाँ तक पहुँचती है जहाँ पंचायत लग चुकी है और फैसला होना है विमली की गलतियों का। जैसाकि पंचायत में होता है पुरुष ही पंच होंगे और बिल्कुल भगवान् वाले पंच। और तमाम गवाहों और साक्ष्यों को हाज़िर नाजिर मानकर विमली को सज़ा सुना दी जाती है जो अपने तरीके में उतनी ही क्रूरतम है जितनी इन पंचों की सोच। उसे दागने की सज़ा सुनाई जाती है। अमूमन दागना शब्द अपने पूरे अर्थ में जानवरों से ही सम्बन्ध रखता है और शब्द सुनते ही हमारे दिमाग में जानवर ही आता है। अब आप समझ सकते है पंचों की नज़र में एक स्त्री की क्या अहमियत है। पूरी

फिल्म में आप देखेंगे कोई स्त्री विमली के पक्ष में नहीं दिखती बल्कि इलज़ाम लगाने में जरूर आगे आ जाती है; सिर्फ मंतोरिया की माँ ही इसके लिए पंचों के फैसले का विरोध करती है और साथ ही साथ बिसराम के काले कारनामों को भी बताती है। उसकी आवाज को बन्द करने के लिए पंच कितना आसान तरीका चुनते हैं बस उसके पति को पुरुष होने का आभास दिला देते हैं और फिर क्या किसी की मजाल जो मुँह खोले।

फिल्म और मूल कहानी दोनों को एक साथ रखने पर आप पाएँगे की निर्देशक ने कहीं भी कहानी को तोड़ा-मरोड़ा नहीं, कुछ उल्टा-पुल्टा नहीं और आप निर्देशक पर कतई आरोप नहीं लगा सकते कि उसने कथाकार की कृति के साथ न्याय नहीं किया है। फिर वही बात कि हू-ब-हू रूपान्तरण का सिर्फ मामला नहीं, मामला प्रभाव का है जो की नहीं उत्पन्न हो पाया। दर्शक कथा की संवेदना का सहचर बनने के बजाए अन्ततः कुछ रीता-रीता सा ठगा महसूस करता है। आखिर क्या कारण है की कलाकार इतने कद्दावर, कहानी इतनी शानदार पर फिल्म प्रभावशाली नहीं? इसको जानने के लिए हमें शुरू करना होगा विमली के घर से, कहानी में विमली के घर को चित्रित करते समय उसे ठीक ठाक गरीब बताया गया है और अगर गरीब न होती तो जवान लड़की भट्ठे पर काम करने जाती? परन्तु फिल्म में यही विमली के घर का माहौल देखें ये बात ठीक है कि घर झोंपड़ी का है मगर उसकी माँ को देख कर कहीं से नहीं लगता की ये किसी गरीब लड़की की माँ है या खुद गरीब है। एक महिला जो बहुत अच्छी साड़ी पहनती है। चटाई पर सोती है, सीसे की गिलास में चाय पी रही है और पूरे हाव-भाव में कही से गरीब मजबूर बीमार नहीं दिखती। और पिता जिसे कहानी में बीमार बताया गया और उसकी बीमारी की वजह से ही बिमली नौकरी करने जाती है, कहीं से भी बीमार नहीं दिखता। ये अन्तर फिर भी उसे मालूम होगा जिसने कहानी पढ़ी होगी। परन्तु कहानी में एक बकरी का ज़िक्र है जिसे बिमली रोज घर से भट्ठे पर ले जाती है, फिल्म में वह बकरी तो घर में बिल्कुल छोटी से बकरी रहती है, मतलब बकरी का बच्चा रहता है परन्तु भट्ठे तक पहुँचते-पहुँचते वह पूरी बकरी हो जाती है। अरे इतना तो दर्शक ध्यान देता ही है कि बच्चे से बकरी बनने में ठीक-ठाक वक़्त लगता है और ये बिना कहानी पढ़े दर्शक को भी मालूम हो जाता है। इसकी सफाई में निर्देशक साहब ने कहा कि घर और भट्ठा दोनों अलग-अलग जगह की शूटिंग है इसीलिए बकरी में अन्तर है। फिल्म में भट्ठे और पंचायत की कार्यवाही को निर्देशक ठीक से दिखा ले गये हैं। भट्ठे का जीवन भी बिल्कुल सामान्य लगता है परन्तु यहाँ भी एक चीज खटकती है की किसी भी भट्ठे पर काम करने वाले मजदूर ही होते है और उनके कपड़े-लत्ते भी ज़ाहिर करतें है कि वो मजदूर है। आखिर इस बात को कब तक निर्देशक नहीं मानेंगे कि यथार्थवादी सिनेमा से भी इतर यथार्थ दिखाए जाने से महत्त्व घट नहीं जाएगा। पंचायत का दृश्य तो काफी हद तक यथार्थवादी लगता है, उनका पिक्चराइजेसन उनकी डायलॉग डिलवरी सब अनुकूल है।

फिल्म के जिस पक्ष ने सबसे ज्यादा निराश किया उसमें कई पक्षों का साझा है

मसलन खराब निर्देशन, कमतर अदाकारी, सम्पादन में कभी, सब बराबर के जिम्मेदार हैं। अदाकारी में दरअसल हर चरित्र के लिए एक खास माँग होती है और इसे निर्देशक को समझना चाहिए नाम के आधार पर तो इस फिल्म में बड़े कलाकार है नसीरुद्दीन शाह और ओमपुरी फिल्म में नसीर साहब के साथ दिक्कत ये है कि वह बिसराम के रोल में काफी लाउड लगते हैं और उनका पहनावा भी कहीं उन्हें उस तबके का नहीं दिखाता जिसका वर्णन कहानी में है। अगर उनकी जगह कोई और होता जो कि अपनी मजलूमता के आवरण में क्रूर दिखाई पड़ता तो बात बन जाती। पूरी फिल्म में वह कहीं सामान्य भाव-भूमि पर अभिनय करते नहीं दिखते। और जैसा कि होता आया है फिल्म बन जाने के बाद निर्देशक को गलतियाँ समझ में आती है, बासु साहब को भी समझ में आया। एक इन्टरव्यू में उन्होंने स्वीकार किया है की नसीर साहब का एन.एफ.डी.सी की तरफ से चुनाव हुआ था अन्यथा इस रोल में पंकज कपूर या रघुबीर यादव परफेक्ट होते। ओमपुरी भी अपने चरित्र के साथ न्याय नहीं कर पाए। कुछ उनकी उम्र आड़े आ रही थी प्रेम के इज़हार को दिखाने में। इन सब बड़े कलाकारों की अपेक्षा भट्ठे पर काम करने वालों ने अपनी भूमिका निभाने में ईमानदारी दिखाई।

अदाकारी के नाम पर जिस शख्स का नाम इस सिनेमा के दर्शकों के जेहन में हमेशा मौजूद रहेगा वह है राजेश्वरी। विमली का अन्याय से जूझना आपको प्रभावित करता है परन्तु यहाँ इस बात की कमी भी खलती है कि कहीं-न-कहीं निर्देशक कुछ और मार्मिक दृश्य विधान रखकर उस चरित्र को अमर कर सकता था। फिल्म वो तीव्र उत्ताप नहीं पैदा कर पाती जो कहानी पढ़ने पर पाठक महसूस करता है। हाँ, एक चरित्र और आपकों हांट करता है वह है मंतोरिया की माई की भूमिका, जिसे मानसी उपाध्याय ने जीवंत कर दिया है।

कहानी और उस पर बने सिनेमा दोनों के प्रभाव की बात की जाए तो अलग-अलग दोनों जो भी प्रभाव हो मगर इसमें कोई शक नहीं की सिनेमा सामान्यतया कहानी के प्रसंगों की अर्थगार्भिता को बड़ी सक्षमता से बढ़ा देता है, जो बिम्ब हमारे मस्तिष्क में कहानी पढ़ते समय नहीं बनते हैं, वे सिनेमा में उभर आते हैं और कहानी के उस खास प्रसंग का अर्थ विस्तार कर देते हैं। परन्तु अगर निर्देशकीय समझ में कहीं भी चूक हो गयी तो ठीक इसका उल्टा ही होता है और तिरियाचरित्तर के सन्दर्भ में ये बात सटीक रूप से कही जा सकती है। फिल्म को देखने के बाद शिवमूर्ति की समीक्षात्मक प्रक्रिया पूरी तरह से नकारात्मक थी। उनका भी मानना था की जिसे प्रभाव कहते हैं वह वैसा नहीं महसूस किया गया, जैसा कहानी पढ़कर लोगों ने महसूस किया था। उनका कहना है कि अभी इस पर एक मास्टर पीस फिल्म आना बाकी है।

जब भी हिन्दी की चर्चित कृतियों पर फ़िल्में बने तो अपनी कहानी उसी निर्देशक को सौंपनी चाहिए, साहित्य से वास्ता रखता हो और वह कृति में डूबकर उसे विराट फलक दे सके। तिरिया चरित्तर फिल्म का लोगों से अनजान रह जाने के पीछे एक और महत्वपूर्ण

कारण उसका ठीक प्रदर्शित न होना भी है। वह कब आयी और कब चली गयी इसे कम ही लोग जान सके। यह फिल्म न तो इन्सैक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा में कहीं उल्लिखित है, न ही बासु चटर्जी की फिल्मोग्राफी में।

व्यावसायिक नासमझी एक बड़ा कारण मानी जाती है। समानान्तर सिनेमा के काल कलवित होने में और इस कारण को तिरिया चरित्तर से भी जोड़ दीजिये। तिरिया चरित्तर पर भविष्य में अगर गम्भीरतापूर्वक तैयारी के साथ फिल्म का निर्माण किया जाए तो आशा है हमें एक यादगार फिल्म देखने को मिलेगी...।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से पी-एच.डी.।
विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख तथा समीक्षाएँ प्रकाशित।
सम्पर्क : 33/34 प्रथम तल, ब्लाक-एफ, गाँधी विहार,
डॉ. मुखर्जी नगर, नयी दिल्ली-110009
मोबाइल : 8010583076

दिलीप शाक्य

स्त्री-अस्मिता के उभार पर पितृसत्ता का बर्बर प्रहार

'तिरिया चरित्तर' कथाकार शिवमूर्ति की मशहूर कहानी है। जून 1987 के हंस में प्रकाशित होने के बाद इस कहानी ने पाठकों और आलोचकों के बीच एक चर्चित कहानी का दर्ज़ा हासिल किया। आगे 1994 में निर्देशक बासु चटर्जी ने इस कहानी पर एक फ़िल्म बनाई जो कहानी का हूबहू रूपांतर है। इसलिए जो बात यहाँ कहानी के बारे में कही जा रही है उसे फ़िल्म के बारे में भी समझा जाए।

कहानी 'तिरिया चरित्तर' पढ़कर अनेक विचार मन में आते हैं। पहली नज़र में यह स्त्री-अस्मिता की कहानी लगती है किन्तु जैसे ही हम नज़र बदलते हैं, कहानी पितृसत्ता के परिचित प्रतिमानों को स्थापित करती दिखाई देती है।

मेरे मन में यह सवाल हमेशा ही बना रहता है कि किसी कहानी को पढ़ने की सबसे कारग़र तरकीब क्या है? कहानी पढ़ते समय हम लेखक के बयानिये की तरफ़ खड़े हों अथवा कहानी के सबसे अहम क़िरदार की तरफ़ या फिर कहानी को उसमें विन्यस्त परिवेश की सामाजिकता अथवा कलात्मकता के लिए पढ़ें। जाहिर है इन सवालों का कोई सीधा जवाब नहीं हो सकता। सापेक्षिकता के सिद्धान्त की गवाही लें तो हर पाठक के पढ़ने का नज़रिया भिन्न हो सकता है। और पाठक ही क्यों, यह बात तो आलोचक पर भी लागू होती है। 'कामायनी' को लेकर नन्ददुलारे वाजपेयी और मुक्तिबोध की दृष्टि इसका प्रमाण है। मुक्तिबोध ने प्रसाद को कामायनी की कथा में खींचकर उनसे निपट समकालीन सवाल किया जबकि नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन्हें कथा की परिधि से बाहर रखकर कालजयी बनाए रखा। बहरहाल, हम अपने मूल प्रश्न की तरफ़ लौटें। प्रश्न यह है कि शिवमूर्ति की यह कहानी स्त्री-अस्मिता का पोर्टेट है अथवा पितृसत्ता का रेखांकन?

कहानी का शीर्षक है 'तिरिया चरित्तर' जो कहानी के आख़िरी वाक्य के अनुसार भर्तहरि के श्लोक 'त्रिया चरित्रम पुरुषष्य भाग्यम्' से प्रेरित है। कथाकार इस वाक्य का प्रयोग स्त्री पर आरोपित समाज के सबसे बर्बर विद्रूप को रेखांकित करने के लिए करता जान पड़ता है, लेकिन देखना पड़ेगा कि ऐसा करते हुए कथाकार ने किस प्रकार की स्त्री की रचना की है। देखने पर मालूम होता है कि कहानी में एक भी क़िरदार ऐसा नहीं है जिसके चरित्र को 'तिरिया चरित्तर' की परिभाषा में पढ़ा जा सके। न तो विमली और न उसकी मां और न मनोतरी की माई का। तीनों ही स्त्रियों के चरित्रों का अंकन एकरेखीय और ख़ासा प्रगतिशील है। कहानी का समाज इस प्रगतिशीलता को 'तिरिया चरित्तर' कहकर नकारता है। यह पद स्त्री का एक मिथकीय और सामन्ती पर्याय है जिसमें उसकी सदियों की घुटन और आक्रोश अन्तर्निहित है। इस पद को इसी रूप में कहानी के शीर्षक की सार्थकता अथवा निरर्थकता के रूप में समझा जा सकता है।

हालाँकि यह कहानी विमली की कहानी है और कहानी का पूर्वार्द्ध भी इसे पूरी शिद्दत से स्थापित करता दिखाई देता है, किन्तु जैसे ही पाठक कहानी के उत्तरार्द्ध में प्रवेश करता है, उसकी चेतना पर विमली के श्वसुर का क़िरदार हावी होने लगता है। श्वसुर की बर्बरता के आगे विमली की प्रगतिशीलता घुटने टेकती नज़र आती है। पूर्वार्द्ध में जो कहानी स्त्री-चेतना के मुखर नारे के रूप में दिखाई देती है उत्तरार्द्ध तक आते-आते वही स्त्री-चेतना के मूक शोकगीत में बदल जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मायके में जो विमली मुखर और बिन्दास दिखाई देती है, ससुराल में जाकर वही एक दर्दभरी ख़ामोशी का प्रतिरूप हो जाती है। हालाँकि कथाकार ने मनोतरी की माई के रूप में एक पूरक चरित्र रचा है किन्तु कहानी उसके प्रतिरोध को वह जगह नहीं देती जो उसे मिलनी चाहिए थी। प्रतिरोध की वह आवाज़ एक दबी हुई चीख़ की तरह कहानी में उभरती है। इस प्रकार कहानी स्त्री के पक्ष में संवेदना तो जगाती है किंतु किसी एक्शन के लिए तैयार नहीं दिखती।

कुल जमा कहना यही है कि आज के मुखर स्त्री-विमर्श के संदर्भ में यह कहानी ठहरती नहीं। हाँ, जिस नुक्ता-ए-नज़र से इस कहानी पर गौर किया जा सकता है वह है विमली के श्वसुर बिसराम का चरित्रांकन। बहुत ही प्रामाणिक ढंग से कहानी पितृसत्ता के इस प्रतिनिधि के व्यवहार पर रौशनी डालती है। कहानी के दूसरे भाग में नियोजित बलात्कार का दृश्य इस कहानी का टेक-ऑफ पॉइंट हो सकता है। जिस चालाक और भावनात्मक पैंतरे का इस्तेमाल कर श्वसुर अपनी ही बहू को अपनी हवस का शिकार बनाता है, वह पुरुष की स्त्री के प्रति एक बर्बर और वहशी मानसिकता का परिचायक है। बात यहीं ख़त्म नहीं होती, कहानी के अन्त में यह बर्बर और वहशी मानसिकता पूरे समाज की मानसिकता में बदलती प्रतीत होती है। आज हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा इस मानसिकता की गिरफ्त में है। कहानी के पास कोई समाधान तो नहीं है। हाँ वह आईना ज़रूर दिखाती है। इस आईने में बिसराम के अलावा ट्रक-ड्राइवर, कुइसा मिस्त्री,

बिल्लर आदि पुरुषों के चरित्र भी हैं जो पितृसत्ता की पारंपरिक प्रतिच्छवियों से बने हैं। इन सभी चरित्रों की दिलचस्पी अलग-अलग कारणों से विमली को सामाजिक रूप से हासिल कर लेने की है जबकि विमली बचपन में ब्याहे गए अपने पति को ही अपनी नियति मानकर चलती है और पूरी कहानी में उसे पति के लौटने की प्रतीक्षा है। कहानी में यह प्रतीक्षा अन्ततः श्वसुर द्वारा विमली के बलात्कार के रूप में घटित होती है।

बलात्कार का प्रसंग पूरी कहानी का केन्द्र है। यह केन्द्र जिस परिस्थिति से निर्मित होता है, वह है विमली का बाल-विवाह। कहानी में अनेक ऐसी सम्भावनाएं इंगित की गयीं है, जहाँ इस बाल-विवाह की नियति को बहुत आसानी से तोड़ा जा सकता था। ट्रक-ड्राइवर, बिल्लर और कुइसा मिस्त्री तीनों ही इस नियति को तोड़ने के लिए तैयार दिखाई देते हैं। लेकिन विमली ऐसा नहीं चाहती। यह सवाल परेशान करता है कि विमली ऐसा क्यों नहीं चाहती जबकि बचपन के पति को उसने देखा भी नहीं है, न ही उसके लौटने का कोई भरोसा है, इसके विपरीत ट्रक-ड्राइवर को वह पसन्द करती है और उसकी प्रतीक्षा भी। क्या कारण है कि पूरे समाज की परवाह न करने वाली विमली ईंट के भट्टे पर तो काम करना जारी रखती है, वो भी पूरे खिलंदड़ेपन और निडरता के साथ किंतु ट्रक-ड्राइवर के प्रस्ताव को सिर्फ़ इसलिए नहीं स्वीकारती कि घरवालों ने बचपन में उसका विवाह एक ऐसे लड़के से कर दिया था जिसके लौटने के बारे में विमली को कोई सूचना नहीं है। शंका होती है कि विमली और ड्राइवर के बीच स्वाभाविक रूप से आकार ले रहे प्रेम-प्रसंग को कथाकार ने इसलिए किसी परिणति तक पहुँचने से रोक दिया क्यों कि कहानी में आगे एक बलात्कार का दृश्य घटना था और एक पंचायत को फ़ैसला देना था। या यूँ कहें कि विमली की स्त्री अस्मिता को पितृसत्ता के सबसे मजबूत हथियार द्वारा नेस्तनाबूद किया जाना था। तो क्या कथाकार कहानी में घटनाओं की गति को नियंत्रित कर रहा था। प्रश्न उठता है कि क्या एक कथाकार को कहानी लिखते हुए ऐसा करना चाहिए, जवाब यदि हाँ में है तो फिर एक दूसरा प्रश्न उठता है कि एक कथाकार और पटकथा-लेखक में क्या फ़र्क है?

इस प्रश्न को अभी स्थगित करते हैं और यह देखने की कोशिश करते हैं कि 1987 के दौर की यह कहानी आज के परिवेश के किन मुद्दों को पुनर्जीवित करती है। कथाकार आरम्भ में ही संकेत कर देता है कि विमली के गाँव में पहला ईंट भट्टा स्थापित हो गया है। आधे से अधिक गाँव वालों की आजीविका इसी भट्टे के सहारे चलती है। विमली 9-10 साल की उमर से इस भट्टे पर मज़दूरी करना आरम्भ करती है। यह मज़दूरी आज के दौर में बाल-मज़दूरी है और कानूनन अपराध है। हालाँकि यही बाल-मज़दूरी बाद में स्त्री की आत्म-निर्भरता में बदल जाती है जो विमली के रूप में एक आर्थिक रूप से स्वतन्त्र स्त्री की रचना करती है। यह स्वतन्त्र स्त्री काम करने के दौरान जिन पुरुषों के सम्पर्क में आती है, वे किंचित सहृदय होते हुए भी जब-तब उसके साथ अशोभनीय टिप्पणियाँ करते पाए जाते हैं। तो कहानी ईव-टीज़िंग के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक दीखती है जिसका

सामना विमली अपने व्यावहारिक चातुर्य के बल पर बड़ी कुशलता से करती है।

कहानी में ट्रक-ड्राइवर को विमली के प्रति आकर्षित होता हुआ दिखाया गया है। विमली को भी ट्रक-ड्राइवर पसन्द है। समाज भी उनके इस रिश्ते को प्रेम-प्रसंग के रूप में व्याख्यायित करता है किन्तु विमली तो बचपन में ब्याहे गए अपने अदेखे पति को ही सब-कुछ मानती है। कहानी में विवाह और प्रेम की इस प्लेसिंग को देखकर लगता है कथाकार की दृष्टि में प्रेम भी एक यूटोपिया है और विवाह भी, यथार्थ यदि है तो केवल बलात्कार और बलात्कारी के पक्ष में पंचायत का फ़ैसला और इस यथार्थ को हासिल करने के लिए एक और यथार्थ का सहारा लिया गया है वह है विमली का बाल-विवाह। इस बाल-विवाह को पूरी कहानी में विमली की अनिवार्य नियति के रूप में प्रदर्शित किया गया है। नियति का यह सामाजिक दबाव ही अन्ततः उसे एक क्रूर घटना-क्रम में खींच ले जाता है जहाँ उसकी अस्मिता के सामूहिक वध की सोची-समझी तैयारी है।

श्वसुर द्वारा बहू का बलात्कार और उस पर श्वसुर के पक्ष में पंचायत का यह फ़ैसला हमारे समय की कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं की याद दिलाता है। यह फ़ैसला किसी खाप पंचायत के फ़ैसले से कम नहीं मालूम होता। यह फ़ैसला इस बात की ओर भी संकेत करता है कि हमारा समाज अभी भी स्त्री के प्रति किस क़दर मध्यकालीन नैतिकता के हिंसक व्यवहार से भरा है। विमली का बलात्कारी श्वसुर बड़ी आसानी से गाँव की सामाजिक पंचायत के साथ मिलकर यह सिद्ध कर देता है कि विमली बदचलन और चोर है। पंचायत बड़ी आसानी से अपराधी को निर्दोष और निर्दोष को अपराधी सिद्ध कर देती है।

भारतीय ग्रामीण समाज के नैतिक आचरण को नियंत्रित करने में इन पंचायतों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न प्रदेशों से अनेक ऐसी घटनाएँ मीडिया में रिपोर्ट होती रही हैं, जहाँ इन पंचायतों ने अनेक बर्बर और असंवैधानिक फ़ैसले किए हैं। समय-समय पर इन पंचायतों की प्रासंगिकता पर अनेक सवाल उठते रहे हैं लेकिन यथास्थिति बरकरार है। आज भी अनेक ऐसे फ़ैसले सुनने में आते हैं जिनमें औरत को बर्बर सजाएँ सुनाई जाती हैं। किसी फ़ैसले में औरत को गाँव भर में नंगा करके घुमाया गया, किसी में औरत के नाक-कान काट लिए गए, तो किसी में गाँव से बाहर कर दिया गया, किसी में औरत बलात्कारी से ही ब्याह दी गयी, आदि आदि। प्रेमचन्द की कहानी 'पंच-परमेश्वर' से 'तिरिया चरित्तर' तक आते-आते पंचायतों के बदले हुए स्वरूप और उनकी सामाजिक भूमिका पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। शिवमूर्ति की कहानी में इस पुनर्विचार की ज़रुरत बहुत शिद्दत से महसूस की गयी है। कहानी संकेत करती है कि ग्रामीण भारतीय समाज में पितृसत्ता की क़िलेबंदी तोड़नी है तो सबसे पहले इन पंचायतों के अस्तित्व को समाप्त करना होगा।

कहानी की पंचायत इन पंचायतों का प्रतिनिधि प्रतीक है। पंचायत ऐसी सुविधा मुहैया करती है कि पितृसत्ता की पारम्परिक प्रतिच्छवि का प्रतीक श्वसुर बिसराम अपनी

ही बहू विमली का बलात्कार करने के बाद भी समाज में आदरणीय बना रहता है जबकि इस पारम्परिक प्रतिच्छवि को तोड़कर एक उजले स्त्री-पथ का निर्माण करने वाली विमली लांछित और प्रताड़ित होती है। कहानी मार्मिकता और विडम्बना-बोध के वातावरण में ख़त्म होती है। यह विडम्बना ही कही जाएगी कि कथाकार विमली के बहाने जिस स्त्री-पथ को बनाता है, विमली के श्वसुर के बहाने उसे, पता नहीं क्यों, बड़ी निर्ममता से मिटा देता है। प्रकारान्तर से कहानी पुरुष की ओर से स्त्री को यह संदेश देती नज़र आती है कि तू जितनी बार मुक्त होगी, हम तुझे उतनी ही बार बन्धक बनाकर रखेंगे। एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह कहानी स्त्री-अस्मिता के उभार पर पितृसत्ता के बर्बर प्रहार का रेखांकन है।

युवा कवि-समीक्षक। 'गुलाब की पत्तियाँ और कैंची' कविता संग्रह 'आख्यान और नयी कविता', 'समकालीन कविता और राजेश जोशी', 'कविता की समझ' आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर आलेख, कविता और फिल्म समीक्षाएँ आदि प्रकाशित। कुछेक पत्रिकाओं में स्तम्भ लेखन। जामिया मिल्लिया इस्लामिया के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर के पद पर कार्यरत।

सम्पर्क : जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली-110025

मोबाइल : 9868090931

ईमेल : dilipshakya@gmail.com

कथालोचक कथाकार का दुश्मन या कम्पटीटर नहीं

*(शिवमूर्ति से **ब्रजेश यादव** की बातचीत)*

इस समय आपकी कहानी 'बनाना रिपब्लिक' काफी चर्चा में है। इसमें जग्गू के विजय जुलूस में ठाकुर को शामिल करके आप क्या दिखाना चाहते हैं?

यही कि पीढ़ियों से सत्ता सुख भोगता आया सामन्ती समाज किसी भी कीमत पर उसे हाथ से जाने नहीं देना चाहता। गाँवों में अभी वर्णवाद प्रमुखता से हावी है। वहाँ गाँव के ठाकुर सामन्त का गाँव के ही दलित के वर्तन में खाना पीना आज भी अकल्पनीय है। लेकिन पूरी सत्ता हाथ से निकलने की स्थिति में उसमें आंशिक हिस्सेदारी ही कायम रहे, इसके लिए ठाकुर न सिर्फ दलित के गिलास में मन मारकर पानी पीता है बल्कि अपने दरवाजे पर जुलूस के न जाने के मलाल को दबाकर जग्गू के दरवाजे पर जाकर उसके साथ नाचता भी है।

लेकिन ठाकुर के शामिल हो जाने से तो फिर पूर्व की भाँति लूट खसोट की स्थिति बन जायेगी। तब सत्ता परिवर्तन का मतलब क्या हुआ? आदर्श प्रजातन्त्र कैसे आयेगा?

कहानी में स्पष्ट है कि जग्गू का सपना आदर्श प्रजातन्त्र स्थापित करना नहीं बल्कि लूट तन्त्र का लाभ उठाना है।

लेकिन कहानी में तीनों लड़के जो बाहर से केस स्टडी करने आये हैं उनको भी आपने दलाल साबित कर दिया है?

अरे भाई कहानी को ठीक से पढ़िये। जग्गू और उन लड़कों के बीच आरोप प्रत्यारोप चल रहा है। लड़के फुलझरिया के पक्ष में हवा बनाना चाहते हैं तो जग्गू के पक्षधर उन पर दलाली खाने का आरोप लगा कर उनकी हवा बिगाड़ देते हैं। लेखक थोड़े उन्हें दलाल साबित करता है।

लेकिन लेखक तटस्थ और निरपेक्ष कैसे रह सकता है?

लेखक तटस्थ और निरपेक्ष है भी नहीं। क्या पूरी कहानी पढ़ने के बाद लेखक का पक्ष स्पष्ट नहीं होता?

यदि इस यथास्थितिवादी जनतन्त्र से आपका मोहभंग हुआ है तो आप उसकी आलोचना किए बिना कैसे रह सकते हैं?

आलोचना तो हुई है। पूरी कहानी इस लूटतन्त्र की आलोचना ही तो है, वरना कहानी का शीर्षक 'बनाना रिपब्लिक' क्यों होता?

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने आपके उपन्यास 'आखिरी छलाँग' की आलोचना करते हुए लिखा है कि आप में विचारधारा का अभाव दिखता है। पहलवान सकर्मकता की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाते। इस पर आप क्या कहना चाहेंगे?

देखिए, विचारधारा रचना में उसी रूप में रहनी चाहिए जैसे पानी में घुली हुई चीनी। उसकी मिठास का स्वाद मिले लेकिन वह दिखे नहीं। जब तब चीनी दिखाई देती रहेगी, पानी में घुल कर अदृश्य नहीं हो जायेगी तब तक वह मिठास नहीं दे सकती। रचना में भी विचारधारा अलग से दर्ज नहीं होनी चाहिए। वह कहानी में अनुस्यूत होकर आनी चाहिए।

'आखिरी छलाँग' के अन्त में पहलवान सारी शक्ति बटोर कर दौड़ता है, दो-दो हाथ करने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों को ललकारता है। इस पर यह आरोप है कि यह अन्त जबरदस्ती का है?

एक प्रश्न में आप इसमें विचारधारा का अभाव देखते हैं, पहलवान की हिम्मत, साहस और सकर्मकता को प्रश्नांकित करते हैं। दूसरे प्रश्न में पहलवान की हिम्मत साहस और सकर्मकता को प्रश्नांकित करते हैं। न आगे चलने देंगे न पीछे।

देखिए, साहित्य का मूल आधार संवेदना है। किसी को रेडिक्यूल करना या किसी विचारधारा के पक्ष में नारेबाजी करना रचना का मूल स्वर नहीं होना चाहिए। जहाँ तक मेरी रचनाओं के 'अन्त' की बात है, 'आखिरी छलाँग' ही नहीं मेरी लगभग सारी रचनाओं का अन्त हिन्दी कथा संसार के प्रचलित मानक 'अन्त' से भिन्न है। चाहे 'भरतनाट्यम' हो, 'तर्पण' हो, 'कसाईबाड़ा' हो या अन्य रचनाएँ। ये अन्त अच्छे हैं या बुरे हैं, स्वीकार्य हैं या अस्वीकार्य, यह अलग मुद्दा है।

अच्छा, ऐसा कोई आलोचक है जो आपकी कहानियों को ठीक-ठीक समझता हो?

देखिए, यह कहना बहुत कठिन है कि कौन- सा आलोचक किसी रचना को पूरा-पूरा समझता है और कौन- सा नहीं समझता। बाप बेटे को पूरी तरह नहीं समझता, पत्नी पति को पूरी तरह नहीं समझती। किसी के द्वारा पूरी तरह समझे जाने की अपेक्षा भी व्यावहारिक नहीं है। कोई आलोचक किसी रचना को कितना समझ सकेगा यह इस पर निर्भर करता है कि उस आलोचक का वर्ण्य विषय से कितना तादात्म्य रहा है, उसका अनुभव क्षेत्र क्या है, दृष्टि क्या है। 'आखिरी छलाँग' को मेरी जानकारी के अनुसार जितना डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने समझा और उसका आस्वाद लिया उतना किसी और ने नहीं।

इसका कारण है कि वे उस ग्रामीण दुनिया से जुड़े रहे हैं। जैसे लेखक अलग-अलग जीवन स्थितियों से आते हैं वैसे ही आलोचक भी आते हैं। उसी के अनुरूप उनका नजरिया बनता है। वर्गीय और वर्णीय दृष्टिकोण का भी असर पड़ता है।

तब तो आप के मुताबिक कोई रचना पूरी-पूरी समझी ही नहीं जा सकती?

किसी का लिखा हुआ दूसरा कभी भी पूरी तरह नहीं समझ सकता। सबका मनोगत संसार भिन्न होता है। सबके अभिव्यक्ति के औजार, शब्द और भंगिमा भिन्न होती है। दूसरा उस दुनिया में पूरी तरह प्रवेश नहीं कर सकता।

'पूरी तरह' से आपका क्या मतलब?

एक उदाहरण से स्पष्ट करने की कोशिश करता हूँ। जैसे 'आखिरी छलाँग' में मैंने लिखा है- पहलवान सबेरे-सबेरे गाय 'लगाने' गये। आप पूर्वांचल के हैं तो समझ गये कि 'गाय लगाने' का मतलब 'गाय का दूध दुहना' है। पंजाब उड़ीसा या महाराष्ट्र का निवासी आलोचक हो सकता है न समझ सके कि पौधा लगाने और गाय लगाने में क्या अन्तर है? मक्खन लगाना, मस्का लगाना सब समझ लेंगे लेकिन 'चारा लगाना' हो सकता है सब न समझ सके। 'पति के मरने के बाद वह औरत दूसरे के घर बैठ गयी।' यहाँ 'बैठ जाने' का अर्थ समझने में किसी पाठक या आलोचक को कठिनाई भी हो सकती है। अपनी विदाई में विमली 'कारन' करके रोती है। यह कारन करना अर्थात रोने की शैली में अपने दुःख विछोह का पूरा आख्यान बांच देना जिस क्षेत्र में नहीं प्रचलित होगा उस क्षेत्र का आलोचक नहीं समझ पायेगा। यही स्थिति किसी चरित्र की मानसिकता और उसकी प्रतिक्रिया के बारे में भी पैदा होती है। इसके भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

आपने एक जगह लिखा है–'सांस्कृतिक परिवर्तन प्राथमिक है।' मतलब राजनीतिक परिवर्तन की उम्मीद करने से पहले सांस्कृतिक परिवर्तन होना चाहिए। आज भी आप इस बात से सहमत हैं?

जी हाँ। मैं यह मानता हूँ कि पहले व्यक्ति का, समाज का सांस्कृतिक चारित्रिक स्तर ऊँचा हो। जब ऐसा सांस्कृतिक रूप से प्रबुद्ध और चारित्रिक रूप से सुदृढ़ व्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में जायेगा तो राजनीति का स्तर भी ऊपर उठेगा। ऐसे समझिए कि आपको लड़ने के लिए तलवार बनाना है। तलवार बनाने के लिए आपको फौलाद खोजना होगा। तलवार फौलाद से बनती है। आप लकड़ी से बनी तलवार के भरोसे लड़ाई के मैदान में कूद रहे हैं तो अपना हश्र पहले से जान लीजिए।

हमारा आपका चरित्र मध्यवर्गीय हो गया है। मध्यवर्गीय व्यक्ति जो लाख पचास हजार रुपया महीना तनख्वाह उठा रहा है, कैसे व्यवस्था को उलट सकता है?

आपकी बात में आंशिक सच्चाई है लेकिन यह भी जान लीजिए कि व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई में मध्यवर्गीय व्यक्ति ज्यादा निर्णायक भूमिका निभा सकता है यदि वह सांस्कृतिक रूप से, चारित्रिक रूप में मजबूत हो जाये। वह सर्वहारा की तुलना में आर्थिक रूप से भी अधिक मजबूत है तथा ज्यादा शिक्षित है, जल्दी एकजुट हो सकता है और निर्णायक

प्रतिरोध उत्पन्न कर सकता है।

क्या इसी संवैधानिक व्यवस्था से बदलाव हो सकता है?

बहुत हद तक हो सकता है, बशर्ते इसे ईमानदारी और संकल्प के साथ लागू किया जाय। यह कार्य सांस्कृतिक और चारित्रिक रूप से ऊँचे उठे हुए राजनीतिज्ञ कर सकते हैं जो प्रबुद्ध लोगों में से निकल कर आयें।

यह लोकतन्त्र तो कैपिटलिज्म का ही एक अंश है।

जब कैपिटलिज्म का उदय नहीं हुआ था तब से लोकतन्त्र का अस्तित्व है। इसलिए कैपिटलिज्म को इसकी बैसाखी मत मानिए।

आप संपत्ति की व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं?

नहीं, हम तो चाहते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार ही समाप्त कर दिया जाय। यदि तत्काल यह व्यवस्था संभव नहीं है तो जिस तरह आज कल गरीबी रेखा चर्चा में है उसी तरह अमीरी रेखा बनायी जाय। एक सीमा से अधिक किसी के पास सम्पत्ति न रहे।

जो सामाजिक सम्बन्धों की संरचना है, उसमें जो ऊँच नीच, शूद्र सवर्ण की सोच व्याप्त है, उसके रहते क्या सांस्कृतिक प्रबुद्धता से समाज में समरसता आ जायेगी?

धनवान हो जाना अलग बात है और सामाजिक आदर, मान प्राप्त करना दूसरी बात है। जो वर्णवाद से पीड़ित है वह लाख रुपया तनखाह से संतुष्ट नहीं होगा, वर्णवाद के विरोध में खड़ा होगा। जो वर्णवाद का लाभ ले रहा है उसमें उसका आकर्षण बना रहेगा। जब सांस्कृतिक नैतिक और चारित्रिक रूप से समुदाय उन्नत होगा तो दोनों वर्ण इसकी समाप्ति की दिशा में सोचेंगे।

आपके तर्क का अगला कदम यह भी हो सकता है कि पूँजीवाद बड़ा अच्छा है।

आप तो लाल बुझक्कड़ लगते हैं। पता नहीं मेरे मुँह से क्या कहलवाना चाहते हैं? बहरहाल मैं पूँजीवाद को 'बड़ा अच्छा' नहीं मानता।

आपकी रचनाओं के केन्द्र में उत्सवधर्मिता है। दुःख दर्द की बात करने के बावजूद आप उत्सव वाला पहलू पहले पकड़ते हैं। आर्थिक पहलू की ओर आप ध्यान क्यों नहीं देते? डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी जी यही आरोप रेणु पर भी लगाते हैं।

खूबी या विशेषता को आप आरोप क्यों कह रहे हैं? यह रेणु की अपनी विशेषता है। वैसे साहित्य दर्जा पाँच के छात्रों की पाठ्यपुस्तक तो है नहीं जिसमें लिखा जायेगा कि वह गरीब किसान था। उसकी झोपड़ी चूती थी। उसकी कठौती फूटी थी। साहित्यकार का कथन कलात्मक होता है। रेणु की कहानियों में भी उनके चरित्रों की आर्थिक विपन्नता की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। 'लालपान की बेगम' कहानी की नायिका के पास बैल नहीं है। किसान के पास बैल न होने के दुःख को आप 'छोटा' कहेंगे? 'संवदिया' कहानी की 'बेटी' के घर खाने को नहीं है। 'रसप्रिया' का नायक भिखारी और नायिका मजदूरिन है। तो इसे आर्थिक पहलू की अभिव्यक्ति नहीं कहेंगे? क्या विलाप वर्णन ही आर्थिक पहलू का चित्रण है। क्या गरीब, परेशान फटेहाल हमेशा मुँह ही लटकाए रहते हैं? उसी के बीच उनके घर बाल बच्चे भी पैदा होते रहते हैं। और मेरी किस कहानी में आर्थिक

संकट का चित्रण नहीं है? 'केशर कस्तूरी' में आर्थिक संकट नहीं है या 'सिरी उपमा जोग' में नहीं है। 'तिरिया चरित्तर' की नायिका को नौ वर्ष की उम्र से भठ्ठे पर मजदूरी करना पड़ता है। भरतनाट्यम का नायक तो बेरोजगारी के चलते विक्षिप्तता की स्थिति तक पहुँच जाता है। आखिर किस चश्में से देखते हैं आप?

आपकी कहानियों में भूख कोई समस्या बन कर नहीं आती। कोई बेघर नहीं है। अगर आपकी कहानी की दुनिया में खाना और रहना कोई समस्या नहीं है तो क्या यह मध्यवर्गीय लेखक होने का प्रमाण नहीं है?

गाँव में बेघर कोई नहीं होता यार! अपनी जरूरत भर की झोपड़ी सब बना लेते हैं। भुखमरी की स्थिति भी अब बहुत कम हो गयी है। अगर इनका चित्रण मेरी कहानियों में न होने के चलते आप मुझे मध्यवर्गीय लेखक मानते हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है या मेरी निजी आर्थिक स्थिति के आधार पर ऐसा मानते हों तब भी। लेकिन क्या 'आखिरी छलाँग' आपको किसानों का शोकगीत नहीं लगता? उसके नायक पहलवान का एक खेत गिरवी रखा जा चुका है। खाद का लोन न चुका पाने के चलते हवालात में बंद होने की नौबत आ गयी है। दहेज दे पाने में असमर्थता के चलते बेटी के लिए वर नहीं खोज पा रहे हैं। 'रोटी और घर' होने के बावजूद उनके 'जिय' की जो 'जरनि' है यह कोई मुद्दा नहीं है?

आपकी सभी कहानियों में 'स्त्री संसर्ग' का मौका एक बार जरूर आता है, क्यों?

भाई, जीवन में तो स्त्री संसर्ग का मौका आये दिन आता है, तब कहानी में वह एक बार भी न आये तो क्या इसे आप जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कहेंगे? आखिर कहानी जीवन का ही एक टुकड़ा होती है।

लेकिन आपने तो 'आखिरी छलाँग' में दालान में ही स्त्री-संसर्ग दिखा दिया। एक बार बात चीत के क्रम में सुशील सिद्धार्थ जी कह रहे थे कि देखिए क्या कर दिया शिवमूर्ति जी ने। दालान में ही स्त्री संसर्ग दिखा दिया?

लगता है आरोपों की पूरी गठरी लेकर घर से निकले हैं आप। देखिए, जहाँ से मैं आता हूँ, जहाँ से आप आते हैं और जहाँ से सुशील जी आते हैं, वहाँ एक उम्र पार कर लेने के बाद हमारे आजा पुरखा दालान में ही स्त्री संसर्ग करते आये हैं। गाँव में जब बेटे बेटियाँ थोड़ा बड़े, थोड़ा समझदार हो जाते हैं तो लोग रात में घर के अंदर पत्नी की कोठरी में जाना बंद कर देते हैं। ऐसे प्रौढ़ दम्पत्तियों के संसर्ग का एक मात्र शरणस्थल घर से हटकर बना दालान ही होता है जहाँ कभी सिर दर्द तो कभी पेट दर्द का बहाना करके पति पत्नी से गरम दूध दे जाने या तेल मालिस कर देने की अपेक्षा करता है। ऐसी माँ या दादी नानी का पद प्राप्त कर चुकी प्रौढ़ा पत्नियाँ गृहस्थी का सारा काम निबट चुकने के बाद गरम तेल की कटोरी या गरम दूध का गिलास लेकर दालान में जाती रही हैं।

कथालोचना से आप क्या अपेक्षा करते हैं?

यही कि उसे सृजन प्रक्रिया का ज्ञान हो। कैसे कोई विचार घटना दृश्य या बिंब रचना के रूप में परिवर्तित होता है, यह जानकारी हो। अगर आलोचक कथा विधा पर

हाथ आजमा चुका हो, चाहे असफल ही रहा हो, तो रचना की तह तक जा पाना उसके लिए और भी सुगम होगा। आलोचक से भी पहले वह रसज्ञ पाठक हो। कथालोचक कथाकार का दुश्मन या कम्पटीटर नहीं है। वह कथाकार का गाडफादर भी नहीं है लेकिन कथा क्षेत्र का हलाकू या तैमूरलंग भी नहीं है। पूर्व में डॉ. रामविलास शर्मा ने रांगेय राघव और फणीश्वरनाथ रेणु के लिए 'हलाकू' की भूमिका ही निभाई। उन्होंने मैला आँचल में अनगिनत कमियाँ निकालीं। ऐसे लोगों की लाठी अपने जमाने में खूब चलती है, बे-रोक टोक चलती है क्योंकि कोई उनका विरोध नहीं करता।

कुछ दिनों तक लोग ईमानदारी से आलोचना कर्म का निर्वाह करते हैं लेकिन जैसे-जैसे नाम होता जाता है, प्रशंसा, खुशामद जैसे 'लस्ट' उन्हें राह से 'डेविएट' करने लगते हैं। जटिल वर्णवादी सोच, चेला मोड़ने जैसे फैक्टर हावी होने लगते हैं। अपने वर्ण या अपनी 'चेलाही' से इतर रचनाकार की कृति चाहे जितनी श्रेष्ठ हो, उधर उनकी नजर ही नहीं जाएगी। ऐसी रचनाओं पर वे चुप्पी साधे रखते हैं। बाद में घेरे जाने पर वे मजबूरी में स्वीकार करते हैं कि उनसे चूक हो गई। इसी तरह पाखी के वरिष्ठ कथाकार 'संजीव' पर केन्द्रित विशेषांक पर बोलते हुए डॉ. नामवर सिंह ने मंच से खेद व्यक्त किया कि वे संजीव को पढ़ नहीं सके। ऐसे और भी उदाहरण हैं। इस प्रकार का खेद प्रकाश बुढ़ौती में गंगा नहाने जैसा है। जिन्दगी भर स्वजनवादी आलोचना करये और अन्त में गंगा नहाकर दोष पाप से मुक्त हो जाइए। साहित्य उदार होने की अपेक्षा करता है। अन्दर से 'बड़े' बनिए। बड़े दिल वाले बनिए। संकीर्णता से ऊपर उठिए। बदला चुकाने या सबक सिखाने के लिए दूसरे क्षेत्र ज्यादा मौजूँ हैं। वहाँ जाइएँ। खुल्लम खुल्ला पटकनी दीजिए और पटकनी खाइएँ। साहित्य के क्षेत्र में राम की परम्परा में 'ब्याध की नाई' आड़ से तीर चलाने का क्या मतलब?

क्या कभी आपने कविता भी लिखी है?

एकदम शुरू में अपवाद स्वरूप एकाध छोड़कर नहीं। हाँ, अपनी कहानियों में प्रयोग करने के लिए 'लोकगीत' के मुखड़े के तौर पर कभी जरूरत के अनुसार कुछ गढ़ता रहा हूँ।

आप के पसन्दीदा कवि?

अदम गोंडवी, जुमई खाँ आजाद और कैलाश गौतम।

जो अतुकाँत लिख रहे हैं?

जैसे अष्टभुजा शुक्ल, दिनेश कुमार शुक्ल, दिनेश कुशवाहा, कुमार अम्बुज, एकांत श्रीवास्तव, नरेश सक्सेना, वीरेन्द्र डंगवाल, आलोक धन्नवा तथा और भी कई जिनका नाम तत्काल जबान पर नहीं आ रहा है।

एक कवि हैं रमाशंकर विद्रोही। अभी उनका एक संग्रह आया है?

अफसोस कि मैं उन्हें नहीं पढ़ पाया।

जिस यथार्थ को कहानियाँ दर्ज कर रही हैं, क्या उसी तेवर से कविताएँ भी दर्ज कर रही हैं?

कविताओं का फार्म अलग है इसलिए उनकी 'कहन' का तरीका भी अलग रहेगा।

हाँ, अदम गोंडवी और जुमई जाँ आजाद की रचनाओं का ताब तेवर कई कहानियों से बढ़कर है।

परसाई जी जैसा व्यंग्यकार दूसरा नहीं आया?

सही है।

कबीर जैसा दूसरा नहीं हुआ पाँच सौ साल में।

सही है। दरअसल, समय की विद्रूपता से मुठभेड़ करने, 'इन्टरऐक्ट' करने वाला जीनियस दिमाग पैदा होगा तभी किसी दूसरे परसाई या कबीर की सम्भावना बनेगी। यह परिघटना कभी कभी ही घटित होती है। दुहराव प्रकृति के यहाँ है ही नहीं।

सम्पर्क : 231, सतलज छात्रावास, जवाहरलाल विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली-110067
मोबाइल : 09868770101

शिवमूर्ति

आशा और संघर्ष का प्रतीक : रोबिन आईलैंड

केपटाउन
25/5/13

सवेरे साढ़े आठ बजे निकले टेवलटाप पहाड़ देखने। इसकी ऊँचाई 3560 फीट है जिस पर केवल कार से जाते हैं। रास्ते में हमारे टूर गाइड मैलकम ने बताया कि यह जो सड़क के किनारे बड़ी संख्या में लाल छत वाले छोटे-छोटे घर दिखाई पड़ रहे हैं इन्हें सरकार ने बनाकर उन लोगों के रहने के लिए दिया है जो रोजी रोजगार के अभाव में दूर देहात से चलकर यहाँ आये हैं। आ रहे हैं। बताया कि यहाँ बेरोजगारी 24 प्रतिशत है। मैलकम ने हेलेन सुजिन रोड पर एक अधूरे पुल को दिखाते हुए बताया कि इसका निर्माण इसलिए रोक दिया गया ताकि इसमें लगने वाले धन को शिक्षा और स्वास्थ्य पर खर्च किया जा सके।

टेबलटाप की क्या हैसियत हमारे हिमालय के सामने। वहाँ से उतरा कर विक्टोरिया एलफ्रेड वाटर फ्रंट के सामने लंच लिया फिर एक छोटे क्रूज पर सवार होकर रोबिन आई लैंड गये। इसी रोबिन आईलैंड की जेल में नेलसन मंडेला ने अपने जेल प्रवास के शुरुआती सत्रह अठारह वर्ष काटे थे। यह आई लैंड मेन लैंड से करीब 17-18 कि. मी पर है। यहाँ आकर रोमांच हो आया। दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति बनने के बाद नेलसन मंडेला यहाँ आये थे अपनी कोठरी देखने और कर्मचारियों से मुलाकात करने। चारों तरफ विशाल नीला समुद्र। आशा और संघर्ष का प्रतीक-रोबिन आईलैंड।

एक बात पर बहुत आश्चर्य हुआ। केपटाउन में नेलसन मंडेला का काफी समय

गुजरा लेकिन यहाँ पूरे दिन भ्रमण के दौरान मैंने उनकी कोई मूर्ति नहीं देखी। आश्चर्य हुआ। मैलकम से पूछा। उसने भी कोई उत्तर नहीं दिया। पेपर क्लब होटल के रिसेप्शन पर पूछा। कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला।

पोर्ट एलिजाबेथ से जोहान्सवर्ग

29/5/13

हमें जार्ज से 450 कि.मी चलकर पोर्ट एलिजाबेथ से जोहान्सवर्ग के लिए सवेरे 8.50 की फ्लाइट पकड़नी थी इसलिए सवेरे डेढ़ बजे ही उठना था। फाइव स्टार कहे जाने वाले उस सूट में बस साढ़े चार घण्टे का विश्राम। मुझे 3 स्टार और फाइव स्टार में कोई अन्तर पता नहीं चलता। बस यहाँ का चावल कल वाले से कम गीला था। गुलाबी रंग का अवलेह, जैसे गाँव में साठी या देहुला चावल बचपन में खाते थे। दाल कुछ गाढ़ी मिली थी। पौने तीन बजे हमारी बस चली और पौने सात बजे आ गयी पोर्ट एलिजाबेथ। चार घण्टे में चार सौ पचास किलो मीटर। नास्ते का पैकेट टाँगे हम अन्दर गये। वहाँ से उड़कर बारह बजे के करीब जोहान्सबर्ग पहुँचे। फिर तुरन्त ही हम सिटी टूर पर निकल लिए। गाँधी जी यहाँ कोट टाई में स्क्वायर पर मौजूद थे। नौजवान बैरिस्टार, बिना लाठी डण्डे का सहारा लिए।

यहाँ के गाइड बैंजामिन नकनका कर बोलते हैं। बताया कि यह शहर इन दिनों अपराध की दुनिया में विश्व में पहले नम्बर पर है। सीबीडी एरिया की कई बहुमंजिली इमारतों को दिखाते हुए उन्होंने बताया कि इन पर बाहर से आये ब्लैक्स ने कब्जा कर रखा है। बिजली पानी काट देने के अलावा इनका और कुछ नहीं किया जा सकता। पुलिस भी इनसे घबराती है क्योंकि बड़े-बड़े खूँखार गुण्डे इनकी सरपरस्ती करते हैं। यहा साउथ अफ्रीका का बड़ा व्यापारिक केन्द्र था लेकिन अब यहाँ की व्यापारिक गतिविधियाँ सिमटती जा रही है। लोग बाहर पलायन कर रहे हैं। बताया कि टूरिस्ट जान कर ये आपके प्रति और ज्यादा खूँखार हो जाएँगे कि ये पैसे वाले लोग हमारी गरीबी का मजाक उड़ाने आये हैं। बताया कि अभी आप कोच से उतर कर पैदल या किसी प्राइवेट साधन से जाने की सोचें तो पता नहीं किस दशा में अपने होटल तक पहुँचे।

इनमें से ज्यादातर सोमालिया नाइजीरिया आदि देशों से चलकर आये हैं। जबरन कब्जा की गयी ऐसी एक बिल्डिंग के बेसमेंट से मैंने सात-आठ साल के दो अश्वेत बच्चों को यूरिया खाद की बोरियों की साइज में टूटे प्लास्टिक तथा टिन के छोटे-छोटे टुकड़ों को भरते देखा। एक बोरे का मुँह पकड़े हुए था दूसरा उसमें भर रहा था। कुपोषण से कृश कमजोर शरीर। पेट उभरे हुए। इन्हीं को बेन्जामिन खतरा बता रहा है।

बहुत गरीबी है, अथाह गरीबी है यहाँ अश्वेत आबादी के बीच। चोरी छिनैती के अलावा जीने का कोई जरिया नहीं बचा रह गया है।

हम लोग यहाँ से बाहरी इलाके के एक माल में घूमने गये। जो ब्रेकफास्ट हमें सवेरे

फ्लाइट पकड़ने के पूर्व दिया गया था उसका कुछ भाग बचा रह गया था। मेरे साथ घूम रहे लखनऊ निवासी डॉ. मेहरा ने माल में घुसते हुए टाईसूट पहने गेट मैन से कहा—मेरे पास कुछ खाना बच गया है। इधर कोई गरीब आदमी हो तो कूड़ेदान में डालने के बजाय उसे दे दें।

—मैं भी बहुत गरीब हूँ। आप मुझे दे सकते हैं। कहने के साथ उसने हाथ बढ़ाते हुए कहा—थैंक यू।

फिर उसने अँग्रेजी में ही कहा—यहाँ के 90% लोग हम जैसे गरीब हैं। जो कुछ है वह सब अमीरों ने अपने कब्जे में कर रखा है। फिर उसने बताया—मैं यह टाई सूट यहीं रखकर घर जाता हूँ।

मन खट्टा हो गया। सटे हुए रेस्टोरेंट के बरामदे में लगी कुर्सी पर चाय पीने के लिए बैठे। चाय सर्व करते हुए 35 वर्षीय काले दुबले पतले युवक ने कहा—नमस्ते। इण्डिया?

—यस। एन्ड फ्रॉम हवेयर यू आर?

—फ्राम तॅजानिया। टू वर्क। नो वर्क इन माई कंट्री।

वह देर तक बात करना चाहता था। बहुत कुछ जानना चाहता था। क्यों आये? कितना खर्च करके आये। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि सिर्फ इधर के लोगों को देखने के लिए इतना धन क्यों खर्च किया गया?

मैं विदा होने लगा तो उसकी आँखों में संकोच और याचना एक साथ उभरे। मैंने उसे पाँच रैंड पकड़ाया। उसकी आँखों में चमक आ गयी। वह कृतज्ञ हो गया। झुक गया।

1 जून, 1994

इस बार बासमती के साथ नरेन्द्र 180 भी लगाया जायेगा। 15 किलोग्राम का पैकेट ले आये। 115 से 120 दिन में तैयार हो जायेगा। 20 से 25 जून के बीच बेरन डालनी होगी। ऊसर प्रभावित खेत में प्रति बीघे 50 किलोग्राम जिप्सम डालना होगा। जिप्सम न मिले तो प्रति बीघे 25 किलोग्राम पाइएइट। पाइएइट 50 रुपये में और जिप्सम 25 रुपये में है। मैंने कह दिया कि जिप्सम ही डालिए। देखना है कि वास्तव में क्या पैदावार देता है यहाँ।

21/5/1994

सवेरे कमललोचन पाँडे के साथ दिल्ली उतरे। हरिनारायण जी के घर से तैयार होकर गये मोहन गुप्त जी के घर। उन्होंने बताया कि 'त्रिशूल' उन्होंने उसी रात एक सिटिंग में पढ़ डाला था जिस शाम मैंने उन्हें दिया था। फिर पूछा कि इसे प्रकाशन के लिए कब तक दे रहे हो?

मैंने आते-आते कहाँ—एक दो सुधार संशोधन करके मध्य जून तक भेज दूँगा।

वहाँ से आये हँस के दफ्तर। यहाँ मैत्रेयी जी मिल गयीं। वे अपने घर से पूड़ी

सब्जी बनाकर लायी थीं। पूड़ी सब्जी खाकर हरि नारायण जी के साथ गये पालिका बाजार। वहाँ से 1050/- में टेप रेकार्डर खरीदा गया। फिर गये प्रेमपाल शर्मा जी के घर। वहाँ से पंजाबी दूध पीते हुए विभांशु दिव्याल की पैंट खरीदते हुए आये दिलशाद गार्डेन।

16/10/97

हिन्दुस्तान के लखनऊ संस्करण में समाचार छपा है कि मुलायम सिंह के साथ दिल्ली से चुनावी सभा में हेलीकाप्टर से औरैया से गुजरते हुए फूलन देवी खिड़की से बीहड़ की ओर ताक रही थी और उनकी आँखें नम हो रही थीं। पूछने पर बताया कि देख रहे हैं कहाँ तक पहुँचे? यहीं कहीं मेरी एक रिश्तेदारी है।

औरैया में फूलन ने भाषण दिया—इस जगह से मेरी यादें जुड़ी हैं। दुबारा आऊँगी तो मंगला काली मन्दिर जरूर जाऊँगी।...आज भी हमारी बहुत सी माँ बहनों की इज्जत आबरू सुरक्षित नहीं है। अगर ऐसा ही होता रहा तो अभी बहुतों को फूलन बनना पड़ेगा।

चित्रकूट

14/4/96

चेकपोस्ट से सवेरे टहलने निकला। वापस लौट रहा था तो जहाँ मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की सीमा रेखा पर पुलिया बनी है उसके पास गाँव से निकलकर एक चार पाँच साल का छोटा बच्चा सड़क पर आया। कुछ गुस्से में कुछ उत्तेजित थोड़ा सिसकता और बार-बार मुड़कर गाँव की ओर देखता हुआ। नंगे पाँव तेज-तेज चलकर मेरी ओर आता। देखा, पीछे गाँव से निकलकर एक बूढ़ा धीरे-धीरे साइकिल चलाता सड़क पर आया। पास आने पर लड़के ने आगे से थोड़ा घेरते हुए टेर लगाई—हे बाबा, बैठाइ ल्या।

बाबा ने निर्दयता पूर्वक दुत्कारा। लेकिन वह लड़का 'बाबा बइठाइ ल्या' की रट लगाता साइकिल के पीछे-पीछे दौड़ने लगा। मेरे पास से दोनों गुजरे तो मैं रुक गया। फिर मुड़कर उन्हें जाते देखता रहा।

बच्चे और बूढ़े के बीच का फासला बढ़ता रहा लेकिन दोनों में से कोई नहीं रुका। फर्लांग भर आगे जाकर सड़क के मोड़ पर बूढ़ा गायब हो गया। लड़का बहुत पीछे छूट गया तब भी नहीं रुका। थोड़ी देर में दौड़ता हुआ वह भी अदृश्य हो गया।

मुझे बूढ़े पर बहुत गुस्सा आ रहा था। थोड़ी देर खडे-खड़े उधर ही ताकता रहा। कहाँ तक गया होगा वह बच्चा। ऐसा निष्ठुर बाबा किसी को न मिले।

कानपुर

4/11/98

कुशवाहा को नमक लेने भेजा था। उसने लौट कर बताया कि नमक किसी दुकान पर मिल ही नहीं रहा है। स्टाक ही नहीं है। ऐसा तो आज तक कभी नहीं हुआ। केन्द्र और राज्य दोनों जगह भाजपा की सरकार है। सरकार कह रही है कि नमक की कमी नहीं है। जमाखोरों से सख्ती से निपटा जाएगा। टाटा नमक ने कल या परसों पूरे पृष्ठ का अखबार में विज्ञापन दिया था कि नमक का पर्याप्त भण्डार है। सरकार कह रही है कि आठ महीने की जरूरत का नमक का भण्डार है। लेकिन बाजार में नहीं है।

कुशवाहा ने बताया कि किसी ठेले पर मण्डी में आलू और प्याज नहीं दिख रहा है। क्या हो गया सारा प्याज? और कौन दबाकर बैठ गया सारा आलू? सरकार आखिर है किस मर्ज की दवा?

सम्पर्क : 2/325, विकासखंड, गोमतीनगर, लखनऊ, उत्तर प्रदेश
मोबाइल : 09450178673
ईमेल : shivmurtishabad@gmail.com

शिवमूर्ति

योगी भी भोगी भी

लेखक की भूमिका योगी और भोगी की साथ-साथ होती है। सबसे सम्पृक्त और सबसे संवेदित। भोगी नहीं होगा तो अन्दर तक धँसेगा कैसे? और योगी नहीं होगा, साधक नहीं होगा, एकाग्र नहीं होता, अपनी चित्त वृत्तियों को चारों तरफ से भीतर की ओर मोड़ नहीं सकेगा, दूरी बना कर नहीं रख सकेगा तो निःसंग होकर लिखेगा कैसे?

कथा कहानी के लेखक को आँकड़ेबाज तो नहीं ही होना चाहिए, विशेषज्ञ भी नहीं होना चाहिए। विशेषज्ञता सहजबोध की दुश्मन है। आलोचक तो विशेषज्ञता या विद्वता 'अफोर्ड' कर सकता है, लेखक नहीं। वह जानकार भर हो, इतना काफी है। विशेषज्ञता उसके 'लेखक' के सिर पर चढ़कर बैठ जायेगी। तब लेखक नहीं विशेषज्ञ बोलेगा (लिखेगा)। जैसे किसी पुजारी की डील या देह पर देवता या भूत सवार हो जाता है। तब सवारी की जबान से सवारी नहीं, उस पर सवार देवता या भूत बोलने लगता है। लेखक को किसी की सवारी नहीं बनना चाहिए। उसे सावधान रहना चाहिए कि कोई उस पर सवारी न गाँठ सके।

लिखना आज भी अच्छा काम माना जाता है। पहले तो यह विशिष्ट माना जाता था। आदर सम्मान पाने लायक माना जाता था। लेखक कवि स्वयं को सामान्य जन की तुलना में तनिक विशिष्ट मानते थे। पाठक भी मानते थे। वक्त के साथ इस धारणा में परिवर्तन हुआ। अब सभी मानते हैं कि लेखक भी अन्य लोगों की तरह सामान्य प्राणी है। लेकिन लेखन अभी भी बुरा काम नहीं माना जाता कुछ लोग इसे बैठे ठाले का मान लें यह दूसरी बात है। स्वयं ऐसे लेखक के परिवारीजन भी जिन्हें लेखक की अकर्मण्यता या अराजकता का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, लेखन कर्म को खराब नहीं मानते।

जहाँ इतिहास राजे रजवाड़े की लड़ाई, षड़यन्त्र और हार जीत का रोजनामचा रहा है, वही साहित्य आम जन-जीवन, उसके सुख-दुख, हर्ष-विषाद और संघर्ष का रोजनामचा है। जिस काल और समाज के सम्बन्ध में इतिहास मौन रहता है उसके बारे में साहित्य बताता है। इसका एक उदाहरण मृच्छकटिकम नाटक है। उसको पढ़कर हम जान लेते हैं कि उस समय बौद्धों पर कितना संकट था। राजा का साला मूर्ख होते हुए भी कितना शक्तिशाली और निरंकुश होता था। उस समाज में गणिकाओं की क्या हैसियत थी।

हमारे समाज में लेखक की क्या हैसियत है? क्या लेखन से क्रान्ति हो सकती है। क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए बहुत सारे कारकों का सक्रिय होना आवश्यक होता है लेकिन यह निर्विवाद है कि लेखक पाठक की मानसिकता का निर्माण करता है। अगर लेखक अपने समाज के आमजन की आशा आकांक्षा और सपनों से जुड़ा है तो वह अपने पाठक से तादात्म्य बनायेगा। उसकी सोच को प्रभावित करेगा। उसका कल्चर करेगा। मान लीजिये कि आपको अपने खेत में पहली-पहली बार देहरादून के बासमती धान की पैदावार लेनी है। तो केवल बीज के भरोसे आप ऐसा नहीं कर सकते। यदि आप अपने खेत से पैदा हुए धान के चावल में वह खुशबू और स्वाद पाना चाहते हैं जो देहरादून के खेत में पैदा धान के चावल में होता है तो आपको बीज के साथ-साथ देहरादून के उस खेत की मिट्टी भी लानी पड़ेगी जिसमें वह धान बोया जाता रहा है। उस मिट्टी को अपने खेत में डालकर पानी पलेवा करके महीने दो महीने के लिए छोड़ना पड़ेगा ताकि उस मिट्टी के साथ आये बैक्टीरिया आपके खेत में फैलकर उसका कल्चर कर सकें। यही स्थिति लेखन के साथ भी होती है। आपकी रचना आपके पाठक का मनोनुकूल कल्चर करती है। आपकी विचारधारा से पाठक प्रभावित होता है। तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार परोक्ष रूप से साहित्य क्रान्ति की जमीन तैयार कर सकता है।

यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता है कि लेखक क्यों लिखता है? जहाँ तक मेरा मामला है, मैं आमजन की बेहतरी की कामना से लिखता हूँ। मैं लेखन का उद्देश्य हर प्रकार के शोषण, अन्याय, असमानता, अभाव और उत्पीड़न से मुक्ति मानता हूँ। इनके खात्मे की जमीन तैयार करना ही अपने लेखन का मुख्य सरोकार मानता हूँ।

सामाजिक परिवर्तन में लेखक की भूमिका कितनी भी नगण्य क्यों न हो लेकिन वह गाँव के सिवाने पर भूंकने वाला कुत्ता तो हरगिज नहीं है, जैसा कि डॉ. काशीनाथ सिंह ने तद्भव के आयोजन में पिछले दिनों कहा था। यदि किसी लेखक द्वारा सत्ता की चेरी या कुत्ते की भूमिका स्वीकारी या निभाई भी गयी हो तो उसे अपवाद ही माना जाना चाहिए। मेरे विचार से लेखक की भूमिका इस गैर बराबरी की खाई को पाटने की होनी चाहिए, चाहे वह चिड़िया द्वारा समुद्र पाटने के लिए किये जाने वाला प्रयास भर ही क्यों न हो।

एक अन्य प्रश्न जो अक्सर पूछा जाता है, वह है विचारधारा का प्रश्न। सृजनात्मक लेखन में विचारधारा की स्थिति कहाँ और कितनी होनी चाहिए? अभी पिछले दिनों मैंने एक आयोजन में अपनी कहानी का पाठ किया, पाठ के बाद एक श्रोता मिले। उन्होंने विस्तार से मुझे मेरी कहानी में मौजूद सैद्धांतिकी से अवगत कराया। फिर उन सिद्धान्तों के बारे में अवगत कराया जो कहानी में अनुपस्थित थे लेकिन जिन्हें कहानी में होना आवश्यक

था। अपनी बात के क्रम में उन्होंने अंग्रेजी के कई एक्सक्लूसिव शब्दों की सहायता ली। फिर जानना चाहा कि मेरे पल्ले कुछ पड़ा कि नहीं। मैंने ईमानदारी से इंकार में सिर हिलाया और कहानी सुनाने के बाद मिली श्रोताओं की प्रतिक्रिया से जो उत्साहवर्धन हुआ था वह थोड़ा कुंठित हो गया। उस समय मुझे अपने गाँव के पंचम काका की याद आयी। इस तरह बचपन में मैं तब कुंठित महसूस करता था जब पंचम काका के कटबइठी सवालों से पाला पड़ता था।

पंचम काका के जिम्मे जीवन भर जानवरों की चरवाही का काम रहा। गर्मी की छुट्टी में मैं भी महीने भर जानवर चराने जाता था। तब मैं दर्जा दो या तीन में रहा होऊँगा। पंचम काका शायद एक या डेढ़ साल स्कूल गये होंगे। फिर नहीं गये। मान लिया कि जरूरत भर का पढ़ लिए हैं। वे फटाफट काम निबटाने में यकीन करते थे। इसलिए जो बच्चे चार-चार, पाँच-पाँच साल तक पढ़ते ही चले जा रहे थे उनके बारे में मानते थे कि ससुरे खेतीबारी के काम से जान बचाने के लिए कई-कई साल पढ़ते ही चले जा रहे हैं। तब वे इम्तहान लेते थे। उनके प्रश्न गजब के होते थे। जैसे पूछते-पहाड़ा आता है?

—आता है।

—कै तक?

—दस तक।

—अच्छा बताओ, कै नवां मुह चुम्मी क चुम्मा?

तब न चुम्मी चुम्मा समझने की मेरी उम्र थी न उसका महत्त्व जानता था। सात का पहाड़ा याद था लेकिन हिन्दी में 63 की दोनों गिनतियों की स्थिति चुम्मी-चुम्मा वाली है इस पर कभी ध्यान हीं नहीं गया था। उनके इम्तहान में मैं अक्सर फेल होता था। हिन्दी साहित्य में आज भी विचारधारा के अलम्बदार कुछ लोग पंचम काका की भूमिका निभा रहे हैं और सिर्फ लेखकों की चरवाही के बल पर प्रासंगिक बने रहना चाहते हैं।

विचारधारा रचना का प्राण है लेकिन यह प्राण शरीर में कहाँ रहता है? क्या उसकी प्लेसिंग किसी एक स्थान पर सीमित होती है? वह तो पूरे शरीर में व्याप्त है। ऐसे ही विचारधारा भी पूरी रचना में व्याप्त रहती है। वह अलग से दिखायी दे तो यह रचनाकार की असफलता है। उसकी तासीर महसूस होनी चाहिए, वह दिखनी नहीं चाहिए। जैसे शरबत में चीनी की मिठास महसूस होती है वह दिखती नहीं। जब तक चीनी दिखती रहेगी, वह मिठास पैदा नहीं कर सकती।

एक और बात। कहानी निबन्ध नहीं है। निबन्ध में सब कुछ लेखक बोलता है लेकिन कथा में बोलने के लिए जब उसने पात्रों की पूरी फौज खड़ी कर दी तो फिर लेखक को बीच में बोलने की जरूरत क्यों पड़े? इसका मतलब उसने गूंगे पात्र खड़े किए। उनके मुँह में जुबान नहीं दिया। वे कठपुतली पात्र है तभी तो लेखक को उनके पीछे खड़े होकर प्राम्पिंट करनी पड़ रही है। यह कथाकार की असफलता है।

जहाँ विचारधारा की अनुपस्थिति आपके साहित्य को दिशाहीन और मात्र मनोरंजन की सामग्री बनायेगी वहीं वह तेज स्पॉट लाइट के रूप में पड़ेगी तो चीजों को उनके मूल

रंग रूप और सही परिप्रेक्ष्य में देखने में बाधा पैदा करेगी।

मेरी नजर में आज सबसे ज्यादा चिन्ता का विषय है अमीर का और अमीर तथा गरीब का और गरीब होते चले जाना। हमारे देश के आम आदमी की हालत दिनोंदिन दयनीय होती जा रही है। प्रजातन्त्र के चारों खम्भों पर सवालिया निशान लगा रहे हैं। इसमें जातिवाद, साम्प्रदायिकता और भ्रष्टाचार का घुन लगा गया है। जनमत को धनबल से खरीदा जा रहा है। विश्व स्तर और देश स्तर, दोनों ही जगह अमीर और गरीब के बीच की खाई बढ़ती जा रही है। वर्ष 2004 में दुनिया के खरबपतियों की संख्या 587 थी जिनकी कुल पूँजी विश्व के 135 देशों की पूँजी के बराबर थी। इस बीच खरबपतियों की संख्या में दुगुनी वृद्धि हो गयी है। यह असमानता हमें कहाँ ले जायेगी। अभी एक अखबार में पढ़ने को मिला कि देश में जो सबसे ज्यादा वेतन किसी व्यापारिक संगठन के मुखिया को साल भर के लिए दिया गया वह 57 करोड़ रुपये से अधिक था। जबकि देश की तीन चौथाई आबादी की सलाना आमदनी 57 हजार भी नहीं है। एक चौथाई की तो 5700 भी नहीं है। कितना अन्तर है क्रमशः दस हजार गुने और एक लाख गुने का। सबसे ज्यादा पाने वाले और सबसे कम पाने वाले के बीच में लाख गुने का अन्तर। यह अन्तर हमारे लोकतन्त्र के भविष्य को किधर ले जायेगा? अभी मुझे दक्षिण अफ्रीका जाने का अवसर मिला। वहाँ जोहान्सवर्ग शहर घुमाते हुए गाइड ने ऐसी कई बहुत मंजिली इमारतें दिखाई जिन पर उस देश के देहात से आये और आस-पास के देशों से आये विपन्न ब्लैक्स ने कब्जा कर लिया है। वे कहते हैं, हमारे पास रहने को घर नहीं है, खाने को अन्न नहीं है, हम कहाँ जाये?

पिछले दिनों (2012) देश की सरकार ने दिल्ली में एक भोज दिया जिसमें डिनर की एक प्लेट की कीमत थी 7700 रुपये। उसे सादगी वाला भोजन कहा गया था। वहीं सरकार कहती है कि यदि एक आदमी की आदमनी 28/- रोज है तो वह गरीब नहीं माना जा सकता। अगर 28/- की आधी रकम शिक्षा, दवाई, कपड़े, लत्ते, किराये-भाड़े आदि का खर्च 7/- मान लिया जाये तो एक वक्त का हिस्सा 7/- आया। जिसे एक वक्त के खाने के लिए 7/- मिल जाएँ उसे गरीब नहीं मानती सरकार। क्या अनुपात है सरकार की प्लेट और गैर गरीब की प्लेट की कीमत में। हजार गुने का। और जिन्हें सरकार गरीब मानती है उसके भोजन में अन्तर का क्या अनुपात होगा? तो यह अन्तर जितनी जल्दी मिट सके मिटना चाहिए। कल्याणकारी राज्य की प्राथमिक जिम्मेदारी इस हजार गुने लाख गुने अन्तर को मिटाने के अलावा और क्या होनी चाहिए। अगर गरीबी रेखा तय करके इसे दूर नहीं कर पा रहे हैं तो अमीरी रेखा तय करिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा तय करिये या व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार खत्म करिये।

मेरे क्षेत्र का एक लोकगायक गा रहा था—

काहे गोलिया चलेला दनादन भइया?
तनी खड़ा होके सोचा एक छन भइया।
केहू के भरल सूटकेस भाँति-भाँति के डरेस।

केहू के मरले पै मिलै न कफन भइया।

जिनको मरने का कफन तक मिलने का इंतजाम हम स्वतन्त्रता के साठ साल गुजरने के बाद भी नहीं कर सके, उनके लिए स्वतन्त्रता का क्या मतलब है?

तुलसी दास जी ने लिखा है—'आगि बड़वागि से बड़ी है आगि पेट की। पेट की आग से जो आँच निकलेगी क्या उसे बिना अन्याय और असमानता मिटाये बुझाया जा सकता है?

क्या बिना धन संपत्ति और अवसर के न्यायपूर्ण विभाजन के असमानता मिट सकती है? क्या बिना असमानता मिटाये शान्ति बहाल हो सकती है? क्या बिना संघर्ष के, बिना प्रतिरोध के न्याय मिल सकता है? ऐसे समय और समाज में पैदा हुए लेखक को किसके पक्ष में खड़ा होना चाहिए। उसे किसकी जुबान बनना चाहिए? समतामूलक समाज के निर्माण के लिए जरूरी शर्त है प्रतिरोध। मुक्तिबोध पूछते थे - पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है? हमारा मानना है कि लेखक की पॉलिटिक्स है प्रतिरोध। हर अन्याय के विरुद्ध हर हाल में प्रतिरोध।

यह जो सैकड़ों झंडे डंडे में हमने दुनिया को बाँट रखा है, एक वक्त ऐसा आयेगा जब हमारी भावी पीढ़ी अपने पुरखों की इस मूर्खता पर हँसेगी।

लेखक की कोई जाति नहीं। लेखक का कोई धर्म नहीं। लेखक का कोई देश नहीं। वह विश्व नागरिक है। है नहीं तो हो।

कथ्य तथ्य विचारधारा और पात्रों को लेखक के मानस में सक्रिय रसायन द्वारा रचना में फलीभूत करने की प्रक्रिया पर 'सृजन का रसायन' शीर्षक से शीघ्र प्रकाश्य कृति का एक अंश। सम्पादक

सम्पर्क : 2/325, विकास खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ

मोबाइल : 09450178673

ईमेल : shivmurtishabad@gmail.com

असग़र वजाहत

शिवमूर्ति को पढ़ना हमारे समाज को समझना है

शिवमूर्ति ज़मीन से जुड़े हुए रचनाकार हैं। उनके पास व्यापक अनुभव रहे हैं, क्योंकि अपनी नौकरी के दौरान उन्हें अलग-अलग जगहों पर रहना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने हिन्दी प्रदेश का बड़ा हिस्सा देखा। जन जीवन से जुड़े होने के कारण उनके पास व्यापक अनुभव हुए। इस कारण ही उनकी रचनाओं में हमारे समाज का बदलता हुआ यथार्थ दिखाई देता है।

आज कल के फैशन तथा प्रचलित ख्याति पाने का जो तरीका है कि—उस प्रकार की कहानी लिखो तो बहुत पसन्द की जाएगी, उसकी मार्केटिंग की जाएगी, शिवमूर्ति जी ने ऐसा कभी नहीं किया। उनके जो अपने विश्वास बने उसके अनुसार उन्होंने कहानियाँ लिखीं। शिवमूर्ति कभी मार्केट के डिमांड अथवा फैशन के लिहाज से कहानियाँ नहीं लिखीं।

अगर हमारे समय और समाज को समझना है तो इसके लिए शिवमूर्ति जी एक आवश्यक कहानीकार हैं। उन्हें पढ़ना हमारे समाज को समझना है, लोगों को समझना है। शिवमूर्ति का दर्जा काफी ऊँचा है। वे शीर्ष रचनाकारों में एक हैं। हिन्दी साहित्य उन्हें उसी रूप में याद रखेगा।

मोबाइल : 09818149015

इब्बार रब्बी

'श' से शिवमूर्ति 'श' से शेक्सपीयर

शेक्सपीयर का एक नाटक है 'जूलियस सीजर'। महान सेनापति जूलियस सीजर विजय के बाद रोम लौट रहा है। नगर में उत्सव मनाया जा रहा है। भारी भीड़ है। जनता सीजर का स्वागत करने के लिए सड़कों पर खड़ी है। जय जयकार हो रहा है, तभी कैसियस का प्रवेश होता है। वह भाषणबाजी में माहिर, चतुर व्यक्ति है। वह भाषण देकर जनता को सीजर का विरोधी बना देता है। वह अपनी चालाकी से जनता के मनोभावों को मोड़ देता है। सीजर के प्रति जन मानस में उत्साह की बजाया विष भर देता है। यह है बात बनाने की कला, वाणी के उपयोग का दुरुपयोग का चमत्कार। यह नहीं वह सीजर के घनिष्ठ मित्र और परम हितैषी ब्रूटस को भी अपनी चालाकी भरी बातों से सीजर का शत्रु बना देता है। यह है पर्दे के पीछे रहने वाले चालाक व्यक्ति का चरित्र। वह स्वयं सामने नहीं आता। अब जनता ही सीजर का विरोध करती है। यही नहीं कैसियस के भड़काने पर ब्रूटस सीजर की पीठ में छुरा मार देता है। कैसियस की कूटनीति और षडयंत्र सफल होते हैं। शेक्सपीयर में हत्या और षडयंत्र भरे पड़े हैं। वह हत्याकांडों को महान नाटक में बदल देता है। हिन्दी के कथा लेखकों में यह महानता मुझे केवल शिवमूर्ति की कहानियों में नजर आती है।

'तिरिया चरित्तर' कहानी के ससुर को देखिये। वह सीधी सादी पुत्रवधू का शोषण कर रहा है और अपनी बातों से पूरे गाँव को बहका रहा है। पूरा गाँव बहू को दुश्चरित्र मानता है। ससुर उस पर तरह तरह के झूठे लांछन लगाता है। वह सफेद झूठ की मजबूत दीवार खड़ी करता है, जिसमें भोली स्त्री शिकार होकर रह जाती है। बातों बातों में जन भावना को मोड़ देने का यह कमाल शेक्सपीयर का कैसियस भी करता है, उसकी तुलना 'तिरिया चरितर' के ससुर से कीजिये। मनुष्य का यह भयानक काला रूप शेक्सपीयर और

शिवमूर्ति दोनों सफलतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं। षडयंत्र बुनने की कला, बात-बात में बात बदल देने की चतुराई ही कूटनीति है, जो दोनों लेखकों में महानता की ऊँचाई पर है। इस अर्थ में हिन्दी में शेक्सपीयर की तुलना केवल शिवमूर्ति से ही हो सकती है। भीड़ा के मनोविज्ञान को समझना उसे मन माफिक मोड़ देने की कुशलता में दोनों उस्ताद हैं। किस्सेबाजी और चरित्र-चित्रण में शिवमूर्ति की प्रतिभा असाधारण है। यह बात भी उन्हें शेक्सपीयर के साथ खड़ा करती है। कथा रचने बुनने का लहजा शेक्सपीयर से काफी मिलता-जुलता है। मैं शिवमूर्ति को उन्हीं की श्रेणी में रखता हूँ। उनमें क्लासिक हाइट है, जो ग्रीक नाटकों में मिलती है। अंग्रेजी में उसका सबसे बड़ा उदाहरण शेक्सपीयर है, तो हिन्दी में शिवमूर्ति। बुरे व्यक्ति का सांगोपांग चित्रण और किस्सागोई का जादू पाठक को बांध लेते हैं। गलत बात को भी सही की तरह पेश करना साधारण कला नहीं है। शिवमूर्ति ने कम लिखा है पर जो कुछ लिखा है महान् है। उनमें सगरमाथा की ऊँचाई है। उसनमें अद्भुत जीवंतता और ताजगी है। शिवमूर्ति का गाँव 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है।' नहीं है। वह गाँव का काला कुरूप चेहरा भी बड़े कलात्मक ढंग से पेश करते हैं। आज गाँव और शहर का भेद काफी मिट गया है। हर कोई गाँव छोड़कर शहर भाग रहा है। शहरों की सारी विद्रूपताएँ और बुराइयां गाँव-गाँव में डेरा डाले हैं। अब गाँव रोमांटिक पलायन, 'रमण रेती' या केलिस्थल मात्र नहीं है। इस बदलाव को शिवमूर्ति गहराई से पकड़ते हैं। गाँव में होने वाले दांव-पेच, धूर्तताएँ, स्त्रियों और दलितों पर अत्याचार, मुकदमेबाजी और षडयंत्र इन सब पर शिवमूर्ति की पैनी नजर है। वह गाँव की हरियाली ही नहीं, उसका कुरूप चेहरा भी दिखाते हैं।

एलिजाबेथ के समय में ब्रिटेन की जो जटिल सामाजिक, राजनीतिक स्थिति थी, उसका भयावह चित्रण शेक्सपीयर करते हैं। भारत की आजादी के बाद हिन्दी क्षेत्र में व्याप्त भारी कालिमा और सामाजिक, राजनीतिक छल छद्म की तुलना ब्रिटेन के एलिजावेथ युग से करें तो पायेंगे कि शेक्सपीयर और शिवमूर्ति के समय और समाज में काफी समानताएँ हैं। इसलिए उनमें और शेक्सपीयर में अनेक समानताएँ हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ वह हिन्दी के शेक्सपीयर हैं, अर्थात् 'श' से शेक्सपीयर और 'श' से शिवमूर्ति।

फोन नं. : 011-22724591

दिनेश शुक्ल

जीवन का सत्य पिरोया है

शिवमूर्ति जी और हमारी पृष्ठभूमि गाँव की ही है। जिस तरह वे सिविल सर्विस में गये, हम भी गये। तो जब भी वो लिखते हैं तो बड़ा आत्मीय-सा लगता है क्योंकि एक तो जो भौतिक सन्दर्भ है वह एक-सा है। शिवमूर्ति ग्रामीण परिवेश को विशेषतः उसके अन्तरसम्बन्धों को, उसके परिवार और परिवार के स्थानान्तरण को, नगरों में बनने वाले नये सम्बन्धों को, जीवन की विवशता साथ टूटते जाने वाली चीजों को व्यक्त करते हैं। उनकी एक कहानी है जिसमें उनकी माता जी का उल्लेख आता है, उसमें उन्होंने दिखाया है कि जो परम्परा को लेकर इतनी सकारात्मक थीं, लोगों में Scientific Attitude Outlook था और वह सिर्फ उन्हीं लोगों में नहीं था जो Scientific Outlook चिल्लाते थे, वह माता जी की बात करते हैं, जब एक बार बीमारी ठीक होने पर डॉक्टर ने कहा कि भगवान का धन्यवाद कीजिए तो वो बोली भगवान से क्या लेना-देना, ठीक तो आपने किया है। अब ये कथा में इस चीज को इस तरह पिरोया जैसे जीवन का सत्य हो। महिलाएँ हमारे दिमाग़ ज्यादा अच्छी तरह जानती है, वो आस्तिक भी बहुत ज्यादा और नास्तिक भी बहुत ज्यादा हैं। वह जो लड़ाई होती है उनकी बीमारियों के साथ विषमता के साथ उसे वे जानते हैं। वे इसी को अपनी के मुखड़ों में कहानियों और लोकगीतों में पिरोते हैं। जैसे एक जगह उन्होंने भूला हुआ तुलसीदास का पद उठाया है, जिसे लोगबाग याद नहीं रखते हैं और वह दो तरीके से उसे उठाते हैं, एक तो 'जग बहराइच जाय' तो सही है लेकिन लोक में उसकी अपनी प्रतिष्ठा है। मतलब कि तुलसी भी इस चीज विचार कर रहे थे उस जमाने में। बावजूद इसके वे लोक में कुछ इस तरह से घुस गये थे। समाज, परिवार, क्षेत्र अपना मनोगत जीवन संसार 'केशर कस्तूरी' जैसी रचनाओं में झलकता है। ये सब व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ है। मैं ये बात मानने को तैयार नहीं हूँ कि एक

व्यक्ति के समृद्ध बन जाने से आपके परिवार का वर्ग बदल जाता है। उनका वर्ग मनोगत रूप से नहीं बदलता। लेकिन लेखक सामान्य लोगों की बात करता है। जहाँ से वह आया है वहाँ की जिन्दगी के दुख तकलीफ में जो इजाफा हुआ है उसे लेखक समझता है।

इसी तरह गाँव में जो वनस्पतियाँ, चिड़ियाँ पशु-पक्षी, विलुप्त हो गए हैं वह सब उनकी कहानियों में आते हैं। हिन्दी साहित्य में अन्य किसी भी रचनायें वे नहीं आते। गाँव के घरों की जो बनावट होती है वह विस्तृत रूप से उनकी हर कहानी में व्यक्त होती है। उनका स्थानान्तरण नगर में होता रहा है और नगर में जो चीजें है उसकी परत होती है कितने अलग-अलग धरातलों पर जाना पड़ा है, फिर आम भ्रष्टाचार है, राजनीतिक पाखण्ड है, उसकी बात कहे तो हमारे समय के ये बहुत ही सशक्त और अलग तरह ये जादुई यथार्थ हमारी लोककथाओं में आता रहा है और मैं समझता हूँ कि यह सब पहली बार शिवमूर्ति के हाथों हिन्दी साहित्य में हुआ है।

मोबाइल : 09810004446

अष्टभुजा शुक्ल

यथार्थ का लगाव लालित्य दिखाई पड़ता है

ग्राम्य संवेदना के जो दो मानक कथाकार मौजूद हैं, उनमें एक तो रेणु हैं और दूसरे शिवमूर्ति। रेणु ऋण पर ज्यादा लिखते हैं। मतलत जो ऋण की पहेली है, ऋण का जो यथार्थ है या जो लोक जीवन की बोली वाणी है उसे रेणु प्रभावी ढंग से उकेरते हैं। शिवमूर्ति जी रेणु की उसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कथाकार हैं। शिवमूर्ति ने अपनी कहानियों में—जो लोक जीवन या ग्रामीण जीवन के पात्रों का चयन किया है, वे पात्र बिल्कुल मामूली होते हैं लेकिन उन पात्रों का समूचा जीवन एक कहानी होता है। यानी जो जीवन की कथा है, वह पात्रों के हर पक्ष को एक फलक प्रदान करती हैं।

शिवमूर्ति जी की एक और बात जो मुझे लगती है वह यह कि यथार्थ की जो परत दर परत है, उसे बड़ी बारीकी और दिलचस्पी के साथ चित्रित करते हैं। मुझे लगता है कि यथार्थ का लगाव लालित्य उनकी कहानियों में खूब दिखाई पड़ता है। उनकी कहानियाँ कोई संदेश-मूलक या निष्कर्ष मूलक नहीं है। वे उमड़ते-घुमड़ते जीवन के सुख-दुख को तथा रंग रेखा वाले जीवन को मिलाकर कोलाज तैयार करते हैं। जीवन के तमाम पात्रों, तमाम स्थितियों के माध्यम से शिवमूर्ति ग्रामीण जीवन की कहानियाँ कहते हैं।

उनके यहाँ आभासी यथार्थ नहीं है। मतलब यथार्थ जैसा है, वैसा ही है। वे अपनी कल्पना से भी उसमें कुछ चीजें भरते हैं, जिससे कहानियों में रोचकता आती है। उसे पढ़ने की दिलचस्पी पैदा होती है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'तिरिया चरित्तर' की शुरुआत होती है ईंट के भट्टे से। ईंट के भट्टों पर बाहर के मजदूर आते हैं। ग्रामीण जीवन का जो रंग है और जो बदलता हुआ जीवन है, दोनों को इस प्रकार अनुस्यूत करते हैं कि उनके पात्र अलग-अलग व्यक्तित्व बनकर उभरते हैं। आप कह सकते हैं कि एक रेखीय पात्र भी कभी-कभी उनके हो जाते हैं और वे कथानायक या खलनायक के रूप में सामने

आते हैं। शिवमूर्ति की कहानियों में जो बैल हल खेती बारी से नाटकीय स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उन नाटकीय स्थितियों में भी जीवन का उल्लास, जीवन की रागात्मकता को बचाये रखने की कोशिश दिखाई देती है। शिवमूर्ति हमेशा यही नहीं दिखाते कि जीवन हमेशा विजयी ही होता है। वे पराजित जीवन को भी दिखाते हैं। अगर पात्र विपरीत परिस्थितियों से निकलता है, तो लड़कर के नहीं सहजता निकलता है, कहीं से कोई आरोप प्रतिरोध शिवमूर्ति जी की रचनाओं में नहीं है।

अगली बात यह है कि ग्रामीण जीवन का जो वातावरण है, वह भी बहुत ही अभिप्राय लगता है। कथाकार कहीं बाहर नहीं रहते, वहीं रहते हैं, जो कि उनका भोगा हुआ जीवन है। अपने जीवन का भी जिस तरह से उन्होंने सृजन किया है, अपने बारे में जो बताया है कि कैसे वे पढ़ने जाते थे, कैसे वे मजमा लगाते थे, दवा बेचते थे, जैसे दवा बेचने वाले करते हैं, मतलब कोतूहल पैदा करते थे। वह उत्सुकता और चेतना जगाने वाली होती है। ग्रामीण जीवन की संरचना में सामाजिक सम्बन्ध है। वे अपने ननिहाल के बारे में, अपने मामा के बारे में, तमाम मामाओं और मामियों के बीच के सम्बन्धों को अद्‌भुत ढंग से उकेरते हैं। कहीं-कहीं उनके पात्र उन दुखों में भी खिल उठते हैं और उस रागात्मकता से मनुष्य को जीने की ऊर्जा मिलती है और वह भी सुखपूर्वक जीने की। तमाम भौतिक परिस्थितियों के विपरीत होते हुए भी जीवन का सुख तलाश लेना शिवमूर्ति जी की कहानियों की खास विशेषता है।

मोबाइल : 08795594931

ओमा शर्मा

शिवमूर्ति की कहानियाँ पढ़कर आप निखर जाते हैं

शिवमूर्ति हमारे समय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। उन्होंने कथा जगत में ग्रामीण यथार्थ को अपनी सृजनात्मकता के केन्द्र में इसलिए रखा कि वे उसी जीवन का आख्यान रचते हैं जिससे वे बखूबी बावस्ता और दक्ष रहते हों। किसी भी नये हिन्दी पाठक या अहिन्दी भाषी पाठक को हिन्दी साहित्य से स्नेह हो जाएगा यदि उसे शुरू में शिवमूर्ति की कहानियाँ पढ़ने को मिल जाएँ। उनकी सभी कहानियाँ जीवन के अनुभवों से छनकर निकली हुई हैं इसलिए उन्हें पढ़कर आप एक साथ भौंचक, आहत, उदास, स्पन्दित और निखर जाते हैं। भौंचक आप होते हैं चूंकि वे जिस संवेदना को प्रशस्त करते हैं उनका मर्म आपके भीतर गढ़ जाता है। आप निखर जाते हैं क्योंकि साहित्य कला आपको उदात्त कर देती है। उनकी कहानियों से आप अपने समकालीन समाज, राजनीति, गरीबी, जातिवाद, छल प्रपंच और शोषण के अनेकानेक रंग और तरीकों से भी वाकिफ हो जाते हैं। उनकी कहानियों में उदय प्रकाश की तरह चकाचौंध और आरोपण करने की फितरत नहीं है। वे अपने अभ्यान्तर तर्कों से जन्मी कहानियाँ बुनते हैं इसलिए पाठकीय विश्वास जगाते हैं। एक कथाकार से जिस जीवन वैविध्य को तराशने की अपेक्षा की जाती है वह उनके यहाँ उतनी पूरी नहीं हो पाती है लेकिन यह उनकी कहानियों की आलोचना नहीं हो सकती है। मुझे निजी तौर पर उनकी 'सिरी उपमा जोग' बेहद पसन्द आती है। हमारे जैसे समाज में उन चरित्रों और स्थितियों का अभाव नहीं है जिनको यह कहानी अपना मर्म बनाती है। किसी कहानी को बार-बार पढ़ने पर भी यदि आपके भीतर उसके कथानक और रचाव के प्रति उत्कण्ठा भाव बना रहता है तो यह उसकी कला की पर्याप्त अहर्ता होती है। शिवमूर्ति की कहानियों को कथानक के जाहिर होने के बाद भी बार-बार पढ़ा जा सकता है। एक बार उनके साथ लम्बी बातचीत करते हुए मैंने जाना कि वे ग्रामीण जीवन के बारे में कितनी गहराई से महसूस करते हैं। उन्हें अपने कथा-प्रदेश के संकुचन की कोई चिन्ता नहीं बल्कि उन स्तिथियों के न बदले जाने का दुख है जिनके प्रतिरोध में उन्होंने वे कहानियाँ लिखी थीं।

मोबाइल : 09969233710

राजकुमार गौतम

शिवमूर्ति से किसी का कोई मुकाबला नहीं

शिवमूर्ति की कहानियों में सबसे पहला तत्व जो मुझे दिखाई पड़ा है वह यह कि उनकी कहानी तेजी से भीतर घुसती है। 'अकालदंड' और उनकी शुरुआती कहानियों ने पाठकों को अपनी ओर खींचा। पाठकों की ओर से वे विशिष्ट कहानीकार शुरुआती दिनों में बन गए थे। बाद की कहानियों में लगातार विस्तार और परिपक्वता नज़र आयी। मैंने उनकी लगभग सारी कहानियाँ पढ़ी हैं। लेकिन 'तिरियाचरित्तर' सबसे ज्यादा पंसद आती है। या कहूँ कि वह कहानी वास्तविकताओं के बहुत करीब लगती है।

उनकी कहानियों के जितने भी स्त्री पात्र हैं उन्हें सबसे ज्यादा नम्बर दिये जा सकते हैं। उनके सारे स्त्री चरित्र एक से बढ़कर एक है। मुझे लगता है शिवमूर्ति जी से किसी का मुकाबला नहीं है। जिस कथा रचना के क्षेत्र से वे आते हैं वहाँ उनका किसी से मुकाबला है ही नहीं। उनका अपना ही वेट है जहाँ फिलहाल वे अकेले राज करते नजर आ रहे हैं। अन्य लेखक रचनात्मक के साथ-साथ सूचनात्मक भी देना चाहते हैं। लेकिन शिवमूर्ति की कहीं भी इस तरह की अपेक्षा नहीं रही है। वे अपनी बातों को बड़ी सहजता से रखते हैं। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को हमेशा गाँव से जोड़े रखा। इसलिए अभी तक प्रामाणिक रचनाएँ देते जा रहे हैं।

प्रेम कुमार मणि

आँचलिकता के तत्त्व की खूबसूरती

शिवमूर्ति ने अपनी रचनाधर्मिता में कुछ नये प्रयोग किये हैं और रेणु ने जो एक धारा बनायी थी उस धारा को शिवमूर्ति जी ने एक सार्थक अन्जाम दिया है। जो ग्रामीण और कस्बाई चेतना है और जो प्रतिसंस्कृति का एक परिवेश है, उसे पकड़ने में उन्होंने महारत हासिल किया है, लेकिन मैं यह भी कहना चाहूँगा कि रेणु की तरह आधुनिकता की दृष्टि उनमें आ पाती, तो ज्यादा बेहतर होता। यह अफसोसजनक है कि शिवमूर्ति में रेणु की तरह वह दृष्टि नहीं है। जबकि आँचलिकता के दूसरे तत्त्व, उनमें बहुत ही खूबसूरत अन्दाज में है। जब साहित्य हाशिये पर जा रहा था और ऐसा लग रहा था कि लिखने का अब कोई अर्थ नहीं है। उस समय शिवमूर्ति ने बड़ी संख्या में पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। उस समय यह एक बड़ी बात थी।

लेकिन रेणु और शिवमूर्ति में एक अन्तर तो है ही। रेणु में जो एक सामाजिक दृष्टिकोण है, उसका अभाव शिवमूर्ति में पाया जाता है। शिवमूर्ति जी की कसाईबाड़ा कहानी को लीजिए। वे कई जगह कहानी में निरपेक्ष हास्य पैदा करने की कोशिश करते हैं। ऐसे प्रयास में वह कहानी खुद हास्यापद हो जाती है। मुझे लगता है कि हिन्दी पाठकों की चेतना का दारिद्रय ही है कि यह कहानी इतनी लोकप्रिय हो जाती है। आज तक इस कहानी की कोई सार्थक समीक्षा भी नहीं की आज सकी है। जबकि 'त्तिरिया चरित्तर' कहानी मुझे बहुत आकर्षित करती है।

एक हाशिये पर रह रहे जो लोग हैं, उनकी चेतना को शिवमूर्ति खूबसूरत अन्दाज में पकड़ते है। गाँवों में क्या चल रहा है, पंचायती राज की चेतना किस रूप में उभरकर आती है। 'विमली' के प्रति किस तरह पंचायत बैठती है और किस तरह से पंचायत का निर्णय होता है, हालाँकि यहाँ रेणु जैसी चेतना तो नहीं है लेकिन वह बात रख पाने में

शिवमूर्ति सफल होते है कि गाँव की जो पंचायतें हैं, ग्रामीण चेतना है वह हमें कहाँ ले जाएगी, इसे स्पष्ट करते हैं।

रेणु के गाँव और शिवमूर्ति के गाँव में एक अन्तर जरूर है। शिवमूर्ति के गाँव में विद्रोह की एक आवाज़ भी नहीं उठती है। यह मुझे शिवमूर्ति के गाँव का एक कमजोर लक्षण लगता है। जैसे—मैला आँचल और परती परिकथा में लट्टो हैं, कालीचरण हैं, लक्ष्मी कोठारिन भी हैं। जब लक्ष्मी कोठारिन पर जुल्म होता है तब बालदेव यादव उसकी उपेक्षा कर देते हैं कि इसमें हमें नहीं पड़ना है लेकिन कालीचरण लक्ष्मी कोठारिन का पक्ष लेता है। और सिर्फ पक्ष ही नहीं लेता है वह नागा साधु को खदेड़ता है। यह चेतना शिवमूर्ति नहीं रख पाते हैं। विमली के नाम पर उस गाँव में कोई संघर्ष नहीं होता है। मुझे लगता है जो गाँव की बनी—बनायी धारणा है, उसे फिल्मी अन्दाज में शिवमूर्ति रख देते हैं। दुर्भाग्य है उस कहानी पर फिल्म भी बन गई है। वह तो फिल्म की कथा है ही नहीं। वहाँ ऐसा गाँव नहीं है। गाँव में विद्रोह होता है। लड़ाइयाँ भी होती है। दूसरा पक्ष भी उभरता है। कालीचरण वहाँ नहीं दिखता, लट्टो वहाँ नहीं दिखता है। भारत में ऐसा कौन-सा गाँव है जहाँ राजनीतिक कार्यकर्त्ता नहीं होगा। गाँव एकांगी नहीं है और शिवमूर्ति ने एकांगी गाँव को अपनी कहानी में रखा है।

यह अफसोस की बात है हिन्दी के पाठकों का ध्यान इस ओर नहीं गया। मैं समझता हूँ कि रेणु जिस तरह गाँव के दोनों पक्षों को देखते हैं, वहाँ एक सिपाहियाँ टोला के लोग हैं। वहाँ कालीचरण जैसे लोग हैं और बावनदास जैसे भी लोग हैं जो अकेले शहीद होने का संकल्प रखता है। इसलिए शहीद होता है बावनदास। वह काला बाजारी और सामाजिक तानाशाही के खिलाफ अकेले संघर्ष कर रहा है। शिवमूर्ति की रचनाओं में ऐसे लोग नहीं दिखते हैं। वह आँचलिकता के खूबसूरत तत्व को जरूर पालते पोसते हैं, लेकिन वह चेतना का निर्वाह नहीं कर पाते इसलिए मैं कहता हूँ कि मार्क्स और आम्बेडकर दोनों मानते थे गाँव जो हैं वह लोकतन्त्र के लिए बाधक होंगे, लेकिन रेणु ने बताया कि गाँव लोकतान्त्रिक चेतना के लिए बाधक नहीं होंगे बल्कि गाँवों से होकर जो लोकतन्त्र नहीं उभरेगा वह सार्थक नहीं हो सकता।

मोबाइल : 09431023942

प्रेमपाल शर्मा

सच्चे मायने में जनता के कथाकार

मैं शिवमूर्ति जी की कहानियों का तब से दिवाना हूँ, जब वे यदाकदा धर्म युग आदि पत्रिकाओं में छपा करते थे। पिछले दिनों उनका उपन्यास 'तर्पण' आया। उसके पहले हंस में 'तिरिया चरित्तर' कहानी छपी। मुझे बार-बार लगता है कि शिवमूर्ति और संजीव दोनों सच्चे मायने में इस देश की उस 90 प्रतिशत जनता के कथाकार हैं, जो लगभग गुमनामी में जी रही है। उनकी 'तिरिया चरित्तर' कहानी और अन्य में भी ऐसे चरित्र है जिन पर किसी दूसरे रचनाकार की दृष्टि नहीं गई। इसका कारण यह भी है कि शायद इन दोनों लोगों ने जहाँ बैठकर रचनाएँ की हैं, वह जिन्दगी उनके सबसे करीब थी। राजेन्द्र यादव की कहानियों की चाहे जितनी भी चर्चा रही हो लेकिन वे कस्बाई मानसिकता के कथाकार थे। अगर राजेन्द्र जी की बात कही जाएँ तो शायद ही उनकी किसी कहानी में दलित चरित्र को उकेरा गया हो। ऐसे चरित्र जो रात-दिन संघर्ष में डूबे हैं, और जो चाहे जितनी राजनीति, सत्ता के शिकार हैं उनको शिवमूर्ति और संजीव के पात्रों ने ही दर्शाया है। शिवमूर्ति जी की रचनाओं को पढ़कर एक तसल्ली होती है कि इस सारी चमक-दमक के बाद भी इतना अच्छा वे लिख रहे हैं। मैं इस बात पर भी सहमत हूँ कि शिवमूर्ति जी ने जो लिखा है उसे आलोचकों ने भी खूब सराहा है और हिन्दी समाज से उन्हें जो एक कथाकार के देय था वह प्राप्त किया है। काश ऐसे कथाकार और भी सामने आए, क्योंकि ऐसे दर्जनों कथाकार दिल्ली से बाहर विशेषरूप से बिहार की पृष्ठभूमि से आने वाले हैं, अगर उन्हें भी आलोचकों का प्यार मिलता तो हिन्दी कथा साहित्य ज्यादा समृद्ध होती।

मोबाइल : 09717644643

भारत यायावर

ग्रामीण जीवन के सफल कथाकार

ग्रामीण जीवन को कथा साहित्य का आधार बनाने वाले समकालीन कथा साहित्य में शिवमूर्ति सबसे प्रखर और प्रतिभाशाली कथाकार हैं। उनका कथा साहित्य मुझे इसलिए भी पसन्द है कि उन्होंने अपने ग्रामीण स्त्री पात्रों की वेदना को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है।

शिवमूर्ति के कथा लेखन पर रेणु का गहरा प्रभाव है। जिस तरह रेणु ग्रामीण जीवन को बहुत बारीकी से चित्रित करते हैं उसी तरह शिवमूर्ति जी की रचनाओं में ग्रामीण जीवन की गहरी बुनावट हैं। सच कहूँ तो प्रेमचन्द और रेणु की परम्परा को जीवित रखने तथा आगे ले जाने वाले समकालीन कथाकारों में शिवमूर्ति इकलौते कथाकार मुझे दिखाई पड़ते हैं। बहुत सारे कथाकार हुए जिन्होंने ग्रामीण जीवन पर लिखा अथवा लिखना चाहा, लेकिन वे सब ग्रामीण जीवन की असली कथा लिखने में उतने सफल नहीं हो पाए जितना सफल शिवमूर्ति हुए हैं।

मोबाइल : 09835312665

रजनी गुप्त

संवेदना और अनुभव की सघन दुनिया है

शिवमूर्ति मानवीय सम्वेदनाओं के कथाकार हैं। उनके पास सम्वेदना और अनुभव की सघन दुनिया है जहाँ वे अपने पात्रों के अन्तर्मन में गहरे धँसकर सम्वेदना के उस बिन्दु को कलम से उकेरने की कला में माहिर हैं, जहाँ हमें आम आदमी का चेहरा नजर आता है।

शिवमूर्ति जी के यहाँ विचारधारा उसी रूप में प्रच्छन्न है जिस तरह से दाल में नमक। यानी विचाराधारा उनके लेखन में सन्तुलित मात्रा है और उनके लेखन पर हावी नहीं होता है। उनके यहाँ जो स्त्री पात्रआयी हैं वे बहुत ही कर्मठ हैं, जीवट वाली हैं लेकिन आज आधुनिक सन्दर्भ में जिस बौधिकता की आवश्यकता है, वह उनके स्त्री पात्रों में नहीं दिखायी पड़ती। स्त्री प्रश्न के सन्दर्भ में प्रतिरोध का होना बहुत जरूरी है। 'तिरियाचरित्तर' की विमली का कोई प्रतिरोध हीं दिखता। यदि वही कहानी कोई स्त्री लेखिका लिखती तो वह दूसरी तरह से लिखती।

शिवमूर्ति जी ने गाँव पर लिखा है जिसका यथार्थ प्रेमचन्द और रेणु की परम्परा से भिन्न है। उन्हें सिर्फ इसलिए ही याद नहीं दखा जाएगा कि उन्होंने प्रेमचन्द और रेणु की परम्परा का निर्वहन किया है बल्कि इसलिए भी कि उनकी खुद की कहानियाँ बेहद मजबूत है।

मोबाइल : 09452295943

सभी परिचर्चा नूतन यादव से बातचीत पर आधारित है।

मोबाइल : 09810962991

देवेन्द्र चौबे

उत्पीड़ित समाज का चित्रण

शिवमूर्ति समकालीन हिन्दी कथा साहित्य के एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। मुझे याद है, पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में जब वैश्विक और भारतीय सन्दर्भ में अनेक तरह के बुनियादी परिवर्तन हो रहे थे, तब शिवमूर्ति अपनी रचनाओं के जरिए सामाजिक परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओं को एक अलग तरीक़े से समझने की कोशिश कर रहे थे।

दरअसल 1990 का दशक आधुनिक सदी का सर्वाधिक परिवर्तनकारी समय हैं जिस समाजवादी दर्शन ने चिन्तन के पारम्परिक दर्शनों को विस्थापित करते हुए अपनी सत्ता कायम की थी, उसे 90 के दशक में स्वयं नई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। उसके समानान्तर आर्थिक उदारीकरण और वैश्विकरण की निर्मिमियों ने उन समस्त संरचनाओं को प्रभावित करना शुरू किया, जिन पर किसी भी सभ्यता की बुनियाद टिकी होती हैं। शिवमूर्ति का हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में आना हिन्दी पाठक के लिए एक बड़ी उपलब्धि है। यह इसलिए भी कि वे अपने समय के उन सारे सवालों से टकराते हैं, जिन्हें स्वातन्त्र्योत्तर भारत के बड़े सवालों के रूप में पहचाना जा सकता है। इन सवालों में साम्प्रदायिकता, स्त्री दलित आदि बड़े सवाल हैं, जिनसे शिवमूर्ति बार-बार टकराते हैं। इसी प्रकार नक्सल आन्दोलन के बाद ग्रामीण जीवन की संरचना में जो परिवर्तन आता है, उसे भी शिवमूर्ति गहरी संवेदना के साथ अपनी कहानियों का विषय बनाते हैं। अगर उनकी कहानी 'तिरिया चरित्तर' को हम देखें तो साफ़ पता चलता है कि भारतीय सामाजिक ज़िन्दगी में दिहाड़ी मज़दूरों; और उनमें भी स्त्री जीवन का संघर्ष कैसा है। उस संघर्ष का समाजशास्त्र क्या है। कारण, जब एक स्त्री मज़दूर बनती है, तब उसका सिर्फ़ आर्थिक शोषण ही नहीं होता है, बल्कि सामाजिक स्तर पर भी उसका शोषण ओर दमन होता है। इस दमन का केन्द्रिय

कारक वे पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें दो निर्मितियाँ ताक़तवर बनाती हैं। एक, ब्राह्मणवाद और दो, सामन्तवाद। ये दोनों निर्मितियाँ ज्ञान और सत्ता से स्त्री समाज को वंचित रखती हैं। परिणामतः स्त्री सामाजिक जीवन की संरचना में हमेशा हाशिए पर रहने को मज़बूर होती है। उसका दुख, उसका ही रह जाता है; समाज का दुख नहीं बन पाता। यह स्त्री जीवन का वह सच है, जिसे शिवमूर्ति 'तिरिचा चरित्तर' के माध्यम से भारतीय समाज के सामने एक बड़े सवाल के रूप में खड़ा करते हैं। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि इस सन्दर्भ में सामाजिक न्याय की प्रक्रिया भी स्त्री के पक्ष में खड़ी नहीं दिखलाई पड़ती है। कहानी में बिमली का चरित्र इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

मुझे लगता है, शिवमूर्ति का जो कथा लेखन है, वह उनके समकालीन कथाकारों से इस मायने में अलग है कि वे किस्सागोई के साथ-साथ उत्पीड़त समाज के सवालों को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। यद्यपि इस दौर के अन्य कथाकारों में संजीव, पंकज विष्ट, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, अरुण प्रकाश, उदय प्रकाश, प्रेम कुमार मणि, धीरेन्द्र अस्थाना, हरि भटनागर आदि आठवें दशक के बाद के कथा साहित्य को एक भिन्न धरातल पर प्रस्तुत करते हैं, तथापि शिवमूर्ति इनसे अलग इस मायने में हैं कि वे अपनी रचनाओं में हाशिए के समाज को अपने समय का सबसे बड़ा सवाल मानते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, जो किसी भी रचनाकार पर विचार करने के लिए बेहद ज़रूरी है।

मोबाइल : 09868272999

आनन्द कुमार शुक्ल से बातचीत पर आधारित

अल्पना मिश्र

बदलते भारत की तस्वीर

प्रेमचंद और रेणु जिस तरह ग्राम्य केन्द्रित समस्याओं, विडम्बनाओं और विद्रूपताओं को उठाते हुए भी दो भिन्न कथा रूप रचते हैं, उसी तरह शिवमूर्ति भी ग्राम जीवन को अपनी कहानियों का आधार बनाते हैं पर वे प्रेमचन्द और रेणु से अलग कथा संसार की रचना करते हैं। शिवमूर्ति का कथा संसार स्वतन्त्रता के बाद के बदलते भारत की तस्वीर दिखाता है। यहाँ भाषा के मुहावरे भी अलग तरह से प्रयुक्त होते हैं। प्रेमचंद में जहाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन से विकसित हुए मुहावरे बहुत जिन्दा उपस्थिति दर्ज करते हैं, वह शिवमूर्ति के यहाँ नहीं आ सकता। प्रेमचंद के यहाँ चिमटा 'रूस्तमे हिन्द' हो सकता है पर शिवमूर्ति के यहाँ त्रिशूल साम्प्रदायिकता के बदले हालात का प्रतीक बनता है। इसी तरह रेणु के यहाँ की राजनीतिक स्थितियाँ, टकराहटें, शिवमूर्ति के यहाँ की राजनीतिक स्थितियों से भिन्न रूप रंग में दाखिल होती हैं। शिवमूर्ति जी ने बदलते, संक्रमण झेलते, मूल्यों से टकराते, अमानवीय अनैतिकताओं में जूझते, निहत्थी लड़ाइयाँ लड़ते, थकते, हारते भारत को उसके रेशे रेशे में पकड़ने का खूब साहस किया है।

वस्तुतः प्रेमचंद और रेणु जैसे बड़े और पूर्ववर्ती लेखक बोध और विचार के स्तर पर प्रभावी भूमिका निभाते हैं। लेकिन परम्परा को जिस अर्थ में रूढ़ कर दिया गया है, उस अर्थ में इसे न लेकर यदि बोध के नए बनते स्तरों, यथार्थ के नए इलाकों को अभिव्यक्त करने का कौशल, नई असहमतियों के दृढ़ होते स्वरों, प्रतिरोध के नए तेवरों और विस्तार की नई गतिशील भूमि के रूप में देखा जाए तो बेहतर तरीके से यह परम्परा समझ में आएगी और तब हर दृष्टि सम्पन्न जेनुइन लेखक कहीं न कहीं अपनी परम्परा से जुड़ा दिखेगा और उससे आगे बढ़ा हुआ भी। महान परम्पराएँ अपने जैसा हो जाने के लिए ठहराती नहीं हैं वरन आगे बढ़ जाने के लिए उत्प्रेरित करती हैं। नई जमीन तोड़ने की

भी परम्परा साहित्य की रही है, प्रतिरोध की संस्कृति रचने की भी। शिल्प के नवीनतम प्रयोग समय और जीवन के जटिलता के बरक्स बनेंगे ही। यही अपने गहरे सरोकारों में अभिव्यक्त हो कर नवीन भी होगा और प्रगतिशील भी।

जहाँ तक विचारधारा की बात है तो कोई लेखक विचारधारा से इन्कार कर सकता है विचार से नहीं। विचारधारा कई बार एक दायरे के भीतर रचनाकार को बाँध देने जैसी स्थिति में भी डाल देती है। हालाँकि सक्षम रचनाकार इसमें बँधता नहीं। वह विचारधारा को इस तरह लेता भी नहीं। विचारधारा भी जब बहुत रच पच का आती है तो रचना को समृद्ध करती है। विचारधारा की मोटी लकीरों को उठा कर रचना में बात नहीं की जा सकती है। ऐसा करने से बेहद सतही स्तर की रचनाओं का निर्माण होता है। विश्व के ऐसे महान रचनाकारों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है जो माक्सवादी विचारधारा के बावजूद कहीं भी मोटी लकीरों में बात नहीं करते। उनके यहाँ विचार इतने गहरे रचना में अनुस्यूत होती है कि रचना अपने प्रभाव को अधिक गहरा ही बनाती है। ऐसा पाठक जो विचारधारा से परिचित नहीं होता, वह भी रचना के माध्यम से यथार्थ को समझने की तरफ जाता है और इस तरह वहाँ भी रचना अपना काम सफलतापूर्वक कर लेती है। कोई भी अच्छी रचना विचार से शून्य नहीं हो सकती। विचार रचना का प्राणतत्व है। लेखक की दृष्टि उसी से निर्मित है। शिवमूर्ति जी भी विचारधारा की सीमा में न बँधते हों पर विचार से खाली नहीं हैं। उनकी रचनाओं में उनकी दृष्टि साफ दिखती है। यह दृष्टि चाहे स्त्री को ले कर हो, साम्प्रदायिकता को लेकर, राजनीति को लेकर या दलित की स्थिति परिस्थिति को लेकर। विचार से शून्य रचना अपनी कलाकारी में चाहे जितनी चमकदार दिखाई पड़े, पानी के बुलबुले की तरह वह पाठक की स्मृति में ठहर नहीं सकती। शिवमूर्ति की कहानियों में मध्यवर्ग के ट्रांजैक्शन का वह समय भी दर्ज है, जब गाँव से निकल कर युवा तेजी से निकल कर शहर की तरफ पढ़ने और कमाने गया है। वहाँ जा कर उसे गाँव कमतर, हीन, असभ्य और अपने मार्ग में बाधा की तरह दिखने लगा है। इस गाँव से आए युवा ने नए मध्यवर्ग का निर्माण किया। यहीं से तेजी से स्त्री पुरुष सम्बन्धों में बदलाव की स्थितियाँ भी तैयार हुईं। इन युवाओं ने प्रायः अपनी ग्रामीण पत्नियों को उनकी मेहनत और त्याग के बदले निर्वासन, उपेक्षा, गरीबी और अकेलापन दिया था। यथार्थ के इस विद्रूप को बहुत सफलता के साथ 'सिरी उपमा जोग' में शिवमूर्ति ने दिखाया है। उनकी अन्य रचनाएं भी यथार्थ की भयावहता को उसके पूरेपन में रचने में समर्थ दिखती हैं। उनके पास सशक्त कथा भाषा है और संवेदना से कल कल करती किस्सागोई भी, जो उन्हें अपने समय के रचनाकारों से अलग और खास बनाती है।

मोबाइल : 9911378341

वैभव सिंह

अवध की ग्रामीण संस्कृति का गहरा अंकन

शिवमूर्ति की कहानियाँ और उपन्यास हिन्दी की सबसे शक्तिशाली धारा, जो कि साम्प्रदायिकता के विरोध और जनवादी मूल्यों के पोषण से बनी है, की प्रतीक हैं। उनके कथाओं-उपन्यासों में अवध की ग्रामीण संस्कृति का बहुरूपी और गहरा अंकन मिलता है जो कहानियों से लोक के विलोपन की मुहिम को अपने बल पर स्थगित भी करता है। पर यहाँ ग्रामीण जीवन केवल प्रकृति और ऋतुओं पर केन्द्रित न होकर मुख्य रूप से ग्रामीण जनों की कठिन स्थितियों और संघर्षों के माध्यम से व्यक्त होता है। उन्होंने शहरों में आधुनिकता के संकटों को देखने के स्थान पर गाँवों में आधुनिकता के अभाव को देखा। वह विपन्नों के जीवन की केवल किताबों और शोधप्रबन्धों से जुटाई गयी। समाजशास्त्रीय सूचनाएँ नहीं रखते हैं बल्कि जीवन और यथार्थ की सीधी टक्कर से जो आवेग पैदा होता है, वही आवेग उनकी कथा-अभिव्यक्तियों में भी महसूस किया जा सकता है। यहाँ तक कि गाँव-देहात में स्थानीय बाबाओं और पीरों के नाम पर जो मेले लगते हैं और उनमें जिस तरह से गाते-बजाते, कीर्तन करते और सोहर-दादरा सुनते हुए गाँव का पूरा समाज हिस्सा लेता है, इसका बड़ा सजीव रूप कहानियों में मिल जाता है। इसी तरह उन्होंने गाँवों को केवल खतिहर किसान का पर्याय समझने के बजाए ग्रामीण संरचना में शामिल कई अन्य पक्षों जैसे स्त्री-जीवन, जातिवाद, सरकारी भ्रष्टाचार और आपसी ईर्ष्या आदि को कथानकों का आधार बनाया। उन्होंने हितों के स्तर पर किसान-जमींदारों के ध्रुवीकरण को ही ग्रामीण जीवन का एकमात्र सत्य मानने के बजाए खुद किसानों-दलितों के आन्तरिक पारिवारिक जीवन पर नजर रखी और सबसे अधिक तो स्त्रियों के उत्पीड़ित जीवन को कई कोण से प्रस्तुत करते हैं। शिवमूर्ति की एक अतिप्रसिद्ध कहानी 'तिरियाचरित्तर' है जिसमें गाँव के जीवन का यथार्थ एक साहसी पर हर तरफ से लाचार स्त्री की दारुण पीड़ा के माध्यम से बयान किया गया है। शिवमूर्ति ने कहानियों में गाँव में उत्पीड़ित स्त्री को भी केन्द्र में रखा है जिसके ऊपर हमेशा 'गीधों से देह नुचवाने' का खतरा मंडराता रहता है। उनकी 'अकालदंड' और 'कसाईबाड़ा' जैसे कहानी इस सन्दर्भ में खासतौर पर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। दोनों ही कथाओं में स्त्री के ऊपर फेंका गया धोखे का जाल है और दोनों में ही पूरी ताकत और जिजीविषा से लड़ती स्त्रियों के दीप्तपूर्ण तेजस्वी चरित्र हैं। 'अकाल दंड' में गाँव में राहत राशि बाँटने आये सेक्रेटरी हैं जो सुरजी के बलात्कार के लिए बेचैन हैं और फूट-फूटकर रोती सुरजी का चेहरा है जो सोचती है—'इस गोरी चमड़ी और दप-दप जलती रूपराशि का क्या करे वह। दुर्दिन की मार भी जिसका तेज मन्द नहीं कर पा रही है।' वही सुरजी बाद में जबर्दस्ती किये जाने पर सिकरेटरी बाबू की देह का नाजुक हिस्सा हँसिए से उड़ा देती है। उनकी नवीनतम कहानी 'ख्वाजा ओ पीर' भी गाँव के ही दृश्यों को उभारती है और नये किस्म के कथानक को सामने लाती है। कुछ आलोचकों का आरोप है कि शिवमूर्ति के साहित्य में मानवचरित्रों का संघर्ष तो है पर उनकी पराजय देखकर पाठकों के मन में हताशा ही पैदा हो सकती है। लेकिन सच यह है कि उनकी कथाओं के गाँव किसी सामूहिक क्रान्ति के रास्ते पर नहीं चलते दिखते पर उनमें चित्रित मानव चरित्र जिस प्रकार अन्याय के लेकर सहनशीलता खो रहे हैं, उससे लगता है कि इन गाँवों में सामाजिक रूपान्तरण का ऐतिहासिक चरण कहीं सन्निकट ही है।

मोबाइल : 09711312374

राहुल सिंह

इस समय के विरल किस्सागो

शिवमूर्ति इस समय के विरल किस्सागो हैं। 'न्याय की आकांक्षा' को मैं उनकी कहानियों का केन्द्रीय स्वर मानता हूँ। उनके यहाँ व्यक्ति-वस्तु और पशु जगत के प्रति मिलने वाली अतिरिक्त संवेदनशीलता उन्हें संवेदनाओं के किस्सागो के रूप में स्थापित करती है। किस्सागोई की जातीय परम्परा के कुछेक अवशेष अब भी शिवमूर्ति के यहाँ बचे हैं। उनकी कहानियों में जनजुड़ाव और जनरंजकता के तत्त्वों को कुशलता से कहानी में पिरोने का एक अनूठा कौशल है। शब्दों को पहचान सकने की उनके पास एक समर्थ दृष्टि है। शब्दों को चुनने और अपनी कथा में बरतने की उनकी अपनी तमीज है। शिवमूर्ति की भाषा में निहित बेधकता, सम्प्रेषणीयता, सांगीतिकता, चित्रात्मकता, सांकेतिकता, ध्वन्यात्मकता आदि गुणों के मूल में उनकी 'शब्द-शक्ति' के सामर्थ्य को पहचान सकने की जो क्षमता है, वह भाषा के साथ उनके एक खास रिश्ते की तस्दीक करता है। मसलन् वे मुहावरों के नहीं लोकोक्ति और कहावतों के कहानीकार हैं। यथार्थ को बहुत छोटे-छोटे वाक्यों और बहुत छोटे-छोटे क्षणों में पकड़ने की उनकी क्षमता अपने आप में अनूठी है। स्त्री के मन, संवेदन, स्वभाव, चाल-चरित्र, आचार-विचार की जो बारीक समझ उनके यहाँ बिखरी है, उसका स्त्री दृष्टि से पाठ बेहद रोचक हो सकता है। कुछेक कहानियों और तर्पण जैसे उपन्यास को मिला कर पढ़ें तो अस्सी के दशक के बाद उत्तर प्रदेश में आये दलित उभारों को उसके अन्तर्विरोधों के साथ शिवमूर्ति के यहाँ देखा जा सकता है। हमारे समय में कवियों में नरेश सक्सेना और कथाकारों में शिवमूर्ति अपने आप में एक अलग किस्म की नजीर हैं। इन दोनों ने परिमाण में अल्प किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से ऐसे साहित्य का सृजन किया है, जिसके बूते इन्होंने आज के दौर में भी बिना किसी अतिरिक्त प्रयत्न के एक दुर्लभ-सी लगने वाली ख्याति और विश्वसनीयता दोनों अर्जित की है।

मोबाइल : 09308990184

अच्युतानन्द मिश्र

निम्नवर्ग का नया सौन्दर्यशास्त्र रचते हैं

नयी कहानी के दौर में जो कहानीकार लिख रहे थे, वे कहीं न कहीं व्यक्तित्व के कोने को उभार रहे थे। चाहे वे निर्मल वर्मा हो, मोहन राकेश हो अथवा राजेन्द्र यादव हो। यहाँ तक कि शेखर जोशी के यहाँ भी करीब करीब व्यक्तित्व का उभार केन्द्र में था। वे सभी कहानीकार समाज की बात करते हुए व्यक्तित्व को ज्यादा महत्व देते हैं। अकहानी आन्दोलन व्यक्तित्व के विरोध में उभरा था। लेकिन उस समय भी केवल व्यक्तित्व का रूपान्तरण ही हो सका था, चाहे रवीन्द्र कालिया हो या ज्ञानरंजन हो। ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' में समाज के संकेत तो हैं, लेकिन कहीं-न-कहीं व्यक्ति ही केन्द्र में हैं।

सत्तर के दशक में कहानी का थोड़ा परिदृश्य बदलता है। नक्सलवादी प्रभाव हिन्दी प्रदेश में भले ही देर से आया लेकिन बंगाल और पंजाब में तो 1968-69 में दिखने लगा था। इस दौर में शिवमूर्ति जैसे महत्वपूर्ण कथाकार के चेतना का विकास हुआ। 70 के दशक में नयी कहानी और अकहानी के खिलाफ कहानी उभर कर समाने आयी। उस दौर में इस्रलाइल, रवीन्द्र कालिया, ज्ञानरंजन आदि के समान्तर दुर्लभ किस्म की कहानियाँ लिख रहे थे। शिवमूर्ति और अन्य कथाकार भी उस दौर में उभरे। उन सबके पीछे इस्रलाइल की बहुत बड़ी प्रेरणा थी। इस्रलाइल की परम्परा का विकास शिवमूर्ति के यहाँ दिखता है।

शिवमूर्ति की 'तिरियाचरित्तर' मुझे बेहद प्रिय है। 'तिरियाचरित्तर' भी एक स्त्री के व्यक्तित्व की कहानी है लेकिन यह नयी कहानी और अकहानी के व्यक्तित्व से बिल्कुल भिन्न किस्म की है। आप उस दौर की तमाम कहानियों को देख लीजिए, जिस तरह से 'तिरियाचरित्तर' में स्त्री को देखने की कोशिश की गयी है, कम से कम उस तरह से कभी किसी ने नहीं देखा है। नयी कहानी में भी स्त्री का संघर्ष था, लेकिन जो जदोज़हद शिवमूर्ति के यहाँ है, जो एक स्त्री की मिसफिट होने की कहानी है। 'तिरियाचरित्तर' शीर्षक ही

इस मिसफिट को दिखा रहा है। यह कहानी उस दौर मे लिखी गयी है जब विमर्शों की राजनीति पूरे परिदृश्य में नहीं आयी थी। 'बिमली' का जो बचपन है, उसमें भी एक खास तरह का मिसफिट है। जिस तरह से उसका प्रेम है, वहाँ भी एक खास तरह का मिसफिट है। एक तरह से सत्तर के दशक में निम्न वर्ग ही पूरी तरह से मिसफिट था। मुझे लगता है कि यह कहानी इसलिए भी अविस्मरणीय है कि उस दौर के मिसफिट को एक स्त्री के माध्यम से शिवमूर्ति सामने लाते हैं।

मुझे लगता है स्त्री चेतना और दलित चेतना को पक्षधरता की राजनीति के कारण एक खास तरह का उभार तो मिला लेकिन उसे खास अर्थों में सीमित भी कर दिया है। वह उभार दलित या स्त्री मुक्ति नहीं बन पाया। 'तिरियाचरित्तर' में स्त्री मुक्ति की बहुत जेनुइन कोशिश है और जो विडम्बना है वह इतनी तीव्र और तेज उभरती है कि एक खास तरह से अप्रासंगिक हो जाना, बहुत महत्वपूर्ण है। इस अर्थ में शिवमूर्ति एक नये तरह का अप्रोच लेकर आते हैं और वे निम्न वर्ग का एक नया सौन्दर्यशास्त्र रचते हैं।

मोबाइल : 09213166256
सुशील कुमार यादव से बातचीत पर आधारित
मोबाइल : 09718311712

नोट : ऊपर जिन लेखक के विचार हैं, उनसे निम्न प्रश्न पूछे गये थे, उन्हीं प्रश्नों के उत्तर में यह परिचर्चा तैयार की गयी।

प्रश्न-1 समकालीन कथा साहित्य में शिवमूर्ति के महत्त्व को आप किस रूप में देखते हैं? प्रश्न-2 शिवमूर्ति के लेखन का वह कौन सा पक्ष है, जो आपको सर्वाधिक प्रभावित करता है? प्रश्न-3 शिवमूर्ति किस मायने में अपने समकालीन कथाकारों से भिन्न हैं? कुछ प्रश्न पात्रों और विचारधारा से भी सम्बन्धित हैं।

ब्रजेश यादव

शिवमूर्ति के बहाने कहानी समीक्षा पर एक बहस

लिखना था हमें 'बनाना रिपब्लिक' की समीक्षा, लेकिन शिवमूर्ति और शिवमूर्ति के समीक्षकों को पढ़ने की कोशिश में हम इस नतीजे पर आ गए कि पहले शिवमूर्ति की कहानियों के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसकी खोज ख़बर देख लेनी चाहिए और इस बहाने हिन्दी कहानी समीक्षा के वर्तमान परिदृश्य की एक छानबीन की जानी चाहिए। अस्ल में, शिवमूर्ति को समझने की जो चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ हैं, उनका सम्बन्ध हिन्दी कहानी समीक्षा के वर्तमान परिदृश्य से इस रूप में है कि हिन्दी समाज के औसत कथा-बोध को कुतरने की कई गम्भीर कोशिशें चल रही हैं आजकल। यह कहानी आलोचना का संकट काल है—सिर्फ इतना कहने से हमारा काम नहीं चलेगा। ज़रूरतों के अपने-अपने अन्धेरों में मशरूफ मास्टर-नुमा कई 'समीक्षक' कहानी आलोचना के नाम पर आजकल जो कुछ लिख रहे हैं, उसकी जाँच करने का समय आ गया लगता है! हम कहना ये चाहते हैं कि कहानी समीक्षा के क्षेत्र में भी ऐसे अहम्मन्य सक्रिय हैं, जिन्हें सब कुछ 'अन्तरगत ही भावै' है। ऐसे में जरूरी है कि 'विमर्श' या 'प्राक् आधुनिकता' की तलाश के बहाने अपना 'पसन्दीदा' राजनीतिक खूंटा गाड़ने की 'चर्चित' कोशिशों को साहित्य की कसौटी पर परखा जाए ताकि फ़र्ज़ी प्यादों की शिनाख़्त की जा सके। हम कभी ये नहीं कह रहे कि पहले सब कुछ अच्छा था। प्रेमचन्द के उन 'आलोचकों' का नाम आज शायद ही किसी को याद हो जो उस दौर में 'चर्चित समीक्षा' के नाम पर गाली गलौज़ तक उतर आए थे। पाँचवें और छठवें दशक के 'व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादियों' और 'क्षणवादियों' के अन्तर्विरोध आज ज़्यादा साफ़ देखे जा सकते हैं। इसे कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम किसी व्यक्ति का मान-मर्दन नहीं कर रहे। हम चाहते हैं कि शिवमूर्ति के बहाने कहानी समीक्षा की एक मुकम्मल तस्वीर आपके सम्मुख रखने की कोशिश की जाए।

पहले प्रगतिशील समीक्षा। 'आख़िरी छलाँग' की आलोचना करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा कि विचारधारा के बिना यथार्थ का प्रवाह अर्जित नहीं किया जा सकता। इसी 'अभाव' की वजह से 'आख़िरी छलाँग' का नायक 'सकर्मकता' की दिशा में नहीं बढ़ता हुआ दिखता। विचारधारा की ओर संकेत करते हुए त्रिपाठी जी ने पहले यह सवाल उठाया कि ''पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कृषि का क्या होगा? यह गम्भीर विषय है'' और फिर यह लिखा कि ''... भारत में मज़दूर अधिकांश किसानों की अपेक्षा बेहतर या कम बुरी ज़िन्दगी जीते हैं। सामाजिक क्रान्ति के लिए मज़दूर क्रान्ति की आशा करना उचित नहीं।'' ('मंच' का प्रवेशांक, संपादक : मयंक खरे, इस अंक के अतिथि सम्पादक : संजीव)

आख़िरी वाक्य गौरतलब है। क्रान्ति की आशा करना अनुचित नहीं, मगर भारतीय सन्दर्भ में वह किसान क्रान्ति होगी, मज़दूर क्रान्ति नहीं—इस 'पोलिटिकल लाइन' के पीछे 'भाव' रूप में जो विचारधारा सक्रिय है, उसे ध्यान से पढ़ने की ज़रूरत इसलिए है क्योंकि, आप गौर करें कि हिन्दी की प्रगतिशील कहानी समीक्षा का औसत बोध यही है। यहाँ आज भी 'किसान क्रान्ति' के लिए वर्ग संघर्ष तेज़ करने की कोशिशें चल रही हैं! प्रगतिशील कहानी समीक्षक आज भी इसी 'पार्टी लाइन' से संचालित हैं। कहना न होगा कि आलोचना में यह बहुत हद तक रामविलास जी की बदौलत है। रामविलास जी के लिए सामाजिक बदलाव के संघर्ष की धुरी में किसान था और भारतीय समाज का मुख्य अन्तर्विरोध किसान बनाम ज़मींदार था। तेलंगाना और नक्सलबाड़ी में ज़मीन के बँटाईदारी के लिए 'भूमिहीन मज़दूरों' के ऐतिहासिक संघर्ष को 'किसान संघर्ष' ही समझा जाता रहा है इस 'लाइन' में। चारों कम्युनिस्ट पार्टियों के सर्वहारा बोध में जो अन्तर है, वह दिलचस्प है। सीपीएम के लेखे नक्सलबाड़ी घटित ही नहीं हुआ कभी और माओवादी, नक्सलबाड़ी का अर्थ समझते हैं कि 'बंदूक' है। 'एग्रीकल्चरल लेबरर' का सवाल नक्सलबाड़ी के साथ उठा और सीपीआई-एमएल से उठाया। सन् 67 में घटित उस विस्फोट को पचास साल पूरे होने जा रहे हैं। इस दरम्यान 1995 के बाद अब तक करीब तीन लाख किसान पूँजीवादी रीति नीति से अजीरन आ आत्महत्या कर चुके हैं। खेती किसानी का ढंग ढर्रा बदल चुका है एकदम। ऐसे में सवाल ये है कि किसानों को भूमिहीन और मज़दूर बनाए जाने की मुनाफ़ाखोर प्रक्रिया को आप देखेंगे कि नहीं? सवाल ये है कि वंचितों और भूमिहीन मज़दूरों की समानता और बराबरी के हक़ में धन-धरती के बँटवारे का सवाल सम्वेदनात्मक ज्ञानात्मक संरचनात्मक स्तर पर हमारी आलोचना दृष्टि के केंद्र में स्थान पाएगा कि नहीं? प्रश्न यह भी है कि 'नक्सलवाद' के नाम पर बे-गुनाह आदिवासियों और दलितों की हत्या करके 'सिक्योरिटी' की आड़ में पूँजीवादी मुनाफ़ाखोरी का जाल फैलाने की 'संसदीय जनतन्त्रवादी' कोशिशों को आप देखेंगे कि नहीं? सन् 91 के बाद 'वार आन टेरर' के नाम पर ला-तादाद बे-गुनाह मुस्लिम नौजवानों को फेंक इनकाउन्टर में मार डालने या जेलों में बे-वजह अनन्त काल तक बन्द रखकर सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया को पीछे ढकेलने की पोलिटिकल इकोनॉमी को आप देखेंगे कि नहीं? हम कहना ये चाहते हैं कि इन सवालों को 'किसान संघर्ष' के ही अन्तर्गत मानने की जो 'विचारधारा' है, उसमें समस्या है। उसे देखा जाना

चाहिए।

'स्वानुभूति' के तर्क से हम पूरी तरह इत्तेफाक़ नहीं रखते - मगर पूछना चाहते हैं कि नक्सलवाद को 'अतिवाद' समझने वाला समीक्षा-बोध, मज़दूरों के जीवन से सरबस खींच रही किसी रचना में यथार्थ का प्रवाह यदि नहीं देख पा रहा है तो उसके इस 'आलोचनात्मक' प्रयास को वर्गीय दृष्टिकोण से वैसे देखा जाए जिसका नतीजा ये है कि रचना लेखक की मंशा के ख़िलाफ़ खड़ी हो जा रही है-भले ही समीक्षक का इरादा ऐसा न हो! बात केवल 'आख़िरी छलाँग' की नहीं है। 2013 में भी, जब नवउदारवाद की शक्ल में पूँजीवाद अपने भयानक स्वरूप में गाँवों के चकरोट तक पसरता ही जा रहा है, ऐसे में नक्सलवाद को जब कोई 'अतिवाद' कहता है तो पूछने का मन करता है कि अगर मानवीय सामाजिक सम्बन्धों की समानता के आप सचमुच हामी हैं तो गाँव से शहर तक भूमिहीन मज़दूरों के शोषण के सवाल को छुए बगैर 'किसान क्रान्ति' को और सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया को आप किस आधार पर समझना चाह रहे हैं?

ऐसा नहीं है कि 'ज्ञानात्मक संवेदन' की ज़रूरत केवल कविता लिखने के लिए ही पड़ती है। यहाँ हम समीक्षा की बात कर रहे हैं। शिवमूर्ति को पढ़ने की जितनी कोशिशें अब तक की गई हैं, उनमें से अधिसंख्य की स्थिति यही है कि रचना को ऐतिहासिक विकास यात्रा के कैनवस पर रखकर देखा ही नहीं गया और आजकल तो मानो इसका रिवाज़ ही उठ गया है! कहना ये है कि प्रगतिशील कथा समीक्षकों को अपनी मध्यवर्गीय संसदीय सीमाओं व यथास्थितिवादी वर्णपरक अन्तर्विरोधों को ध्यान से पहचानना होगा और आज की तारीख़ में यह तभी हो सकता है जब उपर्युक्त तथाकथित 'अतिवाद' की भौतिक ही नहीं, राजनैतिक और दार्शनिक निष्पत्तियों को मज़दूरवर्गीय जीवन की बुनियाद में उतरकर समझा जाए यानी 'किसान दृष्टि' के मध्यवर्गीय अन्तर्विरोधों को रेखांकित किया जाए और कथा-पात्रों के साथ अपनी सामाजिक तदाकारिता को दुरुस्त किया जाए।

बात सिर्फ इतनी नहीं है कि आप दैनन्दिन जद्दोज़हद और बेहतरी व बराबरी की फिलॉस्फी को मिस-रीड कर रहे हैं, बात दरअसल ये है कि इस प्रक्रिया में आप एक तरफ़ राष्ट्रवाद या किसी दूसरे 'वाद' के प्रभाव में प्रगतिविरोधी स्थितियों और उसके कारक तत्वों को बरी किये दे रहे हैं, दूसरी तरफ़ उन स्थितियों को उद्घाटित कर रही रचनाओं में 'अपनी' उस विचारधारा का कल्पित 'अभाव' ढूँढ़ ले रहे हैं, जहाँ किसानों की आत्महत्या के सवाल को आगे करके सन् 91 के बाद साम्राज्यवाद के नवउदारवादी हमले के इस पूरे दौर को 'किसान समस्या' में महदूद कर दिया जा रहा है। इस 'मार्क्सवादी' तर्क को आज की कहानी समीक्षा नहीं मान सकती। प्रसंगवश यह कि प्रेमचंद के उपन्यासों पर लिखते हुए पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि बीड़ी पान में मस्त शहर के मज़दूरों की दशा ज़मींदारों से बेहतर है। त्रिपाठी जी कह रहे हैं कि ''... भारत में मज़दूर अधिकांश किसानों की अपेक्षा बेहतर या कम बुरी ज़िन्दगी जीते हैं।'' किसान और ज़मींदार एक ही कटेगरी है दोनों जगह। कहना न होगा कि इसी 'किसान दृष्टि' के आधार पर रामविलास जी ने स्थापित किया है कि उपन्यासकार के तौर पर प्रेमचन्द ने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष

में ठीक वही काम किया जो आलोचक के तौर पर रामचन्द्र शुक्ल ने किया। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि आज की कहानी समीक्षा में इन रूढ़िवादी किसान विरोधी मान्यताओं की कोई जगह नहीं हो सकती।

किसान सभा की जिस विरासत पर एक समय सीपीआई का आधार विकसित हुआ, वह किसान सभा और ख़ासतौर पर सहजानन्द सरस्वती की एक बात यहाँ उल्लेख करने लायक है। अखिल भारतीय किसान सभा के विजयवाड़ा सम्मेलन में 1944 में उन्होंने कहा-''...ऐसे अर्द्ध सर्वहारा या खेत मज़दूर जिनके पास कोई ज़मीन नहीं है या नाममात्र की ज़मीन है, ऐसे छोटे काश्तकार जो खेती करके किसी तरह ज़िन्दा रह पाते हैं और कुछ भी नहीं बचा पाते, वे ही हमारे ख्याल से किसान हैं ...।'' त्रिपाठी जी जिस किसान की बात कर रहे हैं, वह सहजानन्द सरस्वती का किसान नहीं है-इस तथ्य पर गौर किया जाए। यह अन्तर तेलंगाना और नक्सलबाड़ी के बाद और साफ़ हो गया और आज की तारीख़ में तो बे-नक़ाब होकर सामने आ गया है। त्रिपाठी जी के 'किसान' एक ओर तो सोशलिस्ट और सामाजिक न्याय वादी होते होते आजकल काँग्रेस की 'निकटतम दूरी' लब्ध करने की फ़िराक़ में हैं, दूसरी ओर सीपीआई 'किसान क्रान्ति' के संघर्ष को तेज़ से तेज़तर करते करते आजकल राजनैतिक रूप से कांग्रेस ही हो गई है! यहाँ सचमुच किसी ''मज़दूर क्रान्ति की आशा करना उचित नहीं''। हम सिर्फ इतना कहना चाहते हैं कि हिन्दी की प्रगतिशील कथा समीक्षा का सार्वकालिक अन्तर्विरोध है यह। इसकी सीमाओं को अच्छी तरह पहचानकर ही भविष्य की उस आलोचना दृष्टि का विकास हो सकेगा जिसकी 'सकर्मकता' के केन्द्र में 'नक्सलियों' व 'टेरोरिस्टों' के 'अतिवाद' और किसानों, आदिवासियों व स्त्रियों की ऐतिहासिक बेबसी व आत्महत्याओं का साहित्यिक कलात्मक मूल्यांकन किया जा सकेगा! हिन्दी समीक्षा की आलोचनात्मक चेतना को अपना वास्तविक रूपाकार ग्रहण करने में, मानना चाहिए कि अभी थोड़ा वक़्त लगने जा रहा है! मज़दूरों के जीवन पर लिखी गई कहानियों या ऐसी दूसरी रचनाओं की समीक्षा का काम तभी हो सकेगा! प्रगतिशील समीक्षकों की इसी 'किसान दृष्टि' के दबाव के चलते हाल के वर्षों में कई कहानीकारों ने 'संघर्षशील जन' के नाम पर किसानों के जीवन को केन्द्र में रखकर कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ दी हैं, जिनका भी मूल्यांकन अभी किया जाना है। भविष्य की आलोचना दृष्टि के विषय में अभी सोचने की ज़रूरत इसलिए है क्योंकि कहानी समीक्षा का एक बड़ा हिस्सा प्राक् आधुनिकता में देशज भारतीयता वगैरह तलाशते तलाशते 'जटिलतावादी' हो जाने को बेक़रार है। वे लोग आधुनिकता विरोधी ही नहीं, दरअसल मार्क्सवाद विरोधी हैं और स्वाभाविक ही अपनी कहानी व्याख्या को 'सुर' , 'लय' , 'सिम्फनी' और 'मूल' इत्यादि की तलाश तक सीमित रख रहे हैं। इन 'जटिलतावादियों' की वर्चस्ववादी राजनीतिक चालाकियों को अगर जवाब देना है तो 'किसान दृष्टि' की सीमाओं और अन्तर्विरोधों को ध्यान से पहचानना होगा।

बहरहाल, किसान को प्रायः एक ही कटेगरी मानकर कहानी समीक्षा की समस्या यह है कि राष्ट्र-निर्माण में किसान की भूमिका का मूल्यांकन करते वक़्त एक तो किसान

को सर्वहारा की जगह रखकर सामाजिक बदलाव की जिस रूपरेखा की कल्पना की जाती है वहाँ किसान और मज़दूर को आपस में गड्ड मड्ड करके किसान समस्या को उसके ऐतिहासिक भौतिक यथार्थ से अलग, अपने 'कान्सेप्चुअल मैटेरियल सेंस' से समझा जाता है, प्राइवेट प्रॉपर्टी और सरप्लस वैल्यू के प्रश्न को अन्धेरे में रखा जाता है दूसरे, नव विकसित पिछड़ावाद और दलितवाद के अस्मितावादी-मध्यवर्गीय अन्तर्विरोधों को दरकिनार कर, सारतत्व की तरह 'भूमि समस्या' को संसदीय जनतन्त्रवादी कल्याणकारी कांग्रेसी भंगिमा में इस्तेमाल किया जाता है। किसान क्रान्ति हो रहेगी तो मज़दूरों का कोई सवाल बाकी नहीं बचेगा-ऐसा मानकर चलने का अर्थ इसके सिवा क्या है कि आप किसानों के सवाल को भी ग़ैर मार्क्सवादी ही नहीं, बल्कि इतिहास विरोधी स्थिति में खड़ा कर रहे हैं। समकालीन कहानी के बदलते रूप की चर्चा करते हुए विश्वनाथ जी ने लिखा कि ''निर्विकल्प भय इतिहास का अंतिम सत्य बनकर रचनात्मक संवेदन में घुलमिल गया है। एक 'जन्मजात सत्य' बन गया है।'' (कुछ कहानियाँ कुछ विचार, राजकमल, 1998)। यह प्रगतिशील समीक्षा का उजला पक्ष है जो समकालीन यथार्थ के एक सिरे को पहचान रही है। दूसरा सिरा क्या है? कवि दिनेश कुमार शुक्ल के शब्दों में कहूँ तो–

'था छिपा किन्तु प्रतिरोध उसी जड़ता की जड़ में
जैसे चट्टानों की जड़ में जम जाता है पानी
घनी रात के वज्रद्वार को तोड़ रही थी सिर टकराकर
चोंच मारक वज्रद्वार को
संशय जैसी दिखती कोई अभिनव आस्था
धरती के दूसरे छोर पर।'

यथार्थ के इस पक्ष को 'अतिवाद' समझने वाली 'मार्क्सवादी' दृष्टि, 'जन्मजात भय' की ऐतिहासिक वास्तविकता को, अतः यथार्थ की समग्रता को पहचानने में चूक करती है, नतीजा ये कि 'निर्विकल्प भय' को भी एकांगी दृष्टि से परखती है। कहना न होगा कि कहानी समीक्षा को इस संसदीय जनतन्त्रवादी यथास्थितिवादी 'किसान दृष्टि' से आगे बढ़ना होगा।

2

यक़ीन मानिये, मैं बहुत दिन से इन्तजार कर रहा हूँ कि शिवमूर्ति को कोई दलित विरोधी कहे, लेकिन कोई कह ही नहीं रहा है! 'तर्पण' का पियारे जिस तरह पुलिस के सामने सरेंडर करता है और प्रायश्चित की बात करता है, उसे तो सरासर दलित विरोधी स्थिति माना जाना चाहिए था! बिमली (तिरिया चरित्तर) की जो दुर्दशा हुई, उसमें बिसराम को इतना कामान्ध वैसे दिखा दिया गया, दलित ऐसे कहाँ होते हैं? आख़िर प्रेमचन्द पर एक आरोप यही तो है कि उन्होंने ब्राह्मणवादी मानसिकता के चलते दलित पात्रों को निरीह और असहाय दिखाया है। शिवमूर्ति पर कोई ऐसे आरोप क्यों नहीं लगाता? इतना ही नहीं, शिवमूर्ति को आम तौर पर दलित कथाकार या दलित कहानीकार कहा–बोला नहीं

जाता, क्यों? जबकि उनकी कहानियों में दलित जीवन का जैसा चित्रण है, वैसा समूचे भारतीय साहित्य में कम ही है। सवाल ये नहीं भी हो सकता है कि समीक्षक अपने समय के अन्तर्विरोधों को पहचान पा रहा है कि नहीं, सवाल ये है कि किसी रचना की सांस्कृतिक विशिष्टता को वह पहचानेगा कि नहीं? आप जानते हैं कि ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से अलग नहीं पूछे जा सकते। अलग से पूछने की ज़रूरत इसलिए पड़ रही है क्योंकि दलित विमर्शकार किसी रचना की विशिष्टता या साहित्यिकता को 'आइडेंटिटी' के जिस फ्रेम में रखकर देखते हैं वहाँ संदर्भित विषय के ऐतिहासिक पक्ष को इरादतन इसलिए नकारा जाता है क्योंकि इतिहास का रास्ता आख़िरकार मार्क्सवाद की तरफ़ जाता है) और चूंकि बाबा साहब आम्बेडकर ने 'बताया' है कि मार्क्सवादी तो ऐसे होते हैं, वैसे होते हैं इत्यादि... इसलिए मार्क्सवाद मुर्दाबाद। कुछ विमर्शकार आजकल साथ ही साथ 'पूँजीवाद ज़िन्दाबाद' भी बोल रहे हैं या बोलने को लगभग तैयार हैं! ऐसे में, जबकि शिवमूर्ति घोषित मार्क्सवादी भी नहीं हैं तो उन्हें तो सरासर 'दलित विरोधी' कहा जाना चाहिए था! दलित विमर्शकारों के इस अन्तर्विरोध में, हम समझते हैं कि उनके समीक्षा-बोध का आगे बढ़ता हुआ वह विकसित रूप देखा जाना चाहिए जो अस्मितावाद के आग्रहों को पीछे छोड़ रहा है!

बाजार दलितों को बराबरी दे रहा है! अँग्रेज़ी देवी की पूजा करो! जैसा 'सुधार' हो रहा है, वैसे ही और 'सुधारों' की ज़रूरत है! भ्रष्टाचार है तो ग़लत मगर चूँकि दलितों को अब तक कुछ नहीं मिला है, इस रास्ते मिल रहा है तो मिलने दीजिए, फिर देखा जाएगा! जो लोग भ्रष्टाचार का विरोध कर रहे हैं, वे दलित विरोधी इसलिए हैं क्योंकि वे इसमें निहित दलित-हित को अपने सामाजिक वर्चस्व के लिए ख़तरा मान रहे हैं! संविधान में जितना कहा गया है, हम माँग करते हैं कि उतना हमें मिले। उतना मिल जाएगा तो जितना बदलाव हमको चाहिए, उतना हो रहेगा! मार्क्सवाद में बातें तो बहुत अच्छी हैं मगर 'सबकी मुक्ति' का स्वप्न बस स्वप्न ही है, कहीं वैसा हुआ नहीं, इसलिए मार्क्सवाद से दलितों का कोई भला नहीं होना है! हमको विकास चाहिए और सबसे पहले चाहिए क्योंकि हमारे साथ जो कुछ हुआ है, वह बेहद ग़लत हुआ है—इसे सब मानते हैं! मोटे तौर पर ये सब तर्क हैं जिन्हें दलित विमर्श के नाम पर रखा जा रहा है। इससे कुछ भिन्न स्वर भी हैं जैसे डॉ. धर्मवीर ('कबीर के आलोचक-1' और 'हिन्दी की आत्मा'), सत्यनारायण रणसुभे और आनन्द तेलतुंबड़े इत्यादि।

समीक्षा और समीक्षा बोध की बात करें तो अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि अपने को दलित विमर्शकार कहने वालों ने पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह की तमतमाहट ('आप कौन होते हैं हमारे बारे में बोलने वाले' इत्यादि) दिखाई है, उससे दलित साहित्य का न कोई भला होना था, न हुआ। तथाकथित 'मुख्यधारा' से प्रेरणा ले कई फतवेबाज पैदा हो लिये, सो अलग। (त्रिलोचन ने जब कहा कि 'प्रगतिशील कवियों की नई लिस्ट निकली है'-तो वे सत्ता, शक्ति और संधि के उस केन्द्र की ही आलोचना कर रहे थे जो रचना की आलोचना के बजाय तेरे/मेरे की माया से संचालित होता है।) दलित विमर्शकार अगर राजनीतिक इच्छा के अपने ही प्रतिमानों की कसौटी पर ग़ौर करें तो शिवमूर्ति उन

लेखकों में हैं जिनकी कहानियाँ दलित विमर्श की मीनिंग को उनके अपने ही रचनात्मक धरातल पर साकार करती दिखलाई पड़ती हैं और हाँ, साथ ही दलित विमर्श के नाम पर लिखी छापी जा रही रचनाओं में समाए श्रेष्ठतावादी अन्तर्विरोधों को उनकी साहित्यिक औक़ात भी बता रही हैं। दलित कथा समीक्षा को आगे चलकर हिन्दी कहानी समीक्षा का 'टोन' अगर ठीक करना है तो शिवमूर्ति की रचनाएँ उस पुल का काम कर सकती हैं जहाँ से दोनों 'फरीक़' एक दूसरे की प्रगतिशीलता और रूढ़िवाद को बेहतर देख सकते हैं। इसी रास्ते अस्मितावादी तमतमाहटों का शमन हो सकेगा और साहित्य की ठेकेदारी का पारम्परिक बिजनेस रद्द हो रहेगा! हम साफ़ कहना चाहते हैं कि हिन्दी समीक्षा को अगर शिवमूर्ति जैसों की विशिष्टता को रेखांकित करना है तो ब्राह्मणवाद के विरोध में, मगर उसी के टूल्स को यूज़ कर रहे मध्यवर्गीय दलित विमर्शकारों के श्रेष्ठताधर्मी अन्तर्विरोधों को ध्यान से पहचानना होगा। इस पीढ़ी में यह काम कैसे होगा, ये देख लीजिए। मगर इतना तय है कि हिन्दी कथा आलोचना इस कार्यभार से मुकर नहीं सकती। ज़रूरत न दया करने की है, न उपर्युक्त तर्कों को सस्ता बताकर धिक्कारने की, ज़रूरत वंचना की मनोवैज्ञानिक निर्मितियों और उसकी सांस्कृतिक प्रणाली को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की है, ज़रूरत राजनीतिक इच्छा को साहित्यिक मंशा पर थोपने की तमतमाहटों को मूल्यांकित करने की है—जी हाँ, मूल्यांकन।

शिवमूर्ति की रचनात्मक दक्षता देखनी हो तो किसी भी दलित विमर्शकार की रचना को साथ में रखकर पढ़िये। ओमप्रकाश बाल्मीकि की 'बन्धुआ लोकतन्त्र' का विषय ठीक वही है जो 'बनाना रिपब्लिक' का है। 'बन्धुआ लोकतन्त्र' में सारी सामग्री जुटा ली गई है मगर वह अस्मिता के फ्रेम से बाहर निकल सकने में असफल रह गई है। सामाजिक सम्बन्धों की संरचना और उस कार्यप्रणाली की वैधता पर सवाल उठाये बगैर आज की तारीख़ में कोई भी कहानी दलित यथार्थ को दर्ज़ नहीं कर सकती। मध्यवर्गीय दलित जीवन के अन्तर्द्वंद्व को केंद्र में रखकर अभी तक बहुत सी सफल रचनाएँ आ चुकी हैं, लेकिन उन्हें दलित रचना नहीं माना जा सकता। ओमप्रकाश जी कहाँ 'डिफर' करते हैं शिवमूर्ति से-यह देख लेना चाहिए। 'तर्पण' के बारे में लिखते हुए उन्होंने 'लमही' में कहा कि ''शिवमूर्ति ग्रामीण जीवन की जटिलताओं और विषमताओं को अभिव्यक्ति करने में सिद्धहस्त कथाकार हैं। 'तर्पण' में जहाँ वर्ण-संघर्ष है वहीं शिवमूर्ति का यह भी मानना है कि रोटी के लिए जो संघर्ष होता है, वह वर्ग-संघर्ष है, जो इज्जत के लिए होता है, वह वर्ण-संघर्ष है। इज्जत की लड़ाई रोटी की लड़ाई से ज़रूरी ज़्यादा है। (तर्पण, पृ. 26)'' (लमही, शिवमूर्ति विशेषांक, अक्टूबर-दिसंबर 2012, संपादक : विजय राय, इस अंक के अतिथि सम्पादक : सुशील सिद्धार्थ)। शिवमूर्ति ने 'तर्पण' में यह दिखाया है कि दलित किस प्रकार संगठित हो रहे हैं और किस प्रकार सवर्णों को ललकार रहे हैं कि दलित राजनीति भी उसी तरह झूठ और पाखण्ड पर टिकी है जिस तरह सवर्ण राजनीति। ओमप्रकाश बाल्मीकि 'तर्पण' में जो अर्थ अपने लिये निकाल ले रहे हैं, वह शिवमूर्ति की मंशा के एकदम उलट है। यह अपने मनचाहे निष्कर्ष को रचना पर थोपना है और अनजाने ही

सही, विश्वनाथ जी का ही अनुगमन है। मामला मगर इससे ज्यादा भी गंभीर है। ओमप्रकाश जी शिवमूर्ति को अपने अस्मितावादी बहुजनवाद में रिड्यूश ही नहीं कर रहे बल्कि रिड्यूश करके एडॉप्ट कर रहे हैं वे इस 'विमर्शपरक' प्रयास में, आइडेंटिटी पॉलिटिक्स के अन्तर्विरोधों को पहचान कर व्यवस्था की वैधता को सवाल के घेरे में खड़ा करने की ओर बढ़ रही 'तर्पण' की रचनात्मक चेतना को कुंद कर रहे हैं। बेहिचक हम कहेंगे कि यह दलित विरोधी हरकत है और यह वही ब्राह्मणवाद है जिसकी 'अनुवूफलन' प्रक्रिया के ठीक इसी धंधे के विरोध में ओमप्रकाश जी उग्रता से बोलते रहे हैं और एक हद तक सही बोलते रहे हैं। मगर यहाँ उसी 'धंधे' में स्वयं लिप्त हैं। क्या इसे 'दलितवाद' कहना चाहिए? अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों में भी उन्होंने लगातार इसी कोटि की मनमानी की है। इस तथ्य पर हमें गौर करना होगा कि 'स्वानुभूति' के साये में अस्मिता विमर्श के नाम पर चल रही दलित विरोधी हथवंफडेबाजी को रेखांकित किये बग़ैर दलित समीक्षा बोध और दलित रचनात्मकता का विकास नहीं हो सकता। शिवमूर्ति, जैसा हमने कहा कि इस प्रक्रिया में पुल का काम कर सकते हैं। 'हमको हमारे हाल पर छोड़ दो'-इस दुराग्रह का दूसरा पहलू ये है कि 'हम जो कुछ भी कहेंगे सही कहेंगे क्योंकि हम तो हम हैं'- हमारे ख़्याल से हिन्दी में दलित विमर्श के इस हास्यास्पद दैन्य पर हंसने का वक़्त अब समाप्त हो जाना चाहिए और साथ ही, दलित विमर्श की आड़ में ब्राह्मणवाद के अवसरवादी झंडाबरदारों को उनके हाल-ए-फ़िलहाल पर छोड़ आगे बढ़ना चाहिए।

कहना ये है कि शिवमूर्ति की कहानियों के विवेचन में अस्मितावादी तर्क, खासतौर पर दलित अस्मितावादी तर्क निहत्थे ही नहीं हो जाते, बल्कि उनकी सीमाएं और अन्तर्विरोध खुलकर सामने आ जाते हैं। सहानुभूति या हम लिखेंगे कि तुम लिखोगे - ये दुराग्रह निरर्थक हो जाते हैं और इन कहानियों के सम्मुख अंबेडकरवादी होने की अहम्मन्यता लड़खड़ा जाती हैं। अस्मिता के तर्क में से 'सुपीरियारिटी' वसूलने के इरादे बे-नकाब होकर रह जाते हैं यहाँ। यह उपलब्धि है और भविष्य की कथा-रचना के उर्वर बीज छिपे हुए हैं यहाँ। बाबा साहब के वैचारिक अन्तर्विरोधों को बा-अदब तसलीम करते हुए कोई रचना किस प्रकार अंबेडकरवादी हो सकती है, शिवमूर्ति के लेखन का यह सबसे उजला पक्ष है जो आज के परिदृश्य में बेहद मूल्यवान है। जबकि आप जानते हैं कि शिवमूर्ति ने अंबेडकरवादी तो क्या, कोई भी 'वादी' होने का कभी कोई दावा नहीं किया। शिवमूर्ति की कहानियों को अस्मिता के तर्क से इसलिए नहीं समझा जा सकता क्योंकि वहाँ पूँजीवादी ब्राह्मणवादी मायाजाल से टकराने की गतिशील जद्दोजहद में मानवीय चेतना के विरूपण की वर्चस्वशील कोशिशों को रेखांकित करने की कोशिश है जो साहित्य विमर्श बनकर आता है। सवाल है कि शिवमूर्ति की कहानियों में यह वैसे संभव होता है, उसकी प्रक्रिया क्या है और उसके कारक तत्व क्या हैं? इन सवालों में उलझकर ही हम उस रचनात्मक वैशिष्ट्य को रेखांकित कर सकते हैं जिसके लिए अस्मितावादी इतने दिन से तड़फड़ा रहे हैं। यह वैसे होगा, उस दिशा में विचार करने की जरूरत है।

'सेल्फ रिप्रजेंटेशन' के मांग में समस्या क्या है? जिस व्यवस्था से यह मांग की

जा रही है, उसकी उस जन-श्रम विरोधी कार्यप्रणाली पर यहाँ कोई सवाल नहीं उठता, जिसके 'कल्याणकारी' कारनामों की बदौलत यह मांग करने की नौबत खड़ी हुई है। दूसरी बात यह कि सवाल मांग से बढ़कर अगर अधिकार का है तो अपने को हमेशा 'प्रापक' की भूमिका में रखकर इस पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा 'प्रदत्त' 'संवैधानिक अधिकारों' की मांग करने के साथ ही साथ व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में बढ़ने वालों को 'दलित विरोधी' करार देकर लांछित करते हुए 'सेल्फ रिप्रजेंटेशन' की समूची स्वानुभूतिमयी तर्कपद्धति किस प्रकार खुद को शोषक खेमे में खड़ा रही है-इसे देखना होगा। हम कहना चाहते हैं कि 'सेल्फ रिप्रजेंटेशन' का सवाल है मगर साहित्य के संदर्भ में, और यक़ीनन समाज के संदर्भ में भी, वह केवल आरक्षण की मांग तक महदूद नहीं हो सकता। यह मांग भी की ही जा सकती है मगर 'व्यक्तिवादी' मध्यवर्गीय आग्रहों से लैस 'दलितवादी' 'प्रतिनिधि', शोषण की पूरी प्रक्रिया को जानबूझकर इसलिए नहीं देखना चाहते क्योंकि यह रास्ता समग्र व्यवस्था परिवर्तन के विचार की तरफ़ जाता है-जिधर जाने से डॉक्टर अंबेडकर ने 'मना' किया है। 'हमको हमारे हाल पर छोड़ दो'-यह एक व्यक्तिवादी मांग है और निश्चय ही दलितविरोधी भी परंतु इसमें जो अविश्वास है, उसके ठोस भौतिक कारण रहे हैं और हैं—भविष्य की कथा समीक्षा को इस 'अविश्वास' की ऐतिहासिक 'भूलों' को ध्यान से पकड़ना होगा।

नीलाक्षी सिंह के कहानी संग्रह 'जिनकी मुट्ठियों में सुराख था' की समीक्षा लिखते हुए प्रो. राजकुमार ने कहा कि ''इन कहानियों की पहली उल्लेखनीय विशेषता, (जिसका जिक्र दूसरे लोगों ने भी किया है) वह है कि हिन्दी-जगत में पसरे राजनीतिक आग्रह से ये कमोबेश मुक्त हैं। मुक्त जरूर हैं, लेकिन निरपेक्ष नहीं। इस तरह नीलाक्षी अपनी कथा रचना के लिए ऐसा स्पेस खोजती हैं, जो उनका अपना स्पेस है। दूसरे संकलन तक आते आते कोई रचनाकार अपने स्पेस की पहचान करने में सफल हो जाए, यह अपने आप में बड़ी बात है। असल में अपने स्पेस की पहचान अपना सुर पकड़ लेने से आती है। बड़े बड़े रचनाकारों को अपना सुर पकड़ने में काफी समय लगा। कई कई फाल्स स्टार्ट के बाद वे अपना सुर पकड़ पाये। इस दृष्टि से विचार करें तो नीलाक्षी सिंह अपनी शुरुआती कहानियों में ही सही सुर लगाती-सी दिखती है। शायद ही कोई कहानी ऐसी हो जिसमें कच्चापन दिखता हो। वे भरसक प्रयास करती हैं कि उनकी कहानियों में कोई कोर-कसर न छूटे। इनके नये संग्रह को भी पढ़कर यही लगता है कि भाषा के प्रति वे बेहद सचेत हैं।'' (नई किताबों की दुनिया, विशेषांक, नया ज्ञानोदय, मई 13, पृ 102-03)।

इस तरह की समीक्षा पढ़कर जी ऊग-बीग हो उठता है। इसे समीक्षा, आलोचना या विवेचन या क्या कहना चाहिए, आप देख लीजिए। संपादक की ओर से 'समीक्षा' लिखा गया है। समीक्षक के 'सुर-बोध' और 'निरपेक्ष-पकड़' का कहानी से कोई वास्तविक सम्बन्ध हो ही, यह आवश्यक नहीं भी हो सकता है! राजकुमार जी कहानी आलोचना के लिए 'देशज प्रतिमान' स्थिर किये जाने की दिशा में प्रयासरत हैं! उनके लेखे कहानी यदि 'सोद्देश्य' हो गई तब तो वह 'यथार्थवादोत्तर यथार्थवादी' आख्यान रचने में विफल हो ही जाएगी, सामाजिक संदर्भ का तेल अगर कहीं तैरता हुआ दिख गया कहानी की

सतह पर, तब तो वह बे-शक साक्षात उस बोरे की तरह ही होगी जिसमें यथार्थ-रूपी कच्चा माल भरा है। (कहानी पच्चीस साल की, राजकुमार, तद्भव 24, आख्यान पर एकाग्र अंक)।

उद्देश्य, यथार्थ और संदर्भ के प्रश्न को स्थिर, ठहरे हुए, एकायामी और कई बार रचना से असंबद्ध मनमाफिक 'सुर' में लगातार 'सुनने' का हश्र यह है कि पिछले कुछ वर्षों में ऐसे समीक्षकों की पूरी एक पीढ़ी ही विकसित हो चुकी है। इनकी सामान्य विशेषता यह है कि ये सब के सब कला को और किसी भी कलात्मक गतिविधि को आधुनिकता (उनके लेखे समूचा पश्चिमी ज्ञान-तन्त्र की चौहद्दी से बाहर निकालना चाहते हैं और इस काम के लिए समीक्षा के 'देशज प्रतिमान' विकसित किया चाहते हैं। मकसद ये है कि साहित्य और कला को भौतिकवादी और विशेषतः मार्क्सवादी चिन्तन पद्धति से जितना शीघ्र वि-मुक्त करा लिया जाए, उतना ही बेहतर। इस 'देशज-आधुनिक' 'निरपेक्ष' 'अपने स्पेस' का, 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और 'क्षणवाद' के सिवा 'नियति' और 'जन्म-मृत्यु के शाश्वत प्रश्नों' से कोई तआल्लुक हो न हो) अंधविश्वास और कर्मकांड से यकीनन कोई वास्ता नहीं है, इसमें कोई दो राय नहीं। 'हिन्दी जगत में पसरे राजनीतिक आग्रह' का अर्थ है मार्क्सवादी चिन्तन की तथाकथित 'निश्चितता', 'सोद्देश्यता' और 'कार्य-कारण सम्बन्ध' इत्यादि। सबको पता है कि मार्क्सवादी पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि वह किसी भी तरह की निश्चितता का सिरे से विरोधी है। डायलेटिक्स का मूल ही है-'निगेशन ऑफ द निगेशन' और 'यूनिटी ऑफ द अपोजिट'। तो बात निश्चितता की नहीं है। यह एक आरोप है जो काफी पुराना है और इसके पीछे की वर्चस्ववादी 'कलात्मक' मंशा से हम सब वाकिफ हैं। किसी भी रचना या विचार को किसी भी किस्म की कान्सेप्चुअल 'निश्चितता' से मुक्त होना चाहिए-यह एक आधुनिक स्थिति है, इसमें मार्क्सवादोत्तर या यथार्थवादोत्तर जैसा कुछ नहीं है। फिर 'राजनीतिक आग्रह' क्या है?

एक उदाहरण और देखें। 'नया ज्ञानोदय' के लंबी कहानी विशेषांक में एक कहानी को इंट्रोडक्शन कुछ यूं दिया गया है-''दस उपशीर्षकों में रची गयी कहानी 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे' विषमताओं-विसंगतियों के बीच रागात्मक सम्बन्धों की सिम्फनी है। अनुभवों की उजली और धूसर पगडंडियों पर चलते चलते हमारे समय में प्रेम, अस्मिता और निर्णय से जुड़े प्रश्न किन बर्बर इलाकों में जा पहुंचे हैं, यह कहानी उन्हें प्रत्यक्ष करती है। 'कथ्य अपना शिल्प स्वयं चुनता है'-इसका सार्थक उदाहरण देते हुए प्रस्तुत कहानी मानवीय संवेदना के कई नवीन शक्ति-स्रोत उद्घाटित करती है। यथार्थ और कला के सहमेल की सार्थकता बुनती कहानी 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे' इसी नाम से बनी एक सुखान्त फिल्म के विलोम में समाप्त होती है। ... और जहाँ से एक बड़ी सहभागिता की शुरुआत होती है।'' (पृ. 154)।

यह संपादक की ओर से कहानी का 'इंट्रोडक्शन' है जिसमें 'सुर-वादी' समीक्षा दृष्टि की सिम्फनी, ज़ाहिर है कि खुलेआम बज रही है। (कहानी में क्या है, उस विस्तार में जाने की ज़रूरत ही क्या है!) स्थिति की गंभीरता को यहाँ से देखा जाना चाहिए कि

आज की तारीख़ में इतनी महत्वपूर्ण पत्रिका की ओर से किस कहानी को रचनात्मक और कलात्मक माना जा रहा है और क्यों, किस कसौटी पर? ये रचना विरोधी हालात आख़िर वैसे निर्मित हो गए कि यथार्थोत्तरवादी यथार्थवाद के नाम पर, निश्चितता विरोध के नाम पर, सोद्देश्यविहीनता के नाम पर, देशज मानकों की तलाश के नाम पर अनाप-शनाप तमाम अ-संबद्ध प्रलाप थोक में पेश किये जा रहे हैं? आख़िर किसके लिये बज रही है यह सिंफनी, जिसे संपादक सुन रहा है या फिर समीक्षक? हद तो यह है कि संपादक जो 'लाइन' दे रहा है, समीक्षक उसी को 'एक्सप्लोर' कर रहा है और दोनों तरफ 'अहो रूपं अहो ध्वनि' के जश्न चल रहे हैं। सनद रहे कि इन समीक्षकों में अधिसंख्य मास्टर-नुमा लोग हैं जो मोटी मोटी पगार उठा रहे हैं। सवाल ये है कि आख़िर वह कैसा 'राजनीतिक आग्रह' है जिसके ख़िलाफ़ 'मानवीय चेतना के नवीन शक्ति स्रोत उद्घाटित' करने की ये 'जुगलबंदी' चल रही है?

इस सवाल को स्पष्ट करने के लिए एक उद्धरण और। 'आख्यान पर एकाग्र' अंक (24) के संपादकीय में तद्भव संपादक अखिलेश ने लिखा-''इस प्रकार मार्क्सवाद भी बदलाव, परिवर्तन के अविराम इरादों को रखते हुए भी अन्ततः मनुष्य और सभ्यता को एक प्रकार की निश्चयात्मकता से घेर देता था। उसके पास इन्सान और समाज की नियति, समस्याओं, प्रश्नों के लिए दृढ़ तथा तय जवाब थे। ... क्योंकि यहाँ यथार्थ की पूर्वनिर्मिति को अंदरूनी तौर पर रद्द नहीं किया गया था। ... कुल मिलाकर कहें तो यह वह समय है जब आधुनिकता संदिग्ध हुई है तो मार्क्सवाद को भी उसकी निश्चयात्मकता की किलेबंदी से मुक्त किया जा रहा है। ... स्थिति यह है कि लोकतन्त्र, विकास, उदारीकरण, राज्य, राष्ट्रवाद, संस्कृति, विज्ञान, समाजवाद सरीखे आधुनिकता मार्क्सवाद से जन्मे पद पहले की भांति चमकदार, महान और रोमांचक नहीं रह गए हैं। नई सभ्यता की चुनौतियों ने इनके अर्थ को प्रश्नांकित ही नहीं कर दिया है बल्कि कुछ हद तक इन सभी को समस्याग्रस्त बना डाला है। अतः इनके नये पाठ किये जा रहे हैं और अब हम अपनी उपलब्धियों पर बीसवीं सदी की तरह इतरा नहीं सकते। इसलिए भी कि इन गौरवशाली उपलब्धियों के अन्तर्विरोधों और अवसान के अध्याय आये दिन उजागर हो रहे हैं। फिर वैसे मुमकिन है कि उक्त परिदृश्य का सृजनात्मक रूपांतरण करने वाले समकालीन आख्यान का स्वरूप पुराना ही बना रहेगा!''

नया आख्यान चाहिए-इससे कोई मतभेद नहीं। मगर नई सभ्यता की चुनौतियां क्या हैं और आधुनिकता क्यों संदिग्ध हो गई है-इन प्रश्नों का जवाब तो चाहिए होगा! आधुनिकता की अगर कोई 'उपलब्धियां' हैं, तो वे क्या हैं-ये भी देखना होगा! मार्क्सवाद की 'निश्चयात्मकता' की अफवाह को आख़िर कब तक ढोया जाता रहेगा? और सोवियत संघ की विफलता को मार्क्सवाद का अवसान वैसे समझा जाना चाहिए-यह स्पष्ट होना पड़ेगा? समाजवाद तो दुनिया में कहीं आया नहीं अब तक, मगर लोकतन्त्र की चाह तो इस देश के और दुनिया के दो तिहाई से अधिक लोगों की आँखों में अब भी चमक रही है-इसका क्या होगा? विज्ञान केवल हाइपोथिसिस मात्र नहीं है, दुनिया बदल दी है उसने, ठोस भौतिक उपलब्धियां हैं उसकी-इसकी भी कोई समझ चाहिए होगी? प्रश्न ये है कि

जो नया आख्यान चाहिए, उसमें किन प्रश्नों को रचना की विषय वस्तु बनाया जाएगा, वर्ग की कोई चेतना वहाँ काम करेगी कि नहीं? आधुनिकता के साथ समता और बराबरी के जो प्रश्न उठे, वे भी संदिग्ध हो गए हैं क्या? उनके बारे में क्या राय है? मानवीय चेतना के विरूपण की मुनाफ़ाखोर कोशिशों को नये आख्यान में जगह मिल सकती है क्या? दुनियाभर में नवउदारवाद के साम्राज्यवादी कारनामों की तरफ़ से आँख मूंदकर सन् 2014 में आप किस युग की किस सभ्यता की कौन सी नई चुनौती का सामना करना चाह रहे हैं? आख़िरी बात ये कि 'हम न किसी के विरोध में हैं, न किसी के समर्थन में'- इस 'निरपेक्षता' की राजनीतिक सापेक्षता पर विचार किया जाएगा कि नहीं?

अस्ल में, वर्ग जैसी तथाकथित 'स्थिर' कोटि के सिवा दूसरी किसी भी कोटि से इन सवालों को समझने की कोशिश उन निष्कर्षों की ओर ले जाती है जहाँ औपनिवेशिक ज्ञान मीमांसा की इकहरी व्याख्या से उद्भूत 'जटिल' प्रश्न उठाये जाते हैं और यह सब आधुनिकता और विशेषतः मार्क्सवाद की 'निश्चयात्मकता' या 'सोद्देश्यता' के विरोध के नाम पर सामासिक कोमलकांत पदावली में किया जाता है। नतीजा यह कि 'आलोचना जगत से वास्तविक जगत तक जो पगडंडी' निकलती है, उस रास्ते 'आधुनिकता-पूर्व भारतीय आख्यान परंपरा से संवाद' स्थापित करके कबीर को गांधी की परंपरा का वैष्णव सिद्ध कर दिया जा सकता है! (देखें, पुरुषोत्तम अग्रवाल, अकथ कहानी कबीर की, राजकमल प्रकाशन)। कबीर 'न किसी के विरोध में थे, न किसी के समर्थन में'- इस 'पोजीशन' की रेटोरिक की तह में जो राजनीतिक मंतव्य सक्रिय है, उसे ध्यान से देखने की ज़रूरत इसलिए है क्योंकि वहीं से इस 'जटिलता-वाद' का उद्भव हो रहा है जो शोषण को एक 'विचार' बता रहा है, सत्य को 'विचारधारात्मक निर्मिति' मान रहा है और वस्तु के सत्य को विचार के सत्य से अलग मान रहा है। आलोचक की राजनीतिक मंशा दृष्टव्य है। जिस किताब ('अकथ कहानी') को लेकर कबीर कबीर गाया जा रहा है कि इसमें तो 'कबीर और उनके समय' की 'अद्भुत' व्याख्या कर दी गई है, उस किताब में एक तरफ़ समता और बराबरी को 'निश्चित' कोटि साबित कर रद्द करने के मकसद से कबीर को उनकी कविता और उनके वास्तविक ऐतिहासिक किरदार के ख़िलाफ़ खड़ा कर दिया गया है दूसरी ओर, तथाकथित सभ्यता-संवाद के बहाने 'जटिल' व 'धर्मेतर' प्रश्नों को आलोचना के केंद्र में स्थापित करने की कोशिश की गई है। तथाकथित किसी 'स्थिर' कोटि के बहाने दरअसल समूची भौतिकवादी चिन्तन पद्धति का विरोध कर रहे ये 'देशज' समीक्षक, आधुनिकतावाद के रास्ते मार्क्सवाद को 'निश्चिततावादी' साबित करके वास्तव में ऐसी किसी भी मुक्तिकामी दार्शनिक प्रणाली को रद्द करना चाहते हैं। सनद रहे कि वर्ग को एक विचार मानकर, शोषण को एक परिकल्पना मानकर ही मानवीय सामाजिक सम्बन्धों की समता के प्रश्न को 'स्थिर' माना जा सकता है और फिर इस 'मान्यता' को साबित करने के लिए कबीर को कबीर के ख़िलाफ़ खड़ा किया जा सकता है। हम साफ़ शब्दों में कहना चाहते हैं कि यह फासिस्ट टेंडेंसी है, जिसके प्रति ख़बरदार होने की ज़रूरत है। मार्क्सवाद अगर एक 'निश्चितता वादी' विचार है (जो कि दरअसल वह है नहीं) तो बेशक

यह एक आधुनिक विचार है, पूँजीवाद विरोधी विचार है और निश्चय ही इस दौर का, इस युग का विचार है। अफ़सोस के साथ कहना पड़ रहा है कि 'अकथ कहानी' को पढ़ने की अब तक जितनी कोशिशें की गई हैं, उनमें से केवल एक-जी हां, केवल एक शोधार्थी ने उस किताब की शासकवर्गीय मंशा को पढ़ने का प्रयास किया है। बाकी 'समीक्षक' अपने अपने भजन कार्य में या तुम/ताम में मुब्तिला हैं! उस लेख में अग्रवाल जी की 'स्कॉलरशिप' पर ही, एक नहीं कई गंभीर सवाल उठाए गए हैं जिनका उन्होंने अब तक कोई जवाब नहीं दिया है। (देखें, मार्तण्ड प्रगल्भ का लेख, आलोचना 46)

बात ये नहीं है कि ये 'जटिलता-वादी', कला या कलात्मकता पर बहस को केंद्रित करना चाहते हैं। ऐसा होता तो भी गनीमत थी। इनका यथास्थितिवादी एजंडा क्या है? मुक्तिबोध ने 'व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादियों' की मरम्मत करते हुए 'समीक्षा की समस्याएं' में लिखा : ''अतएव, उन्होंने एक ही साथ, या एक के बाद एक, काव्य के विशेष पैटर्न, कला व्याख्या, कलाकार का धर्म, सौन्दर्यानुभूति का सिद्धांत, आधुनिक भावबोध तथा उससे जुड़ी हुई सभ्यता समीक्षा, लघु मानव सिद्धांत, तथा अन्य-जो संभवतः मुझे इस समय याद न हो-इन सबको उपस्थित किया। साम्यवादी-प्रगतिवादी प्रभाव का मूलोच्छेद-इस प्रधान लक्ष्य से ये सारे सिद्धांत अनुप्राणित रहे। और यह साफ़ साफ़ दिखाई देने लगा कि लेखकों के मस्तिष्कों पर, उनके मन-प्राणों पर, अधिकार जमाने के लिए लड़ाई लड़ी जा रही है, अर्थात भिन्न प्रकार की जीवन-व्याख्या उनके हृदय में मूलबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है।'' (रचनावली खंड 5, राजकमल, 1998, पृ. 161)। हम कहना चाहते हैं कि वह 'लड़ाई' अब नए दौर में आ गई है। वामपंथी आंदोलन के अन्तर्विरोधों ने, मार्क्सवाद विरोधी शासक वर्गीय शक्तियों को यथार्थ की 'भिन्न प्रकार की जीवन-व्याख्या' करने और उसे 'हृदय में मूलबद्ध' करने के खुले अवसर उपलब्ध करा दिये हैं-खासतौर पर नव उदारवाद की बढ़ती के इस 'लेट' साम्राज्यवादी चरण में। देशज आधुनिकता या प्राक् औपनिवेशिक आधुनिकता सम्बन्धी बहसों को 'व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद' का नवउदारवादी देशज अवतार समझना चाहिए। पचास साल में 'कलात्मक' अहंकार का विकास कहाँ तक हुआ-यह दर्शनीय ही नहीं, प्रदर्शनीय भी है!

इस जटिलता-वाद के 'डेवलपमेंट' में नव-उदारवाद की क्या भूमिका रही-इस सवाल और संदर्भ को बहुचर्चित किस्म के कई कथाकारों / कवियों ने अपनी-अपनी रचना का विषय तो बनाया ही है, उनके 'कच्चापन-विहीन पक्के' 'सुर' को 'चर्चित' समीक्षक लगातार 'सुनते' भी आ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि ये सब काफी मेहनत कर रहे हैं। ये लोग देश, काल, भारतीयता, शाश्वतता, नियति, जन्म, मृत्यु वगैरह की ही कोई 'व्यक्तिगत' व्याख्या इत्यादि ही कुछ करते तो भी इनकी चाटपंथी को किसी तरह सहा जा सकता था। लेकिन इन्हें मालूम है कि व्याख्या और विश्लेषण में जाने का मतलब है तर्क, विज्ञान, विचार और इतिहास के दायरे में जाना। समस्या यह है कि इतिहास का विरोध या किसी प्राक् ऐतिहासिक स्थिति परिस्थिति का आकलन प्राक्कलन भी ऐतिहासिक बोध के बगैर संभव नहीं। यहाँ आकर इन लोगों का सब कुछ गड्ड-मड्ड हो जाता है और कोमलकांत

पदावली में की गई सारी 'कलाकारी' एक्सपोज़ हो जाती है। पॉम मोरिस से लेकर हेडन वाइट तक किन्हीं विदेशी विद्वानों के नाम यत्र-तत्र गिराना ये लोग अनिवार्य इसलिए मानते हैं क्योंकि इससे उनके 'परंपरा-बोध' का प्रमाण मिलता है!

साहित्य का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है बशर्ते यह स्पष्ट हो कि समीक्षा के नाम पर (और कहानी / कविता के नाम पर भी) जो कुछ लिखा पढ़ा जा रहा है, उसका सम्बन्ध किससे है? रचना व्याख्या से मुक्त हो सकती है, राजनीति से मुक्त हो सकती है, समाज से ही नहीं, साहित्य से भी मुक्त हो सकती है-पर तथाकथित समीक्षक उसके जिस यथार्थवादोत्तर रूप-वस्तु की ओर इशारा करना चाहता है वह क्या है, वह किससे संबद्ध है, उसके सींग-पूंछ के बारे में आख़िर कुछ तो बोलना चाहिए उसे! आपको हैरत होगी कि पचीस साल की कहानियों के बारे में 54 पेज लिखने वाले एक 'जटिलतावादी' समीक्षक (प्रो. राजकुमार) ने लेख भर में कम से कम आधा दर्जन दफ़ा इस वाक्य को दुहराया है कि जगह की कमी पड़ रही है वरना लिखकर ये बता देता कि रचना में वह क्या है जिसे नया आख्यान समझना चाहिए-जिसमें यथार्थवाद का 'उत्तर' रूप 'प्रकट' हुआ है जो आधुनिकता-पूर्व भारतीय आख्यान परंपरा से विचार-विहीन आस्था-विश्वास के साथ खटाखट 'संवाद' कर रहा है! दिलचस्प ये है कि उस लेख में शिवमूर्ति की भी दो कहानियों को 'टिपिकल' मानते हुए विवेचन के लिए चुना गया है। दोनों कहानियों में आधुनिकता का समस्याग्रस्त रूप और यथार्थ व आदर्श से मोहभंग 'देख' लिया गया है। कहानी के 'सत्य' से इस विवेचन का कोई सम्बन्ध नहीं। समीक्षा का उद्देश्य पहले से नियत है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में व्यापे भ्रष्टाचार को 'देशज भारतीय आख्यान परंपरा' के 'जटिल' तर्क से आधुनिकता की समस्या साबित कर देना है!

'परम्परा और आधुनिकता' शीर्षक निबंध में 1967 (कल्पना) में सुरेंद्र चौधरी ने लिखा ''देश के बढ़ते हुए संकट के कारण विचार-क्षेत्र में एक ओर जहाँ ह्रासोन्मुख, पतनशील, आत्मकेंद्रित धारणाएं पनपी हैं, वहीं दूसरी ओर विद्रोह की वास्तविक ज़मीन भी तोड़ी गई है। ऐसी स्थिति में समकालीन न केवल पराजय, अंधकार, विघटन और निराशा की वैचारिक परिस्थिति से घिरा है बल्कि उसके भीतर गहरे आत्मसंघर्ष के परिणामस्वरूप संघर्ष करती हुई आस्था, सामाजिक विद्रोह, स्वतन्त्रता और आंतरिकता की धारणाएं भी साथ साथ विकसित हुई हैं और क्रमशः विकसित हो रही है। इन्हीं कुछ वर्षों में वर्ग-संघर्ष में भी तेज़ी आई है। व्यक्ति का संकट सामाजिक संदर्भ और आयाम ग्रहण कर रहा है। यह प्रक्रिया हमारे लिए ऐतिहासिक महत्व की है। बिना इस ऐतिहासिक प्रक्रिया पर ध्यान दिये आधुनिकता का स्वरूप निर्मित नहीं किया जा सकता। वैसी 'आधुनिकता' इतिहास के सर्वथा बाहर की चीज़ हो जाएगी।'' (इतिहास : संयोग और सार्थकता, संपादक : उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, 2009, पृ. 47)

सुरेंद्र चौधरी का वैशिष्ट्य यही है कि वे 'देख' रहे थे, जो उनकी आँख के सामने घट रहा था। 50 साल बाद भी जिन्हें आधुनिकता का अर्थ नहीं 'दिख' रहा है तो इसके कोई 'धर्मेतर' कारण नहीं हैं। मध्यवर्गीय अप-कर्मों के जाल में फंसे लसे समीक्षक की

सामाजिक आर्थिक विवशता का भी एक पहलू है, मगर प्वाइंट यहाँ है कि जो लोग ये तर्क दे रहे हैं कि 'यथार्थ सिर्फ एक व्याख्या है', 'यथार्थ आधुनिकता की पूंजीवादी परियोजना की निर्मिति है', हम बहुत कड़ुवाहट से कहने की इजाजत चाहते हैं कि वे इस समाज के अघाये-मोटाये हुए लोग हैं। 'काहू से दोस्ती, न काहू से बैर'-समीक्षा की इस मुद्रा का जो सार्वजनिक चरित्र है, वह इस दौर में ही नहीं किसी भी दौर में साहित्यिक नहीं हो सकता वह प्रगतिवाद विरोधी हो, वह यथार्थवाद विरोधी हो-ये उसकी मज़बूरी ही नहीं, उसके जीवित रहने की शर्त है। बात ये नहीं है कि पूर्व-आधुनिक भारतीय आख्यान परंपरा से वर्तमान रचनाशीलता का संवाद हो सकता है कि नहीं, बात ये है कि आपकी लेखकीय आस्था का मुँह किधर है, आपके लिए प्राइमरी कंट्राडिक्शन क्या है? बिमली (तिरिया चरित्तर) की अकुलाहट को अगर आप समझना चाहते हैं तो आपको यह जानना पड़ेगा कि 1971 के बाद इस देश में बलात्कार के मामलों में 79% की बढ़ोत्तरी हो गई है तो क्यों हो गई है। 'अकालदंड' की सुरजी सिकरेटरी से मुलाक़ात के समय हंसिये को अपनी साड़ी में छुपाकर क्यों ले गई-यह आप तब तक नहीं बूझ सकते जब तक आपको ये न मालूम हो कि इस देश में हर 22 मिनट पर बलात्कार क्यों हो रहे हैं और आज भी 42% बच्चे कुपोषित क्यों हैं? जग्गू (बनाना रिपब्लिक) की मोटरसाइकिल से चलने की ललक और बड़े लोगों की तरह उठते-बैठते नमस्कार लेने की चाह को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक सत्ता और संसाधनों के बंटवारे की लड़ाई को और वंचना के उस दर्द से तदाकार न हुआ जाए जिसका औचित्यबोध ही नहीं, संस्कृतिबोध और समाजबोध भी भ्रष्ट हो चुका है। इसीलिए हमने कहा कि कथा समीक्षा के क्लास सेंस को दुरुस्त होने में अभी समय लगने जा रहा है। बात सिर्फ इतनी नहीं है कि तेलंगाना और नक्सलबाड़ी के विद्रोह में समाई हुई आधुनिकता को आप देख रहे हैं कि नहीं, बात ये है कि आप इस समय की पूरी तस्वीर को देखेंगे कि नहीं? व्यक्ति के संकट और पराजय बोध को आधुनिकता की समस्या बताकर मार्क्सवाद को संदिग्ध साबित करने की कोशिश से 'ह्रासोन्मुख, पतनशील और आत्मकेंद्रित' उसी धारणा को बल मिलता है जो बे-दख़ली (एक्सक्लूज़न / एलियनेशन) के भरोसे जीवित है-जो 'आख़िरी छलांग' के पहलवान से उनकी स्वाभाविक जीवनचर्या छीन रही है, जो केशर (केशर-कस्तूरी) से उसका यौवन-जीवन छीन रही है, जो कबीर से उनकी कविता छीन रही है, जो मनुष्य से उसकी अस्मिता और रचनात्मकता छीन रही है। छिनैती के इस पेशे को समीक्षा में भी कुछ लोग आगे बढ़ाना चाहते हैं। ख़बरदार!

पहले हम शिवमूर्ति के एक अर्थपूर्ण वक्तव्य को याद करना चाहते हैं। उनका कहना है कि 'विचारधारा को मूलबिंदु बनाकर कहानी का ढांचा खड़ा करना मेरे लिए संभव नहीं है'। (कथादेश, 2003) यह और इसी तरह की कुछ बातें हैं जिनके कारण शिवमूर्ति की कहानियों में विचारधारा का 'अभाव' देखना आसान हो जाता है! शिवमूर्ति का सयानापन यह है कि 'मूलबिंदु' का तर्क सामने रखकर एक तरफ़ वे तटस्थ व निरपेक्ष दिखना चाहते हैं और दूसरी ओर, अनचाहे ही सही, अपने रचनात्मक अन्तर्विरोधों को ढंकना चाहते हैं।

शिवमूर्ति में, सच पूछिए तो जो 'अभाव' है वह मध्यवर्गीय अवसरवाद के प्रति मुकम्मल तौर क्रिटिकल न होना है, पर इसे विचारधारा का अभाव नहीं कह सकते! आप देखें कि यह 'डिमांडवादी' आलोचना के आतंक से उपजा वक्तव्य है, जिसका विचारधारा से या मार्क्सवाद से कोई लेना देना नहीं है। असल में लंबे समय तक हिन्दी साहित्य में इस अफ़वाह का बोलबाला रहा है कि मार्क्सवादी समीक्षक तो विचारधारा का फीता लेकर मूल्यांकन करने बैठते हैं! प्रगतिशील समीक्षा के जो अन्तर्विरोध हैं, उसकी जड़ें रूढ़िग्रस्त मध्यवर्गीय नैतिकताबोध से पोषण प्राप्त करती रही हैं सर्वहारा की मुक्ति के प्रश्न को वे जिस औसत 'किसान दृष्टि' से परखते रहे हैं, समस्या उस कान्सेप्चुअल टूरिस्ट मैटेरियल सेंस में है जो (सिम्पल हीगेलियन निगेशन से संचालित होने के कारण) किसी भी यथार्थवादी रचना को 'संसदीय जनतन्त्र' की यथास्थितिवादी चौहद्दी से बाहर नहीं देख पाता!

शिवमूर्ति की रचनात्मक चेतना की निर्मिति में उक्त 'अफ़वाह' और भाववादी 'किसान दृष्टि' की अ-याचित मिलावट के कारण जो रसायन तैयार हुआ है वह अपराधबोध और आत्मसंघर्ष की जिस गतिमान प्रक्रिया में है : एक जनविरोधी जीवन यापन पद्धति में फंसे और अपने 'एलियनेशन' (करना कुछ और था, कर कुछ और रहे हैं) से वाक़िफ़ शिवमूर्ति अपनी वंचित पृष्ठभूमि के बूते जानते हैं कि बदलाव की वास्तविक ज़रूरत कहाँ है और गड़बड़ाव का वास्तविक स्वरूप क्या है। '' ...दलितों के प्रति सहानुभूति ... मैं स्वयं से प्रश्न करता हूं कि मेरे लेखन में क्यों नहीं है। जबकि सामाजिक या आर्थिक रूप से मेरा वर्गहित कहीं भी दलित उभार के आड़े नहीं आता। 'पिछड़ा' भी हूं, भूमिहीन भी हूं। और बचपन से सवर्णों की ज्यादती झेलता, भोगता, देखता भी रहा हूं। मुझसे उपयुक्त व्यक्ति कौन था इस उभार और विरोध को वाणी देने वाला? फिर क्यों मैं दोयम प्राथमिकता वाली समस्याओं में मगन रहा?'' (वही) यह जो छटपटाहट है, यह मध्यवर्गीय नैतिकताबोध की नाली से उपरौछती चली आई है लगातार, इसी ने शिवमूर्ति को कथाकार बनाया है। इसमें कोई शक़ नहीं कि यह अपराधबोध और आत्मसंघर्ष विचारधारात्मक है और 'सकर्मक' है। सकर्मकता, विरोध और संघर्ष में नहीं, उस सर्जनात्मक दृष्टि में है जो सामंती संस्कारों के तार से बुने मध्यवर्गीय अवसरवाद के जाल में फंसे अपने युग के 'ऑल टाइम ट्रुथ' को पहचानने को व्याकुल रही है। शिवमूर्ति के यहाँ जो 'अभाव' है वह अवसरवाद के पहचान की सत्यता में नहीं, उसकी अधूरी व्याख्या में है यानी मध्यवर्गीय नैतिक बोध में है। 'संसदीय जनतन्त्र' के 'कल्याणकारी' रूप पर उनका ईमान अभी भी क़ायम है क्योंकि अवसरवाद की पोलिटिकल इकोनोमी का सवाल उनके विचार क्षेत्र के दायरे में नहीं आता इसलिए सामाजिक स्थिति का जो रूप खुद उनकी कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है वह इतिहास (स्ट्रक्चर) का प्रश्न नहीं बन पाता, सो यथास्थिति (जिसे दोयम प्राथमिकता की समस्या कह रहे हैं) बरक़रार रहती है और जैसाकि त्रिपाठी जी कह रहे हैं कि तमाम 'सांस्कृतिक उल्लास' के बावजूद सामाजिक बदलाव की दिशा का कोई लेखकीय संकेत नहीं मिलता! 'बनाना रिपब्लिक' में भी है व्याख्या का यह अधूरापन, जो किसी विचारधारा के अभाव की वजह से नहीं, संसदीय जनतन्त्र की यथास्थितिवादी चौहद्दी

से बाहर न देख सकने की वजह से है। मानना चाहिए कि यह इस युग का सत्य है। (समीक्षा में यही कॉमन सेंस आजकल बहुमत में है।) मगर इस कहानी में जो उलटबांसी सृजित हुई है, उस जंक्चर को शिवमूर्ति की रचनात्मकता के साथ साथ हिन्दी कथा रचना के समकालीन युगबोध में और उसके टोन में इस समय सुना जाना चाहिए-इसलिए भी कि यह एक ग़ैर दलित द्वारा लिखी गई दलित कहानी है। संसदीय जनतन्त्र की राजनैतिक व्यवस्था को लीप पोतकर दुरुस्त कर देने से सुरजी और बिमली की दुनिया में दरअसल कोई बदलाव नहीं होने जा रहा है-'बनाना रिपब्लिक' में पहली बार शिवमूर्ति इस दिशा में बढ़ते हुए दिखलाई पड़ रहे हैं। इस दलित रचना के ऐतिहासिक महत्व को और शिवमूर्ति की कलात्मकता को, अपने अन्तर्विरोधों के साथ आगे बढ़ने की जद्दोज़हद को यहाँ से देखा जाना चाहिए।

शिवमूर्ति की कहानियों में बेदख़ली और निहत्थे होते चले जाने का जो रूप स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, वह 'मूलबिंदु' की तरह विचारधारा केंद्रित इसलिए नहीं लगता क्योंकि वह मानवीय नियति का प्रश्न बनकर भी संरचना (इतिहास) के सवाल को टच नहीं करता-'बनाना रिपब्लिक' में पहली बार इस तरह की कोशिश दिखलाई पड़ी है। उनके यहाँ यथास्थिति है मगर औरों से अलग। शिवमूर्ति की रचनाओं में आप देखें कि भूख कोई समस्या नहीं है। क़फ़न के घीसू-माधव की तरह भुजी हुई आलू खाने का संघर्ष नहीं मिलेगा उनकी कहानियों में। बेघर नहीं है कोई उनके यहाँ। इसके बावजूद वे बड़े कथाकार हैं तो उनकी कला कहाँ है? शिवमूर्ति की रचना प्रक्रिया में जो 'अबूझ' तत्व है, उसका स्रोत कारण वास्तव में क्या है-जिसे पढ़ने के अब तक के समस्त समीक्षकीय प्रयास कमोबेश अ-पर्याप्त साबित हुए हैं और जिसका फायदा उठाकर इस तरह का वक्तव्य देकर वे कवि त्रिलोचन की तरह उलझाव बढ़ाते रहे हैं-देखने की बात यह है। उनकी कहानियों के पात्र जिस प्रकार निहत्थे होते जाने की प्रक्रिया में तिल तिल बेबसी भोगते हैं-वहाँ प्रतिरोध-विहीनता का यंत्रवत सामंती सामाजिक ढर्रा ही विकासमान है, वहाँ अभी आधुनिकता के आने में कसर ही नहीं है बल्कि कई मौकों पर तो मध्यकालीनता को ही सयान जवान होते हुए 'रंगे-हाथ' पकड़ लिया गया है। वहाँ लेखक से किसी संघर्ष-वादी 'सकर्मकता' की तवक्को, पार्टी की 'मांग' को आगे रखकर अपनी भाववादी कसौटी पर कथात्मक अभिव्यक्ति का अधिमूल्यन करना है। ध्यान दें कि रामविलास जी समीक्षा की इस 'मार्क्सवादी' 'पद्धति' के सार्वकालिक उस्ताद हैं। पोलिटिकल लाइन की इस 'डिमांड' के कारण शिवमूर्ति की रचनाओं में जो 'अभाव' है, वह समीक्षा की 'पकड़' से अक्सर बाहर रह गया है। जो सही बात है कि कई मौक़ों पर सेंसुअस मैटेरियल सेंस की ज़मीन इसलिए छोड़ देता है क्योंकि 'व्यक्तिवादी किसान दृष्टि' के कारण शिवमूर्ति यथार्थ को 'संसदीय यथास्थितिवाद' से आगे नहीं देख पाते। अस्मितावादियों की तमतमाहट का दबाव और लगछुआही का असर भी देखा जा सकता है यहाँ! एक नुक़्ता यह भी है कि वे सांस्कृतिक संगठन की भूमिका को राजनीतिक संगठन से 'प्राइमरी' मानते हैं। (देखें, समकालीन जनमत 16-30 नवंबर 1994 में शिवमूर्ति का वक्तव्य 'अभी तो हम मुस्तैद

पिछलग्गू भी नहीं हैं')।

शिवमूर्ति की रचनात्मक चेतना में वर्गीय और किसान दृष्टि में जो द्वंद्व है, कल्चरल और पोलिटिकल के बीच जो उठापटक है, विचारधारा के मूलबिंदु से दूर रहने की जो मंशा है, यह सब मिलकर आप देखें कि जिस अन्तर्विरोध को गठित कर रहे हैं, वहीं रचनाकार के 'डी-क्लास' होने का एक मोंमेट घटित हो रहा है! अपने अनुभव व सामाजिक तादात्म्य से शिवमूर्ति जानते हैं कि इंडियन स्टेट द्वारा किसान मज़दूर को निहत्था करने की जो प्रक्रिया है, वह वैसे चल रही है। इसके ख़िलाफ़ एक छटपटाहट लगातार देखी जा सकती है उनकी कहानियों में, जो उपरौछती चली गई है उनकी समूची रचनात्मकता में; इस छटपटाहट के द्वंद्व और दबाव में शिवमूर्ति जब जब छोटे किसान के अपने मध्यवर्गीय बोध से बाहर निकल सके हैं, यानी संरचना की वैधता चिन्तन के दायरे में आ सकी है, वहाँ-वहाँ आप देखें कि एक कुदान या छलांग का सृजन हुआ है, जिसे चाहें तो सरेंडर भी कह सकते हैं। तिरिया चरित्तर और बनाना रिपब्लिक में यह कुदान उलटबांसी में तब्दील हो गया है तो रचनात्मक विस्फोट हो गया है। 'आख़िरी छलांग' में वे असफल रह गए हैं। बिमली को दागे जाने के साथ ही वह सामाजिक व्यवस्था अपनी समूची पाशविकता के साथ सरेआम बे-पर्दा हो जाती है-एक और महाभारत घटित होता है। ये है 'तिरिया चरित्तर' के अन्त का महत्व। बिमली की चीख़ व असहायता में जो बेबसी और निहत्थापन है, वह अर्द्ध-सामंती नैतिकता बोध में ऊभ-चूभ अवध का युग सत्य इसलिए बन जाता है क्योंकि सरेंडर के दूसरे छोर पर जो तिलमिलाहट उपजती है, वह हमारी समूची वैवाहिक व्यवस्था के अस्तित्व का ही नहीं, बल्कि स्त्री की नियति का सवाल बनकर खड़ी हो जाती है। कहानी जिस 'सर्जनात्मक नाट्य क्षण' (विश्वनाथ त्रिपाठी) को घटित करने के लिए सिरजी गई है, वह यही है। बिसराम जिस पितृसत्तात्मक सामंती मूल्यबोध का केस है, उसका चरित्र जिस तरह विकसित हुआ है, वह पर्सन की हद को लांघकर संरचना का प्रश्न बन सका होता-अगर शिवमूर्ति मध्यवर्गीय यथास्थितिवाद से आगे देख पा सके होते तो, अगर उनके यहाँ वर्गीय दृष्टि और किसान दृष्टि का गड्ड मड्ड न होता तो! यहीं से विचारधारा के 'मूलबिंदु' से दूर रहने का वक्तव्य उपजा है! लेखकीय छोर के इस 'अभाव' को ढंक देती है पाठकीय छोर की तिलमिलाहट- कहन की छलांग व उलटबांसी की बदौलत। 'सिरी उपमा जोग' में लालू की माई का चरित्र भी पर्सन को ट्रांसेंड नहीं कर पाता। इस 'अभाव' के बावजूद ग्रामीण स्त्री के स्वाभिमान और प्रतिरोध को अपने रचाव के बूते कहानी जिस ऊंचाई पर दर्ज़ करती है, वहाँ एक तरफ़ स्त्री विमर्श का एक नया वरक़ खुलता है दूसरी तरफ़ शिवमूर्ति की कहानी कला के उस 'अबूझ' तत्व का निदर्शन होता है जो अपने ही अन्तर्विरोधों को सॉल्व करने यानी 'डी-क्लास' होने की प्रक्रिया से पोषण प्राप्त कर रहा है। अपने युग के 'ऑल टाइम ट्रुथ' को, मनुष्य की नियति को पकड़ने पहचानने की यह जो गतिमान कोशिश है, समीक्षा को अपनी सामर्थ्य बटोरकर उसे देखना होगा।

'बनाना रिपब्लिक' में इसी बिंदु पर शिवमूर्ति का विकास हुआ है। बाऊ साहब

जग्गू के जुलूस में अपने घर से जाकर शामिल न हुए होते तो वह कहानी दूसरे धरातल पर खुलती। प्रधान बनने के बाद रोज़ सौ लोगों का सलाम लेने और बेटे की शादी में मोटरसाइकिल पाने का स्वाभाविक उछाह-यह सब कुछ जग्गू और उसके साथी उसी 'लोकतांत्रिक' व्यवस्था के सम्मुख सरेंडर किये दे रहे हैं जिसके 'कल्याणकारी' कारनामों की ब-दौलत आज भी वे सब दोनों वक़्त की रोटी पानी के लिए जूझ रहे हैं। इस सरेंडर पर ध्यान दीजिए। यह छलांग यक ब यक देखिए तो युक्ति की तरह लगेगा लेकिन इसे कथाकार की कला ही कहनी चाहिए कि वह रचना के समूचे विन्यास में भिनकर नहीं आता, कहानी के अन्त में अचानक आकर अचूक वार करता है और अखर जाता है। यह कुदान या सरेंडर कई बार ज़िद की तरह भी लग सकता है। 'तिरिया चरित्तर' में बिमली को अन्त में दागे जाने को विश्वनाथ त्रिपाठी 'कहानीकार की जिद' ही मानते हैं। लेकिन यह कहानी की नहीं, समीक्षा की समस्या है।

हम कह रहे हैं कि बात 'जिद' मानने या छूट देने की नहीं है। मसला ये है कि लेखक की आस्था किधर है, उसकी 'कलाकृति के अन्तर्तत्व किस दिशा में धावित प्रधावित हैं' (मुक्तिबोध), उनका मुंह किधर है? घटित क्या हुआ? सवाल यहाँ है। समीक्षक उस सर्जनात्मक क्षण को किन्हीं आग्रहों / दुराग्रहों के वशीभूत नहीं देख रहा या नहीं देखना चाहता तो ... ''कह सकते हैं शिवमूर्ति ने अपने जीवन में ऐसा कोई विद्रोह (नक्सलबाड़ी या तेलंगाना जैसा) देखा ही नहीं और वे अपने अनुभव से बाहर नहीं जाना चाहते''... 'आख़िरी छलांग' में 'विचारधारा के अभाव' का यही कारण बताया है विश्वनाथ जी ने। (देखें, मंच का प्रवेशांक, वही)। क्या यही निष्कर्ष खुद त्रिपाठी जी के लिए नहीं निकाला जाना चाहिए कि उन्होंने अपने सामाजिक अनुभव में किसी को दागे जाते हुए देखा कि नहीं? वे हमारे बुज़ुर्ग हैं। बात ज़बान लड़ाने की नहीं है। बात यह है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति को विश्लेषण का आधार मान रही प्रगतिशील समीक्षा का क्या होगा? अमरकांत की कहानियों में तर्कहीनता, असुरक्षा और संत्रास की मार्मिक अभिव्यक्ति विषमता के ख़िलाफ़ लड़ने की छटपटाहट पैदा करती है। शिवमूर्ति चूंकि रेणु की तरह 'उपेक्षित और आर्थिक रूप से शोषित जन की उत्सवधर्मिता आंकते हैं', 'मोहक समृद्ध संस्कृति के चितेरे' हैं, 'आधारभूत अन्तर्विरोध' को देख ही नहीं पाते इसलिए 'तिरिया चरित्तर' के अन्त में 'ज़िद' करते हैं और 'आख़िरी छलांग' में 'विचारधारा के अभाव' के उत्तरदायी ठहरते हैं! क्या इन्हीं 'ऐतिहासिक' तर्कों की बुनियाद पर शिवमूर्ति की विचारधारात्मक आस्था व नैतिक बोध का मूल्यांकन किया जाएगा? सवाल ये है।

जग्गू का जुलूस चकरोट से घूमकर जब उसके घर की ओर चल दिया तो शिवमूर्ति अपना आख़िरी रदा रखते हैं। बाऊ साहब भी अपने घर से जाने का विवश हुए और गए ही नहीं मिठाई खाए, पानी पीये और नाचने भी लगे। और कहानी ख़त्म। मगर कहानी ख़त्म कहाँ होती है-यह जो सत्ता परिवर्तन हुआ, इस सत्ता परिवर्तन का दलित-मुक्ति के स्वप्न से क्या वास्ता? यहाँ कहानी शिवमूर्ति की मंशा के आगे चली जाती है कि इस रास्ते तो समानता और बराबरी का ख़्वाब पूरा होने से रहा? यह जो लूट खसोट मचाएगा

तो कुछ दूसरे लोगों को दलित बनाएगा। ये तो कुछ बदला ही नहीं। क्या यूं ही देवता बदलने के लिए बरसों से जारी है यह जानलेवा जद्दोजहद? समस्या तो उस समूची पूजा प्रक्रिया में है, उस सामाजिक संरचना में है-वंचना जिसकी नियति है! परिवर्तन तो यहाँ होना था! सवाल सीट रिजर्व होने और प्रधानी जीत जाने का ही नहीं है-कहानीकार का 'विचारधारात्मक' पक्ष यहाँ एकदम स्पष्ट है। मगर ठीक इसी बिंदु पर हम कहना चाहते हैं कि जग्गू के मध्यवर्गीय अवसरवाद की जो आलोचना कहानी में की गई है : चुनाव जीत सकने में असमर्थ' जग्गू कहता है-''अरे गरज पड़ने पर गदहे को भी मामा कहना पड़ता है ... समझदारी दुनियादारी तो वही कुर्सिया सिखा देती है चाचा, गदहा भी उस पर बैठते ही आलिम फाजिल हो जाता है''। तीनों छात्रों का कहना है कि सवर्णों का राज बहुत दिन रह लिया, अब सौ पचास साल हमारा भी राज चले। ''हम भी जाने कि जगह ज़मीन पर मालिक़ाना हक़ मिलने का सुख क्या होता है''। ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं और इस समय के वास्तविक प्रश्न हैं। कहानी में शिवमूर्ति इन दोनों सवालों से जिस तरह किनाराकशी करते हैं, और कहानी का अर्थ-क्षय करते हैं, वह देखिए कि कैसे? शिवमूर्ति के ही कहे को पकड़ें तो कुर्सी का अर्थ यूं उलट जा सकता है : '' ... आलिम फ़ाजिल भी कुर्सी पर बैठते ही गदहा हो जाता है''। लेखक के कहे में बैठनेवाला महिमामंडित किया जा रहा है जबकि दूसरे वाक्य में कुर्सी ठगिनी बनकर उभरती है। सवाल ठगिनी को काबू में करने का है या उससे छुटकारा पाने का-यहाँ अपनी ही बात को अधूरी छोड़ देता है लेखक क्योंकि वह 'संसदीय जनतन्त्र' के रास्ते सामाजिक बदलाव की राह देख रहा है! यह 'किसान दृष्टि' का कमाल है! मसला 'मालिक़ाना सुख' का नहीं है, वह तो चाहिए ही, मसला उस सुख को अर्जित करने की प्रक्रिया का है जो गदहा बदलने से लब्ध नहीं हो सकता! ज़रूरत कुर्सी बदलने की है, जबकि शिवमूर्ति गदहा बदलने की फ़िराक़ में हैं! वैसी बात है ये? इसीलिए हमने कहा कि 'बनाना रिपब्लिक' में अस्मितावाद और 'सेल्फ रिप्रजेंटेशन' की राजनीति की जो आलोचना है, वह प्रतीकात्मक है। बात ये नहीं है कि आप विचारधारा के 'मूलबिंदु' से दूर रहना चाहते हैं, बात ये है कि आप अपनी ही बात को पूरा करेंगे कि नहीं, पूरी बात कहेंगे कि नहीं? जग्गू ठाकुर को ठगने की फ़िराक़ में है जबकि ठगा वह खुद रहा है- इस 'उलटबांसी' में जो सर्जनात्मक क्षण समाया है वह स्पष्ट है यथार्थबोध का अधूरापन, यहाँ है कि वह खुद वैसे ठगा रहा है- इस सवाल का जवाब रचने का मौक़ा कथानक फोड़कर निकाला तो गया है कहानी में, मगर उसका सदुपयोग नहीं किया जा सका। सत्ता परिवर्तन होने के बावजूद दरअसल अपरिवर्तित सामाजिक व्यवस्था के बदलाव की किसी वास्तविक दिशा का संकेत करने से भी बचकर मध्यवर्गीय लेखक ने राजनैतिक किनाराकशी का जो 'अवसर' सृजित किया है, वह दलित जीवन पर लिखने वाले इस दौर के सभी लेखकों की औसत समस्या है। हम कहेंगे कि यह यथार्थबोध से बढ़कर लेखक की आस्था और नैतिकताबोध का सवाल है, इसलिए गंभीर है और निजी के अर्थ में व्यक्तिगत नहीं हो सकता। मज़दूरों के जीवन से सरबस खींच रही रचनात्मक चेतना उक्त दोनों प्रश्नों से बचकर निकल ही नहीं सकती

आज की तारीख़ में! यह अन्तर है।

हम सिर्फ इतना ही कहेंगे कि यह रास्ता उत्तरआधुनिकता के राजनीतिविरोधी नाबदान की ओर जाता है जिधर निश्चय ही शिवमूर्ति नहीं जाना चाहेंगे! अस्मितावाद का फेर नहीं है उनके यहाँ, मगर 'स्वानुभूति' और 'हमको हमारे हाल पर छोड़ दो'-'सेल्फ रिप्रजेंटेशन' की इन तमतमाहटों का द्वैध है उनके यहाँ-अवक्षेप रूप में ही सही! शायद यही वजह है कि सत्ता परिवर्तन के बावजूद 'बनाना रिपब्लिक' में आइडेंटिटी पॉलिटिक्स के अन्तर्विरोधों को व्यवस्था परिवर्तन की मालिक़ाना हक़ विरोधी दिशा में ले जाने से बच लिए हैं शिवमूर्ति। जबकि इसके लिए वे छटपटाते रहे हैं लगातार। यही अधूरापन है।

यथार्थ को इसके बजाय कोई और नाम दे दीजिए, बात ये है कि युग के जिस अन्तर्विरोध को आप दर्ज़ करना चाहते हैं उसके सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक पहलू, उस देश दशा के ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पक्षों से अलग या ऊपर / नीचे करके मूल्यांकित नहीं किये जा सकते। यहाँ एक पक्ष को अगर दूसरे के तर / ऊपर किया जाएगा -चाहे वह जिस किसी भी राजनीतिक सामाजिक आग्रह / दुराग्रह / नैतिकताबोध की बुनियाद पर किया जाए तो वह फांक, रचना में 'बनकर' रहेगी और रचनाकार के गहन सामाजिक तादात्म्य के बावजूद, 'दिखकर' भी रहेगी। इस 'संसदीय' फांक को शिवमूर्ति की रचना में भी देखा जा सकता है और विश्वनाथ त्रिपाठी की आलोचना में भी। त्रिपाठी जी का आग्रह 'बाहरी' है इसलिए वह अनर्थ निकाल बैठता है जबकि शिवमूर्ति का द्वैध 'आंतरिक' है, इसलिए रचनात्मक हो जाता है। रचना का अर्थ और सौन्दर्य यहाँ 'सकर्मकता' की ओर बढ़ने में नहीं, बल्कि उस मध्यवर्गीय संवेदनात्मक मूल्यबोध को रेखांकित करने की कोशिश और उससे उबरने की छटपटाहट में है जो शिवमूर्ति की रचनाओं में लगातार विकासमान है-'तिरिया चरित्तर' से 'आख़िरी छलांग' तक। 'बनाना रिपब्लिक' में यह पहली बार प्रतीकात्मकता से आगे बढ़कर संरचना यानी इतिहास का प्रश्न बनता दिखा है। हम कहना चाहते हैं कि 'सेल्फ रिप्रजेंटेशन' के सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक पक्ष को उसके राजनीतिक ऐतिहासिक पहलू से ऊपर/नीचे रखने का शिवमूर्ति का यह द्वैध (वर्गीय दृष्टि बनाम किसान दृष्टि) और उससे उबरने की गतिशील जद्दोजहद, वंचित समुदाय से आने वाले और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों की करनी से वाकिफ़ एक सच्चे लेखक की रचनात्मक दुविधा है जिसकी कलात्मकता गौरतलब है। मुझे यह भी कहने दीजिए कि यह इस युग की अभिव्यक्ति है और कहानी एक वास्तविक प्रश्न को उठाने के लिए जूझ रही है। त्रिपाठी जी दरअसल इसी 'विचारधारा' को कहानियों में फलते फूलते देखना चाहते हैं मगर पार्टीलाइन के आगे 'विवश' हैं।

यहाँ शिवमूर्ति के संदर्भ में सामाजिक तादात्म्य के प्रश्न को हम नहीं उठा सकते मगर इतना ज़रूर कहना चाहते हैं कि दोनों तरफ़ मोमबत्ती जलाने की जो मध्यवर्गीय तिकड़म है, उस जीवन यापन पद्धति में आपादमस्तक डूबे रहकर इस दौर में ही नहीं, किसी भी दौर में मज़दूर और किसान के सवाल को रचना के केंद्र में जमाया भले ही जा सके मगर भाववादी अन्तर्विरोध से उसे बचाया नहीं जा सकता। समीक्षा की जो समस्या

है, वह मनचाहे निष्कर्ष निकालने की आलोचकीय प्रक्रिया में है जो बहुत सी बारीकियों के कलात्मक उद्घाटन के बावजूद एक ओर मज़दूर की अ-संभाव्यता के निष्कर्ष से संचालित होकर कहानी (आख़िरी छलांग) का कु-पाठ कर डालती है दूसरी ओर प्रगतिशील कथा समीक्षा के भाववादी विचलन का सबूत बनकर वास्तविक यथार्थ बोध की ऐतिहासिक व्याख्या के 'निश्चितता-वादी' दुष्प्रचार को पनपने का मौका देती है। हिन्दी की कहानी आलोचना को अब इस मध्यवर्गीय रूढ़िग्रस्त समीक्षा बोध से आगे बढ़ना चाहिए। हमारे जैसे नवागंतुक के लिए यह किंचित हैरत की बात है कि हिन्दी की कहानी समीक्षा का क्लास सेंस (मूल्य बोध) अभी भी करेक्ट होने की अपनी प्रक्रिया में रूढ़िवादी (कलावादी और आदर्शवादी) झाड़ झंखाड़ को ही ठीक से साफ़ नहीं कर सका है।

शायद यही वजह है कि लेखक संगठनों से अपने सम्बन्ध के बारे में शिवमूर्ति का कहना है कि मामा लोगों के अलग अलग हो जाने के बाद जैसे हमने नाना के यहाँ ननिहाल जाना छोड़ दिया, उसी तरह से समझिए कि सबके साथ हूं मगर किसी भी लेखक संगठन में नहीं हूं। (नई समीक्षा, जनवरी 2006, संपादक : सतीश जमाली)। शिवमूर्ति सब जगह समादृत हैं तो क्यों हैं-समीक्षा इस तरह के सवालों का अगर सामना करना चाहती है तो उसे 'अतिवाद' और 'किसान दृष्टि' सम्बन्धी अपने प्रचलित यथास्थितिवादी दृष्टिकोण को करेक्ट करना पड़ेगा। यह तभी संभव है जब वह आज की तारीख़ में 'नक्सलवाद' और 'आतंकवाद' की प्रभुवर्गीय जनविरोधी जालसाजी को समझे, इतिहास-वाद के अतिरेकों और सामान्यीकरण के ख़तरों से बचे। कहना न होगा कि इसी रास्ते अपनी कहानियों में इस युग के स्त्री, दलित और मज़दूर के 'ऑल टाइम ट्रुथ' को पहचानने की कोशिश कर रहे शिवमूर्ति की कलात्मक विशिष्टता को रेखांकित किया जा सकता है।

युवा समीक्षक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख और समीक्षाएँ प्रकाशित।
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से शोधरत।
सम्पर्क : 231, सतलज छात्रावास, जे.एन.यू., नयी दिल्ली-110067
मोबाइल : 9868770101

❑❑❑